राजस्थान का सन्त-साहित्य

2014

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

राजस्थान
का
सन्त-साहित्य

2014

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक

वीना लाहोटी

R.A.S.

(निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

ग्रन्थाङ्क – 206

राजस्थान का सन्त-साहित्य

(राष्ट्रीय संगोष्ठी मार्च 1993 के शोधालेखों का संकलन)

सम्पादक

डॉ. वसुमती शर्मा

डॉ. कमल किशोर सांखला

प्रकाशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR

2014

मूल्य : 206/-₹

पी.डब्ल्यू.डी. रोड, जोधपुर
फोन : 2430244

◆ **प्रथम संस्करण :** 500 प्रतियां, 2002

◆ **द्वितीय संस्करण :** 500 प्रतियां, 2014

◆ **मुद्रक :**
राज्य केन्द्रीय मुद्रणालय, जयपुर

निदेशकीय

भारतीय सन्त परम्परा धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से प्राधान्य रही है। यहां के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रर्वतकों ने जनमानस में भक्तिधारा का प्रवाह किया जिसमें राजस्थान के अनेक सन्तों एवं सम्प्रदायों का प्रमुख योगदान रहा परिणामस्वरूप यहां मध्यकाल में भक्ति साहित्य लेखन की अभिवृद्धि हुई। इसी के दृष्टिगत सन् 1993 में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई। राष्ट्रीय संगोष्ठी में पठित आलेखों को 'राजस्थान का सन्त साहित्य' नामक पुस्तक के रूप में विभाग द्वारा सन् 2002 में पुरातन ग्रन्थमालान्तर्गत प्रकाशित किया था।

शोध अध्येताओं एवं साहित्यिक अभिरूचि वाले पाठकों में पुस्तक की मांग बढ़ी परिणामस्वरूप पुस्तक का प्रथम संस्करण अनुपलबध हुआ। विभाग द्वारा 'राजस्थान का सन्त साहित्य' पुस्तक का द्वितीय संस्करण पुनर्मुद्रित कर शोधोत्सुकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्‍वास है कि पुनर्मुद्रित पुस्तक शोध जगत एवं पाठकों के लिए निश्‍चय ही ज्ञानवर्धक रहेगी।

निदेशक
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

निदेशकीय

हिन्दी साहित्य के विविध कालों की विवेचनान्तर्गत आदिकाल उपदेश-बाहुल्यता पर काव्यत्वन्यूनता, रीतिकाल विषयवासना व श्रृंगारिकता-सम्पृक्त तो आधुनिककाल प्रकीर्ण वैचारिकताग्रस्त दृष्टिगोचर होता है। मात्र भक्तिकाल ही जीवनोपयोगी जीवनादर्श से ओतप्रोत, आत्मशुद्धिपरक, वैचारिक गंभीरता से ओतप्रोत है, जहाँ भक्ति एवं ज्ञान की गंगा नामदेव, सूर, तुलसी, नन्ददास, मीराँ, रसखान, हितहरिवंश एवं कबीर आदि ने प्रवाहित की है। यही कारण है कि डॉ. श्यामसुन्दरदास ने इस काल को हिन्दी साहित्य का **'स्वर्णकाल'** कहा है।

भक्तिकाल (1375-1700 वि.सं.) की सगुणधारान्तर्गत रामकृष्ण की भक्तिपरक कृतियाँ हैं, तो निर्गुणत्व के वाचक सूफी एवं सन्तों की रचनाओं में निर्गुण ब्रह्मोपासना, रूढ़्याडम्बर-उन्मूलन, जात-पाँत विरोध के साथ-साथ सरल लोकभाषा एवं पारिभाषिक शब्दावली में वैष्णव-नैतिक-सिद्धांत, औपनिषदिक निर्गुणवाद, बौद्ध-साधकों के पारिभाषिक शब्द, सूफियों की प्रेम-साधना एवं रहस्यवाद व इस्लाम से प्रभावित एकेश्वरवाद का सम्मिश्रण है।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार उत्तर भारत में भक्तिमार्ग को रामानन्द लाये थे और सौभाग्य से उन्हें कबीर जैसा अनुयायी मिल गया। पद्मपुराण के उत्तर-खण्ड के अनुसार भक्ति का जन्म द्रविड़ प्रदेश है, किन्तु डॉ. नगेन्द्र अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण सन्तों की विचारधाराओं के बीज नाथ कवियों की रचनाओं में देखते हैं।

डॉ. प्रेमीराम मिश्र ने अपनी संरचना हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल में प्रतिपादित किया है कि महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय में सन्त साहित्य की सभी विशेषताएं कबीर से पूर्व में ही मिलती है। महाराज सोमेश्वर, 1127 ई., चक्रधर

महाराज (शाके 1194), नामदेव 1267 ई., ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई तथा इनसे पूर्व जन्मे भक्त जयदेव का नाम लिया जा सकता है, जो गीतगोविन्दकार से भिन्न हैं। रामानन्द, कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना, अनतानन्द, नरहरि, जम्भनाथ, हरिदास, निरंजनी, सींगा, लालदास, दादूदयाल, बाबालाल, सुन्दरदास, मलूकदास आदि अनेक सन्त कवियों का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने इसे अप्रतिम विश्व साहित्य बना दिया है, जहाँ ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की शाश्वत त्रिवेणी प्रवाहित है।

मार्च, 1993 में विभाग द्वारा जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय तथा नगर निगम, जोधपुर के सहयोग से सन्त-साहित्य की राष्ट्रीय संगोष्ठी में 40 प्रमुख विद्वानों ने अपने आलेखों का पठन किया। इनमें कतिपय आलेख सगुणोपासना के भी हैं। मुझे उम्मीद है कि सुधी पाठक निर्गुण-सगुण के ऊहापोह में न पड़कर साहित्यानन्द का आस्वादन करेंगे। निस्संदेह कई आलेखों में आपको खासतौर पर राजस्थानी सन्त-साहित्य पर अभिनव जानकारी मिलेगी। समग्ररूपेण न सही, अगर कुछ आलेख भी नवीन ज्ञातव्य के संवाहक सिद्ध होते हैं, तो विभाग अपने श्रम को सार्थक मानेगा।

वीना लाहोटी
आर.ए.एस.

सम्पादकीय

आध्यात्मिक पुरुषार्थ की पराकाष्ठा को भक्ति में सन्निहित मान वेदों को भक्ति के आदि स्रोतों के रूप में स्वीकार किया गया है। **'ईश्वर के प्रति परमानुराग'** को शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का लक्षण माना गया है- **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** परमेश्वर में अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पण की उत्कट आकांक्षा को 'भक्ति' के रूप में शास्त्रों में परिभाषित किया गया है। भारतीय दर्शन भगवान् के साक्षात्कार हेतु भक्ति को 'परम-तत्त्व' मानते हैं तथा वस्तु के यथार्थ ज्ञान हेतु अनन्य भक्ति की आवश्यकता पर बल देते हैं।

आत्मदर्शन हेतु ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग को वर्णित किया गया है। उपनिषदों का उद्देश्य भक्ति के द्वारा ज्ञान की तथा ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करना ही है। पुराण, शास्त्र-कर्मयोग, ज्ञानयोग के साथ भक्तियोग पर विशेष जोर देते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा भक्त उद्धवजी को श्रीमद्भागवत् में उपदेश देते हुए कहा गया :—

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।

जिसका अभिप्राय है कि कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनों के द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोग के द्वारा वह सब अनायास प्राप्त कर लेता है।

सगुण से निर्गुण भक्ति की ओर उन्मुख होने का उदाहरण पद्मपुराण, शिवगीता 14/5 में इस प्रकार मिलता है —

जहाँ भगवान् शंकर व्याकुल हुए श्रीराम को कहते हैं :-

श्रृणु राजन्! प्रवक्ष्यामि तन्नोपायं महाभुज
सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्रयं विधाय च
स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्त्तयेत्।

भावार्थ है कि- 'हे महाबाहो राम! तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित विषय का उपाय कहता हूँ, सुनो। पहले सगुण उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता का साधन करके स्थूल सौराम्भिका न्याय के अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूप में चित्त को लगायें।'

सन्त कवि तुलसीदास ने भी इन धाराओं में भेद न कर **'अगुनै सगुनै नहिं कछु भेदा'** कहकर विचार व्यक्त किया है।

भारतवर्ष के पूर्व मध्यकाल में हिन्दू धर्म के साथ जैन धर्म, बौद्ध धर्म जनता में प्रचारित था। इस्लाम धर्म भी भारत में प्रवेश कर चुका था। गुजरात, राजस्थान व दक्षिण में जैन धर्म की स्थिति सुदृढ़ थी। बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र कश्मीर था। हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, सूर्य, शिव, शक्ति, विष्णु, राम, कृष्ण आदि अनेक देवी-देवताओं की उपासना को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित थे। तुर्क आक्रमणकारियों में मुहम्मद बिनकासिम, महमूद गजनवी, मोहम्मद गौरी ने भारत में मुस्लिम साम्राज्य को स्थापित किया। वहीं मध्य एशिया से इस समय मुस्लिम सूफीसन्त, फकीर, दरवेश, पीर, भारतवर्ष में आये, जिनमें राजस्थान के अजमेर में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ख्याति प्राप्त सूफी सन्त हुए।

रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में हुए स्वामी रामानन्द (1328-1448 ई.) तथा भक्त नामदेव व सन्त ज्ञानेश्वर के धार्मिक प्रचारों एवं भ्रमण से दक्षिण की भक्ति लहर लगभग 15वीं सदी तक उत्तरी भारत में व्यापक रूप से प्रवाहित हो चुकी थी। ऐसे समय में राजस्थान भी इसके प्रभाव से कैसे अछूता रह सकता था। महाराष्ट्र में 13वीं सदी के आसपास दक्षिण से प्रवाहित हुई विचारधारा के अन्तर्गत विट्ठल को 'ब्रह्म का प्रतीक' मानकर उसके प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बहा दिया गया तथा नाम का संस्कार मुख्य हो गया। धीरे-धीरे उत्तर भारत में यह निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में प्रचारित हुआ। इस निर्गुण सम्प्रदाय का ही प्रभाव राजस्थानी सन्तों पर पड़ा। यह लहर यहाँ स्वामी रामानन्द एवं उनकी शिष्य परम्परा के साथ प्रविष्ट हुई। रामानन्द के 12 शिष्यों में से प्रमुख

शिष्यों की शिष्य एवं प्रशिष्य परम्पराएं भी राजस्थान में चली :--

रामानन्द प्रताप तै, इतने दिग द्वादश महन्त।
अनन्तानन्द कबीर, सुखानन्द सुख में झूलै।
सुमरि सुरसुरानन्द, राम रैदास न भूलै।
धन्ना सेन पद्मावती, पीपा पुनि नरहरदासा।
भावानन्द सुरसरी कियो, हरि घर में वासा।
परमारथ को अवतरे, राघव मिल राम रहंत।

मोहम्मद गौरी के परवर्ती शासक कुतुबुद्दीन ऐबक, खिलजी, तुगलक, सैयद लोदी (1451-1526 ई.) वंश ने भारत में साम्राज्य विस्तार किया। लोदीवंश के असहिष्णु शासकों की नीतियों ने भी सन्त सम्प्रदाय के आविर्भाव को भूमि प्रदान की तथा सन्त भक्तों ने साहित्यिक अस्त्रों का प्रयोग किया।

सन्त सम्प्रदाय के आविर्भाव से पूर्व राजस्थान में भी भारत के अन्य क्षेत्रों की भांति नाथ अथवा सिद्ध सम्प्रदाय का ही प्राधान्य रहा। यह अपने काल का मुख्य सम्प्रदाय था। नाथों तथा सिद्धों की हठयोग क्रियाओं का अपना विशेष महत्व था। यह साधना किसी भी प्रकार से लोकजीवन की आध्यात्मिक निष्ठा तथा भक्ति भावना को उत्प्रेरित करने में समर्थ न हो सकी। किन्तु समय की गति के साथ कालान्तर में जो सन्त सम्प्रदाय हमारे समक्ष आया, वह इसी का विकसित रूप था। इस युग में उत्तर भारत में व्यापक रूप से प्रवाहित होने वाली भक्तिधारा भी इस सम्प्रदाय की साधना का अंग बन गई। भक्ति के निर्गुण-सगुण दोनों पक्षों ने सामान्य जनता की धार्मिक आस्था को सुदृढ़ कर दिया।

डॉ. ब्रजलाल वर्मा के आलेख में अभिव्यक्त किया गया है कि 'भारतीय सन्त परम्परा अपनी धार्मिक एवं दार्शनिक अनुभूतियों में शंकर के अद्वैत से, वैष्णवों के भक्ति तत्त्व से, शैव व नाथपंथियों के ब्रह्मयोग व हठयोग से, सूफियों के एकेश्वरवाद व प्रेम की धारा से, बौद्धों के अहिंसा करुणा से एक साथ प्रभावित है।'

राजस्थान में भक्तिधारा के व्यापक प्रवाह का श्रेय सन्तजनों एवं सन्त साहित्य को ही है जिन्होंने निर्गुण-वाणी के द्वारा जनसाधारण में भक्तिधारा बहाई। इस निर्गुणधारा ने अपनी व्यापकता में सगुण को भी प्रकट किया तथा सगुण-निर्गुण के भेद को मिटा दिया।

अध्यात्म जागरण की प्रतीक मीराँ ने अपने पदों में भक्ति के दोनों रूपों को समभाव में रखा :–

तेरो कोई नहीं रोकनहार, मगन होई मीरां चली।
लाज सरम कुल की मरजादा, चित से दूर करी॥

मान अपमान दोउ धर पटके, निकसी हूं ज्ञान गली।
ऊंची अटरिया लाल किवड़िया, निर्गुण सेज बिछी॥

भौगोलिक रूप से राजस्थान का क्षेत्र मध्यकाल में विभिन्न खण्डों में विभक्त था, किन्तु यहां प्रचलित सन्तों के अनेकों मत, प्रणालियों, धाराओं एवं सम्प्रदायों ने इस प्रदेश को एकसूत्र में जोड़ रखा था। सन्तमत की दृष्टि से इतनी समृद्धता देश के इसी भू-भाग पर केन्द्रित होती है। वीरता तथा भक्ति की पराकाष्ठा को हृदयंगम किये यह धरा सन्त-सूरमा की उपाधि से विभूषित रही है एवं समूचे देश के सन्त-साहित्य (वांङमय) के सार निचोड़ को तथा सन्तवीरों की भक्ति-शक्ति को अपने में समाहित किये यह भूखण्ड 'राजस्थान में सन्त साहित्य' को 'राजस्थान का सन्त साहित्य' के रूप में देख रहा है।

'कह कबीर सुनि सन्तजन, काल निचोरि के अमृत पीवै।' यह अमृत भक्ति का ही है।

यहाँ अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए, जिनमें दादूपंथ, रामसनेही, चरणदासी, लालदासी, हरिदासी, निरंजनी, सूफी, जसनाथी, विश्नोई, आईपंथ, गूदड़पंथ, अलखिया, नाथ सम्प्रदाय आदि प्रमुख रहे हैं। यहां के सन्त सूरमाओं में रामदेवजी, हड़बूजी, पाबूजी, मेहाजी, मांगलिया, गोगा, तेजा, मल्लिनाथ आदि प्रसिद्ध हुए हैं।

यहां के भक्त-सन्तों में दादूदयाल, पीपा, धन्ना, जाम्भोजी, रामचरणदास, लालदास, चरणदास, गरीबदास, नागरीदास, दरियाव, मावजी, देवजी, नरहरिदास, चतुरसिंह, मलूकदास, रज्जब, बखना, वाजींद, मसकिनदास आदि। सन्त कवयित्रियों में मीराँबाई, सहजोबाई, दयाबाई, सोढ़ीनाथी.... आदि तथा विद्वानों के आलेखों में वर्णित सन्तजन, शोध केन्द्रों की पाण्डुलिपियों तथा लोक-साहित्य में वर्णित सन्तों-

भक्तों के चरित्र तथा उनकी वाणियों के उज्जवल पक्ष की वर्तमान में प्रासंगिकता पर वृहत् शोध कार्य आवश्यक है, जिससे लोकजीवन पर आध्यात्मिकता का अलख जगाकर युगीन समस्याओं पर विजय पायी जा सके।

सन्तों ने तात्कालीन समाज की विसंगतियों को अपनी वाणियों तथा साहित्य के माध्यम से उजागर कर उनके परिष्कार के उपाय भी बताये। जात-पांत, ऊंच-नीच का विरोध, धार्मिक कर्मकाण्डों, बाह्य आडम्बरों, अंधविश्वासों की भर्त्सना की गई। पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा आदि कुरीतियों का भी सन्तभक्त एवं कवयित्रियों द्वारा खण्डन किया गया तथा कहा गया कि :–

'जात-पाँत पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।'

तात्कालीन राजतंत्र को चुनौती देते हुए अपने पति की मृत्यु होने पर मीराँ ने स्पष्ट कहा- **'भजन करस्यां सती न होस्यां'** कहकर चारित्रिक उत्थान में आध्यात्मिक मार्ग उपयोगिता को अभिव्यक्त किया गया। इसलिये कहा गया है कि सन्त लौकिक समस्याओं का समाधान अलौकिक भूमि में ढूंढ़ता है।

सन्तवाणी ने अपने दार्शनिक रूप में जीव, जगत्, ब्रह्म, ईश्वर एवं रहस्य को दर्शाया है। धार्मिक पक्ष में- भक्ति, साधना, सत्संग, गुरु-महिमा आदि को व्यक्त किया तथा सामाजिक पक्ष में रूढ़ियों, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, छूआछूत, जाति वर्गभेद, बाह्य आडम्बर आदि को अभिव्यक्त करते हुए उनके परिष्कार पर जोर दिया है।

सन्तों ने अपनी रचनाएं साखियों, पदों, वाणियों, रमैनी, अरिल, छंद, छप्पय, मनहर, हंसाल, हरजस, चौपई, दोहा आदि में प्रस्तुत की है तथा साखियां, जीव रो अंग, सुमिरन को अंग, विरह रो अंग आदि शीर्षकों में संकलित की गई हैं।

सन्त साहित्यान्तर्गत सन्तों-भक्तों का व्यक्तिगत परिचय देने वाली 'परचई' संज्ञक रचनाएं भी कालान्तर में रची गई। सन्तों के भ्रमण एवं उपदेश प्रचार में रहने से उनकी रचनाओं में प्रादेशिक बोलियों का भी असर दिखलाई देता है। अनेक सन्तों की वाणियां संगीत की विभिन्न रागों के आधार पर संकलित हैं।

यथा- राग काफी, राग मारु, राग होली, राग कल्याण, सारंग, विलावल, बंसल, जैजेवंती आदि हैं, जो उनके संगीत कला के प्रति ज्ञान को दर्शाती है।

सन्त-साहित्य में सरसता एवं स्वाभाविकता के साथ-साथ भक्ति के विविध रूप यथा- वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं माधुर्य भाव भी दिखाई देते हैं। सन्तों की वाणी में दिखाई देने वाले भक्ति भाव की प्रधानता एवं व्यापकता ज्ञान पक्ष, बुद्धि तत्त्व की अपेक्षा हृदयपक्ष पर अधिक आधारित है, जो जीवन मूल्यों की सहजता का 'अलख' जगाने हेतु आवश्यक मूल मंत्र एवं यंत्र हैं।

जीवन में परमार्थ की आत्मानुभूति ही सन्त-साहित्य की आत्मा है। सन्त लोकहितार्थ के कार्य करता है, जिसके कारण सर्वतोभद्र सर्वतोमुखी वाणी जन-जन के लिये प्रिय बन जाती है। इसीलिये मनुष्य के नैतिक उत्थान एवं उच्च आदर्शों के लिये सन्तों के उपदेशों को सर्वोपरि माना गया है।

विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी 'राजस्थान का सन्त साहित्य' दिनांक 24 से 26 मार्च, 1993 के उद्घाटन समारोहान्तर्गत मुख्यवक्ता श्री कर्पूरचन्द कुलिश ने अपने उद्बोधन में बताया कि हमारे देश में सन्त परम्परा की सबसे बड़ी देन यह रही कि वेद-विद्या के पठन-पाठन का ह्रास होने के बाद भी सन्त साहित्य ने किसी न किसी रूप में वैदिक साहित्य की आत्मा के स्पन्दन को बनाये रखा है। सन्त-साहित्य को वेदेतर समाज से विकसित होने की बात कही और कहा कि वेद विद्या के लोप के बाद विभिन्न दर्शनों के प्रादुर्भाव ने दार्शनिक सन्तों को भूमि प्रदान की, अगर वेद लोप होने के बाद सन्त-साहित्य न होता तो शायद हमारा भी लोप हो जाता। भिन्न-भिन्न सन्त आचार्यों ने जीव जगत् और ब्रह्म को अपने-अपने ढंग से समझा, परिणामस्वरूप अलग-अलग सम्प्रदाय विकसित हुए। सन्तों ने हमारी भीतर जोत को भक्ति के माध्यम से जगाये रखा है। यहां के सन्तों की निर्धन और निरक्षरों तक पहुंच बताते हुए कहा कि सन्तों ने मेल-मिलाप बढ़ाने एवं दुखद प्रसंगों को भुलाने का भी महत्वपूर्ण कार्य किया है।

उद्घाटन के मुख्य अतिथि हिन्दी के प्रख्यात समालोचक डॉ. नामवरसिंह ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि इस देश में जितने भी क्रांतिकारी कार्य हुए वे धर्म के लोकोन्मुखी स्वरूप को लेकर ही हुए। सँस्कृत ने तो देश को शिष्ट

स्तर पर जोड़ा, लेकिन सन्तवाणी ने लोकस्तर पर एकात्मता स्थापित की है। भारत में जब राजनीतिक एकता नहीं थी, तब सन्त साहित्य ने साँस्कृतिक एकता को बनाये रखा। राजस्थान की अनेक रियासतें, जो भौगोलिक रूप से एक दूसरे से नहीं जुड़ पाई थी, उन्हें सन्तों ने सांस्कृतिक रूप से जोड़े रखा।

हिन्दी प्रदेशों में राजस्थान ही ऐसा प्रथम प्रदेश रहा, जहां सन्तों ने 'निर्गुण' एवं 'सगुण' का भेद नहीं रखा।

डॉ. सिंह ने बताया कि सन्तों ने मध्यकाल की चुनौतियों का सृजनात्मक उत्तर दिया और लगभग 400 वर्षों तक सच्चे लोकधर्म की स्थापना की। 19वीं शताब्दी के दौरान राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द आदि ने पुनर्जागरण के लिये उपनिषदों एवं वेदों की मदद ली, मगर बुद्धिजीवियों का यह आंदोलन लोकधर्म नहीं बन सका, क्योंकि इसमें 'रस' नहीं था।

संस्थान के निदेशक श्री सुनील अरोड़ा (आई.ए.एस.) ने संस्थान की गतिविधियों का परिचय देते हुए विभाग को दुलर्भ एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों का केन्द्र बताया। उद्घाटन समारोह के संयोजक डॉ. दयानन्द भार्गव ने अपने विचार रखते हुए सन्तों के लक्षणों पर प्रकाश डाला और कहा कि सन्तों की दृष्टि में अनेकता में एकता की बात ठीक नहीं है, बल्कि एक ही अनेक में परिणित हो गया है। उन्होंने कहा कि अद्वैत भाव के बिना प्रेम अधूरा है।

तीन दिवसीय संगोष्ठी के समापन समारोह में जैन विश्व भारती, लाडनूं के कुलपति डॉ. रामजीसिंह ने अपने उद्बोधन में बताया कि सन्त-साहित्य से ही देश की आत्मा जीवित है, जिसके माध्यम से समाज का पुनर्जागरण संभव है। काव्य एवं साहित्य की आत्मा को सन्त साहित्य में विद्यमान बताते हुए कहा कि भक्ति आध्यात्मिक पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है, जिसे सन्त साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। समय-समय पर देश में नेतृत्व का अभाव उत्पन्न होने पर सन्त साहित्य ने ही मार्गदर्शन किया है, इसके पुनर्जीवन एवं योजनाबद्ध आलेखन को समाज के लिये एक सुखद अनुभूति बताया।

समापन समारोह की अध्यक्षता करते हुए डॉ. फतहसिंह ने कहा कि यहाँ

पर भिन्न-भिन्न रीतिरिवाज, पूजा, मान्यताएं एवं भाषा होने के बावजूद भी हम सभी भारतीय हैं। यह वैदिक विचारधारा की ही देन है। सँस्कृति की अजस्त्रधारा वेदों से ही प्रवाहित हुई, जिसके कारण अनेकता में एकता का अनुकरणीय मंत्र प्राप्त हुआ।

आयोजित संगोष्ठी **'राजस्थान का सन्त-साहित्य'** के शैक्षिक सत्रों के चालीस आलेखों को पाँच खण्डों में व्यवस्थित कर, उनके सारगर्भित अंश/सारांश को विद्वज्जनों के समक्ष सम्पादकीय में प्रस्तुत करते हुए हर्षानुभूति हो रही है। शोधालेख विषय सामग्री सुविज्ञ लेखकों द्वारा सुव्यस्थित तौर पर शोधपरक दृष्टि के अन्तर्गत प्रस्तुत की गई है, जो इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधोत्सुकों के ज्ञानवर्द्धन एवं दिशादर्शन हेतु सहायक सिद्ध हो सकेगी।

प्रथम खण्ड में डॉ. हैरम्ब चतुर्वेदी ने कवयित्री मीराँबाई के पदों एवं भक्तिधारा पर विस्तृत जानकारी दी है। सन्त-साहित्य में मनोविज्ञान को मीराँ के सन्दर्भ में बताते हुए डॉ. राजवंशीसिंह ने साहित्य का मनोविज्ञान से गहरा जुड़ाव बताया। डॉ. पुरुषोत्तमलाल मेनारिया ने कबीर भजनावली के राजस्थानी रूपान्तर नई खोज पर अपने व्याख्यान में कबीर की रचनाओं के व्यापक सर्वेक्षण, ध्वनि संकलन, अध्ययन एवं सांगीतिक पक्ष पर अनुसंधान की आवश्यकता पर बल दिया।

राजस्थानी निर्गुण सन्त साहित्य की विशेषताओं पर डॉ. ब्रजलाल वर्मा के पत्र में निर्गुण सन्तों के जीवन घटनाक्रमान्तर्गत चिन्तन, आचार, व्यक्तित्व आदि में सन्तों के जीवन निदर्शन प्राप्त होने की बात कही। मध्ययुगीन राजस्थान के सन्त-साहित्य में लोक-जीवन के विविध पक्षों में समाज, परिवार, धर्म, लोकविश्वास, शासन, अर्थव्यवस्था, कला-संस्कृति पर डॉ. ओंकारनारायण सिंह ने चर्चा की। डॉ. याकूबअली खान ने राजस्थान में सूफी सन्तों की परम्परा पर अपनी चर्चा में सूफीमत के विकास, सन्त परम्परा एवं राजस्थान में अजमेर, नागौर, हाड़ौती, जयपुर आदि स्थानों पर हुए सूफी सन्तों के प्रभाव को दर्शाया।

द्वितीय खण्ड में डॉ. रफाकत अली खान द्वारा प्रस्तुत पत्र में राजस्थान के सूफी सन्तों पर जानकारी दी गई है। आधुनिक सन्दर्भ में सन्त साहित्य की

प्रासंगिकता पर डॉ. जयसिंह नीरज ने अपना पत्र पढ़ा। इन्होंने सगुण-निर्गुण भक्तिधारा के सन्तों की विशेषताओं के साथ-साथ राजस्थान की सन्त परम्परान्तर्गत विश्नोई, सूफी, दादू आदि पंथों की वाणियों/शिक्षाओं को आधुनिक युग में फैल रही अशांति को दूर करने के लिये उपयोगी बताता। डॉ. भ्रमरलाल जोशी ने मेवाड़ में गहलोत कुल के बावजी चतुरसिंह के जीवन एवं शिक्षा पर बल देते हुए उन्हें पाखण्डियों से घृणा करने वाला बताया। बावजी के दोहों एवं 'अलखे पचीसी' पर प्रकाश डालते हुए **'उद्या अलख पछाण'** पर अपना पत्र वाचन किया।

'राजस्थानी सन्त कवयित्रियों के काव्य में सामाजिक चेतना' पर डॉ. उषा कंवर राठौड़ ने चर्चा करते हुए जात-पाँत, ऊँच-नीच के भेदभाव का विरोध, धार्मिक आडम्बरों, सामाजिक कुरीतियों के खण्डन, मानवीय गुणों एवं सत्संग के महत्व पर प्रकाश डालते हुए 21वीं सदी के समाज में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा स्थापित करने की बात कही। रामसनेही सन्तों में बीजलदास, अचलराम, सुखराम, वनानाथ एवं माधोराम आदि सन्तों की अमृतवाणी पर श्री पूर्णानन्द पूर्णपंथी ने अपने विचार रखे। सन्त कवि वील्होजी एवं उनकी वाणी पर डॉ. कृष्णलाल विश्नोई के शोध लेख में वील्होजी के जन्म, जीवन, उपदेश, चमत्कार तथा उनके साहित्य संबंधी विवरणों का उल्लेख किया गया है।

डॉ. एल.पी. शर्मा ने सन्त रामचरणजी एवं भीखणजी की धार्मिक चेतना पर तुलनात्मक समीक्षा करते हुए भीखणजी एवं रामचरण की मान्यताओं में समानता के उदाहरण प्रस्तुत किये। राजस्थान के गैर सूफी मुसलमान सन्त कवियों में दादूदयाल, लालदास, रज्जब, गरीबदास, बखना, मसकिनदास, वाजींद, बालकराम, दरियावजी, काजी मुहम्मद आदि सन्तों के जीवन एवं उनकी रचनाओं पर डॉ. मनमोहन स्वरूप माथुर ने चर्चा की। हिन्दी के निर्गुण सन्तों की भक्ति साधना पर डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित ने विभिन्न विद्वानों के विचार रखे तथा भक्ति साधना से जुड़ी मूल समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए अपना सारगर्भित शोधपत्र प्रस्तुत किया।

खण्ड तृतीय में डॉ. ओम्आनन्द सरस्वती का पत्र **'राजस्थान के सन्त साहित्य में मूल्यबोध'** सम्मिलित किया गया है, जिसमें सन्तों के नवीन मूल्य सम्प्रेषित

करने संबंधी ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। डॉ. सरस्वती ने सन्तों के मूल्यबोध की प्रासंगिकतान्तर्गत मीराँ के भक्तिभाव, महर्षि दयानन्द के आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य, विवेकानन्द के कर्मयोग, अरविन्द के समत्वयोग एवं महात्मा गांधी के 'सादा जीवन-उच्च विचार' के जीवन आदर्शों को उद्धृत किया। आस्थावादी मूल्यबोध का समर्थन करते हुए सन्त-साहित्य में गुरुत्व, भक्ति, उपासना, आस्था एवं प्रेम/सुधारवादी मूल्यबोधान्तर्गत निन्दा एवं भर्त्सना से बिगड़े व्यक्ति को सुधारने पर बल एवं जाति-पाँति के उन्मूलन में राजस्थान के सन्तों के योगदान पर चर्चा की। राजस्थान के लोकदेवता गोगाजी, तेजाजी, पाबूजी, रामदेवजी तथा हड़बूजी के जीवनवृत्त एवं मान्यताओं पर डॉ. सर्वेशकुमार ने चर्चा करते हुए उनकी परम्पराओं को मिश्रित सँस्कृति का प्रतीक बताया।

विश्नोई धर्म के प्रवर्तक सन्त जाम्भोजी की सबद्वाणी में गुरु महिमा, परमात्मा की सृष्टि, जप्य पदार्थ, कर्म, अहिंसा, हरिकृपा, तत्त्व प्राप्ति, शाश्वत वचन, दुःखों को सुख में बदलना आदि मान्यताओं पर श्री मंगलाराम विश्नोई ने चर्चा की। सन्त दरियावजी का सामाजिक एवं धार्मिक चिन्तन पर प्रस्तुत लेख में डॉ. एस.के. पुरोहित ने मारवाड़ के सन्त दरियाव (ई. 1676) के धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपनाये गये सुधारों पर चर्चा की। दरियाव को धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का चिन्तक बताया। **'शाहपुरा के रामस्नेही सन्तों की सांस्कृतिक निधि : फूलडोल महोत्सव'** पर डॉ. राजेन्द्रनाथ पुरोहित ने अपने पत्र में फूलडोल का अर्थ, परम्परा, शाहपुरा तथा उदयपुर के फूलडोल महोत्सव पर होने वाली गतिविधियों की जानकारी दी।

श्री रामदत्त थानवी ने सन्त-साहित्य के सांगीतिक पक्ष 'सुखोचरित्र' पर चर्चा में 'सुखोचरित्र' नामक राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ में पुष्टिमार्गीय भक्ति परम्परा एवं संगीत की रागों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ में लिपिबद्ध दोहों, कथा एवं चौपई का वर्णन किया। डॉ. हरमल रेबारी ने सन्त दादूदयाल की युगानुरूपता पर अपना पत्र प्रस्तुत करते हुए सन्त दादू के जीवन एवं उपदेशों को व्यक्ति के जीवन में उतारने की बात पर बल दिया। दादू शिष्य नारायण दूधाधारी एवं उनकी 'नारायणवाणी' नामक पत्र में वि.सं. 1679 को जोधपुर जिले के चम्पासर ग्राम में जन्मे स्वामी नारायणदास जी के जीवन एवं उनकी वाणी संबंधी विवरण को श्री पुष्करदास ज्ञानी ने प्रस्तुत किया।

राजस्थान की धरती को सन्त सूरमाओं की धरती एवं कर्मस्थली बताते हुए डॉ. वसुमती शर्मा द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों को आधार बनाकर **'दादूदयाल की वाणी का आध्यात्मिक चिन्तन'** विषय पर शोध आलेख प्रस्तुत किया गया। जिसके अन्तर्गत दादूपंथ के प्रमुख सिद्धांतों एवं विचारधारा की विवेचना, आध्यात्मिक तत्त्व ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, नामस्मरण एवं सद्‌गुरु आदि के आदर्शों के आधार पर की गई। श्री **कमलकिशोर सांखला ने 'प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर एवं इसके 7 शाखा कार्यालयों में संगृहीत महत्वपूर्ण भक्ति विषयक ग्रन्थों पर'** सूची प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थों में लिपिबद्ध भक्तिरसधारा एवं गुरु-शिष्य- परम्परा पर संक्षिप्त जानकारी दी।

चतुर्थ खण्ड में **'राजस्थान की सन्त परम्परा सामाजिक अन्तश्चेतना पर'** डॉ. रामप्रसाद दाधीच द्वारा प्रस्तुत शोधपत्र में राजस्थान के सन्त-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि को अभिव्यक्त करते हुए तत्कालीन राजनैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक प्रवृत्तियों को वर्णित किया। साथ ही सामाजिक रीति-रिवाजों को अभिव्यक्त करते हुए राजस्थान में सन्त परम्परा तथा उनके द्वारा सामाजिक सुधार की क्रांति के सूत्रपात के विषय में जानकारी दी।

श्री सेवासिंह ने **'मध्यकालीन सन्त साहित्य के उद्‌भव : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य- एक पुनर्मूल्यांकन'** पर प्रस्तुत अपने शोधपत्र में इस्लामिक प्रतिक्रिया का प्रश्न उठाते हुए इन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्धरण प्रस्तुत किये। बौद्धकालीन ललितविस्तर, पालिसूत्र, महायान धर्म एवं पौराणिक ग्रन्थों पर भी जानकारी दी। डॉ. देवकुमार ने अलवर के राजा मंगलसिंह (सन् 1891 ई.) के समय में रचित उर्दू पुस्तक 'हादी-बरहक (बुध-प्रकाश)' पर विस्तृत जानकारी देते हुए पुस्तक को 'सच्चाई का प्रकाश' जानने के लिये उपयोगी बताया।

डॉ. विक्रमसिंह राठौड़ ने मारवाड़ के सन्तों की साँस्कृतिक चेतना पर चर्चा करते हुए बताया कि सन्तों ने स्थानीय भाषा में आत्मा के अनुभव के आधार पर अपने विचार रखे, जिनके प्रसार से शाश्वत मूल्यों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप मारवाड़ का सांस्कृतिक धरातल प्रभावित हुआ। श्री भल्लूराम खीचर ने **'विश्नोई सन्त जाम्भोजी : एक अनुशीलन'** नामक

पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें सन्त जम्भेश्वर के उपदेशों की चर्चा की गई है।

राजस्थान के सन्तों की मौखिक वाणी के भाव-सौन्दर्य पर श्री दीनदयाल ओझा ने अपने पत्र के माध्यम से बताया कि सन्तों ने काव्य को सम्प्रेषित करने हेतु अपने उद्‌बोधन और चेतनापरक वाणियों/पदों के माध्यम से अपने भाव-सौन्दर्य को अनन्त आकाश की तरह विस्तृत किया, जिनकी सत्यवाणी आज जन-जन में व्याप्त हैं। मेवाड़ सिसोदिया वंश के ठाकुर गुमानसिंह कवि पर डॉ. लक्ष्मीकान्त व्यास ने चर्चा करते हुए गुमानसिंह को आध्यात्मिक योगी एवं साहित्यिक अभिरुचियुक्त भक्त बताया। भक्त गुमानसिंह की विभिन्न रचनाओं में 'मोक्षभवन मनीषालक्ष चन्द्रिका', योगांगशतक, गुमानपदावली, रामरत्नमाला, श्रीराम गीता आदि इनकी रचनाओं को भारतीय दर्शन के लिये उपयोगी बताया। **'राजस्थान के लोकदेवता रामदेवजी की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपादेयता'** पर श्री रतनलाल कामड़ ने अपने शोध पत्र में रामदेवजी की प्रसिद्धि, उत्सव आयोजन, मान्यताओं एवं शिक्षाओं को आधुनिक युग के लिये महत्वपूर्ण मानते हुए सन्त रामदेवजी को साम्प्रदायिक सद्‌भाव का प्रेरक बताया।

पंचम खण्ड में **'संत मत की पृष्ठभूमि और वैष्णव सम्प्रदाय'** पर श्री ओ३म्‌प्रकाश शर्मा के शोधपत्र में निम्बार्क सम्प्रदाय, राधाकृष्ण सम्प्रदाय तथा निष्कलंक सम्प्रदाय के उद्‌भव एवं प्रसार के ऐतिहासिक सन्दर्भों की जानकारी दी गई है। सूर सौरभ में पूर्व प्रकाशित लेख दादूदयाल शिष्य रज्जब के जीवन-परिचय एवं उनकी रचनाओं की जानकारी देने वाला शोधपत्र श्री गोपालनारायण बहुरा का था, जिससे रज्जब के जीवन-प्रसंगों के साथ उनके शिष्यों, रज्जबदारों के विषय में जानकारी के साथ ही उनकी रचना 'रज्जबवाणी' तथा सन्त साहित्य की विशिष्ट कृति 'सर्वंगी' के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी दी गई। सर्वंगी में विविध सन्तों की वाणियों, साखियों, पदों के माध्यम से अनेक विचार प्रतिपादित किये गये हैं जिससे विविधता में एकता के दर्शन होते हैं।

सन्त साहित्य में 'मानव मूल्य' पर चर्चा करते हुए डॉ. धर्मपाल मैनी ने सामाजिक, वैयक्तिक एवं मानवीय क्षेत्र में मानव मूल्यों के महत्व पर बल दिया। नैतिक समृद्धि को सन्तों के जीवन का आभूषण बताया। नवसमाज निर्माण में

सन्तों के मूल्य की महत्त्व पर मानवीय दृष्टि केन्द्रित करते हुए मनुष्य के कर्म की महत्ता को स्वीकार किया। सन्तों के वैयक्तिक मूल्यान्तर्गत विनम्रता, मधुरता एवं दुर्वृत्तियों के विरोध की उग्रता पर दृष्टिपात करते हुए समाज के उन्नयन में सन्तों के संदेश को शाश्वत बताया। अलवर क्षेत्र के सन्त कवियों पर डॉ. रामकिशन जाटव के पत्र में सन्त लालदास, हरिदास, करमाबाई, डूंगर साधू, चरणदास, अहमद, दीपदास, मलूकदास, जयराम आदि अनेक सन्तों ने जीवन एवं उनकी रचनाओं की जानकारी उपलब्ध होती है। हाड़ौती में हस्तलिखित रामकाव्य पर श्री ख्यालीराम मीणा ने अपने पत्र में संक्षिप्त जानकारी दी है।

पुष्टिकर समाज के सन्तों पर श्रीमती अनन्जा थानवी ने सम्वत् 1740 से सम्वत् 1949 तक के पुष्टिकर सन्तों में श्री कण्ठजी, सुखानन्दजी, शिवरामजी, वनजी, वृत्तिनारायणजी, बलदेवजी, लाडजी आदि सन्तों के जीवन एवं उनके द्वारा रचित साहित्य का वर्णन शोधपत्र में किया है। बागड़ क्षेत्र की सन्त परम्परा पर श्री एल.डी. जोशी के पत्र में निष्कलंक सम्प्रदाय एवं उनके उत्तराधिकारी गादिपति आचार्यों की जानकारी उपलब्ध कराई गई है।

संस्थान की निदेशक श्रीमती वीना लाहोटी ने संगोष्ठी के पत्रों की शोध जगत् के लिये महती उपयोगिता मानते हुए मुझे सम्पादन का कार्य सौंपा, इस हेतु मैं हृदय से उनकी आभारी हूँ। श्री ओमप्रकाश शर्मा द्वारा दिये गये सुझावों एवं कमल किशोर सांखला द्वारा सम्पादन कार्य में सहयोग के लिये अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

नवम्बर, 2002 ई.

डॉ. वसुमती शर्मा
एस.आर.ए.
सम्पादिका

राजस्थान का संत साहित्य

अनुक्रमणिका

खण्ड तृतीय

मीराँबाई एवं उनके साहित्य में चित्रित समाज

— डॉ. हेरम्ब चतुर्वेदी

भक्ति की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित मीराँबाई, हिन्दी साहित्य की अद्वितीय कवयित्री है। कृष्ण-भक्त के रूप में, वे सगुण ब्रह्म की उपासिका थीं, किन्तु अपने मध्यकालीन राजस्थानी परिवेश के कारणवश, वे निर्गुण के भी महत्त्व को भली-भांति समझती थीं और उसकी प्रशंसिका भी थीं- वे स्वयं रैदास को अपना गुरु मानती थीं और कबीर के प्रति भी उनके मन में असीम श्रद्धा रही है अत: जो उनके सम्बन्ध में, पूर्व स्थापित धारणाऐं हैं, वे धूमिल पड़ने लगती हैं और जब हम मीराँबाई के साहित्य व समसामयिक समाज का अध्ययन करते हैं, तब स्पष्ट होता है कि स्थापित धारणाओं के प्रतिकूल मान्यताऐं उनके साहित्य में, क्यों पृथक्-रूप से दिखने लगती हैं? और, तभी यह स्पष्ट होता है कि इस तथ्य को समझने के लिए, हमें मीराँबाई के वाङ्मय को समझना पड़ेगा। यह विरोधाभास जो उनकी कविता में दृष्टिगोचर है- वह मूलत: समकालीन राजनीतिक विरोधाभास का परिणाम है- जहां राजस्थान अथवा राजपूताने का क्षेत्रीय सामन्तवाद अथवा सामन्ती क्षेत्रवाद केन्द्रीकृत मुगल साम्राज्यवादी प्रसार का प्रतिरोध कर रहा था और वह स्वयं, एक राजतंत्रीय स्वरूप भी धारण किए हुए था अत: हमें सर्वप्रथम मीराँबाई के काल के सामन्ती परिवेश को समझने के लिये उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन करना पड़ेगा।

सर्वप्रथम, मीराँबाई का निवास कबीर का 'घर' न होकर, भवन अथवा महल है, उनके व उनके इष्ट के मध्य सम्बन्ध, मुगल सामन्ती व्यवस्था का प्रतीक 'खानाजाद' से वे स्वयं स्पष्ट करती हैं, मीराँबाई के अनुसार, ईश्वर तथा भक्त अथवा ब्रह्म एवं आत्मा के मध्य के सम्बन्ध, स्वामी व सेवक वाले हैं। यह एक विशिष्ट सामन्ती तत्त्व था, अन्यथा तो कृष्ण-भक्त, मीराँ के लिए यह सम्बन्ध प्रिय-प्रेयसी का सा होना चाहिए था। अत: वे रामभक्ति के अधिक निकट प्रतीत होती हैं और यह उनके परिवेश का ही प्रभाव है; यही नहीं, अनेक अवसरों पर वे अपने 'कृष्ण' को 'राम' कहकर ही सम्बोधित करती हैं। उनके काव्य में हमें, 'भवन-पति', 'प्रतिपाल' व 'नगर-नरेश' जैसे सम्बोधनों का भी उल्लेख मिलता है।

मीराँबाई के नारी-वर्णन में भी सामन्ती दृष्टिकोण को उजागर कर दिया जो उनके आस-पास व काल की विशेषता थी, साथ ही, वे जब भी शाही व उच्च वर्गों की महिलाओं द्वारा धारण किए जाने वाले वस्त्रों-आभूषणों का वर्णन करती हैं, तब भी यही बात सुस्पष्ट हो जाती है और तो और, हिन्दू सद्गति के द्योतक चिता तक के उल्लेख में, मीराँबाई 'चंदन की चिता' का प्रयोग करती हैं। इसी प्रकार, मीराँबाई कुछ राजपूत शासकों के विरुदों का भी उल्लेख करती है जैसे 'राव-राणा' आदि।

यही नहीं वे आम लोगों के भी जीवन का चित्रण करती हैं,- उदाहरणार्थ— उनके साधारण वस्त्राभूषणों अथवा परिवार के वर्णन में वे नई बहू की स्थिति व नवीन सम्बन्धों के विषय में विस्तार से लिखती हैं। समाज का वर्णन करते समय वे, जाति-प्रथा व उसके वास्तविक तत्कालीन स्वरूप को उजागर करती हैं। वे काशी-वर्णन में भी 'सन्यासियों' के साथ-साथ दोनों प्रभावी जातियों/वर्णों 'ब्राह्मण' व 'बनियों' का भी उल्लेख करती हैं। वैश्यों के वर्णन में वे ब्याज पर ऋण देने की प्रथा पर भी प्रकाश डालती हैं और उसी के साथ-साथ तोल के माप 'सेर' व 'पंसेरी' और मुद्रा के रूप में 'रुपये' का भी उल्लेख किया है।

मेवाड़ की कुल-वधू होने के नाते, वहां की राजनीतिक, सामाजिक संरचना के विषय में अभिज्ञ मीराँबाई ने मेवाड़ के जीवन में 'भीलों' के महत्त्व का भी चित्रण किया है। वे उनके सामाजिक संगठन 'कबीले' की ओर भी इशारा करती हैं। मध्यकालीन भारत में, अनेकानेक कारणों से, उभरी पेशेवर जातियों का भी उल्लेख हमें मीराँ की रचनाओं में मिलता है।

वे उत्तर भारत की दो आदतों पर भी प्रकाश डालती हैं, एक तो पान खाने की, जिसका विदेशी यात्रियों व समकालीन इतिहासकारों ने भी उल्लेख किया और दूसरा शौक व आदत, 'अमल' का भी वर्णन हमें मीराँबाई में मिलता है, जो कि राजस्थान में अत्यधिक प्रचलन में था तथा वहीं की एक विशेषता भी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने समसामयिक समाज की एक प्रतिनिधि के रूप में, वे अपनी कविता में उसका सजीव एवं वस्तुपरक वर्णन कर गई हैं और साथ ही, प्रमाणित कर गई हैं, कि साहित्य समाज का दर्पण है।

मध्यकालीन/आधुनिक इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

❑❑

'MEERA-BAI' The Depiction of Her Contemporary Society Through Her Own Poetry

— Dr. Heramb Chaturvedi

Meera Bai - bhakti personified was a poetess par excellence. A great Krishna devotee that she is popular as, was, thus, an ardent follower of the 'Saguna' form of bhakti-but, realizing the importance of 'Nirguna' bhakti in her contemporary age-she did praise it too[1]. She regularly refers to Raidas as her guru[2] and holds both Kabir and Dhanna in almost the same reverential manner[3]. We have to talk about this, too, while writing about Meera Bai, because one does encounter ideas, descriptions and perceptions contrary to the popular belief about Meera Bai that has been projected to the general people by my friends of Hindi Literature. It does not, however, on the other hand, signify contradiction of the established image of Meera Bai as a representative poetess of the 'Saguna Bhakti'

May be, these contradictions can be explained in terms of the inherent contradictions in the contemporary political scenario of Rajasthan, particularly, where its regional feudalism or feudalistic regionalism was resisting the centralized Mughal imperialistic inroads and this contradiction, did result in a 'flux' in the socio-political set up of medieval Rajasthan.

I would, as a matter of fact, first of all, like to discern and analyse her feudal background, as well as, the feudalistic tendencies evident in her poetic expressions which was, in effect, a true depiction of the age in which she thrived.

The very glaring example of this feudal impact is evident in the description of the usual abode of residence of the poetess herself. She

has used words like "Bhavan"[4] or "Mahal"[5] for the same-where she slept or kept waiting for her beloved-Krishna Himself. And, that, too, a mahal where her sway held or she ruled:

होता जाज्यो राज हमारे महलों, होता जाज्यो राज।।[6]

Describing her own sorry plight while waiting expectantly and, yet, being disheartened totally she talks of herself sitting in the 'Rang Mahal' of the palace bedecked with necklace etc.

बिरहणी बैठी रंगमहल में, मोतिमन की लड़ पोवै।।[7]

While describing her relationship with her Lord, she says, I owe my position to you and I am a member of your wider family-waiting to be blessed by your grace. And, since, this was the relationship between the scion of the ruling aristocracy and the kingly Mughal Emperor-the former waiting for the latter's grace and blessings for appointments-she describes or calls herself by the same connotation the Khanazad[8]. And, in the typical feudal manner where the feudal-lord has often been referred to as 'Thakur' she calls him her Thakur or lord[9].

And, it is because of this relationship of Lord and His subjects, that the subject is over-awed by the master and claims no greater status than that of the servant or slave. As is popularly acclaimed and accepted, this concept of devotee and Diety relationship existed in the Ram Bhakti concept-where the Brahma was represented by Ram and the soul by the perpetual bhakt-servant Hanuman - seated at the master's feet eager to serve Him and this state signified salvation too. In the Krishna-Bhakti, however, this concept of complete merger of soul into Brahma as the state of salvation originated from the relationship of the Lover Krishna and beloved Radha and where the former is the Brahma and, latter, the soul and the two merge their identities. And, Meera-poetess of this branch of the Bhakti transgresses into the concept of the other, that is, Ram Bhakti, only because that was, in accordance to her feudal-socio-political

setting. Thus, in Meera, we find a bridging of the gulf between the basic concepts of the two distinct and different schools of the Bhakti Movement- She transcends the Krishna-bhakti Marg and is nearer to the salvation concept of Ram-bhakti Marg because of her background. And, then she calls her Krishna-'Ram'

जहाँ जहाँ देखूं म्हारो राम तहाँ सेवा करुँ ॥[10]

Therefore, she continues to address herself as a Dasi[11] or Cheri[12] instead of a beloved of Krishna-or even the 'Sakhya bhav' is conspicuous by its absence in the poetic expressions of Meera Bai.

It is, primarily, because of her feudal background, set up and training (of mind) that she has referred to Krishna as a Pratipal too[13]. She mentions 'Bhavan-pati'[14] or 'Nagar Naresh' too in her poetry in an usual manner. Nagar-Naresh or Nagar-Raja were definitely feudatory chieftains of important towns[15]. Moreover, because of this feudal background, she also talks in terms of the defence preparedness and needs of the times, in general[16].

Though, the medieval times saw a definite decline in the status and prestige of women and we find, women being painted in a grim manner, in general, though, it is a regular and real depiction of the women in medieval India[17] but, in case of Meera it is further strengthened by the feudal element-the very expression signifies the feeling of being a 'mere women' or 'just a woman'. And, once, the lover or the spouse is declared a Lord then 'chhanvar' a royal insignia[18] always got attached to Him- as He was a consort of the royal princess-if not in his own position as God incarnate Himself.

Similarly, she is one to have described the chariots as the prevalent mode of transportation of the people of her classes but, here, too, she talks of the bullock-chariots-might be the usual mode of conveyance in medieval Rajasthan, along with the camel-chariots[19].

Then, she has also referred to 'Jagirs' as a term in her poetry- signifying through it, the obvious meaning of land-assignment which, in fact, it connoted:

तीन लोक जागीरी पाई, निर में पटा लिखामा।।[20]

In the second half of the above verse, she refers to the titledeed given to a person at the time of granting the assignment and, this was, generally known as 'Patta' or 'pata' - which confirmed the assignment and stipulated the terms and conditions of this conferment [20A].

Being a princess, she was expected to wear expensive clothes and sarees and adorn jewelerry, as is evident from her verses Whereas, the other Bhakt poets have referred to and described the clothes of the higher classes and those of ascetices and religious men separately, Meera, because of her personal transformation, mentions both in the same breath and, thereby, the following verse:

कहो कसूमल साड़ी रँगावा। कहो तो भगवा भेस।।[21]

Even while talking about the pyre, which in the Hindu religion signified the end, that is, cremation-she is not talking about the ordinary pyre meant for the general public rather, here, too, because of her feudal upbringing, she talks of a pyre build of sandal woods, which only kings and his rich chieftains could have afforded[22].

Not only this, we find Meera referring to the various branches or families of the Rajputs living in the different parts or principalities of Rajputana or Rajasthan, especially, the Sisodias of Mewar and Rathors of Merta-one, where she was born and the other, sphere she was expected to lead a life of a newly married docile bride adhering to the norms and values of the then society instead of rising against them, She was born in a family of Merta[23] and was married off to a Sisodiya prince in Mewar[24]. Not only that, we find a few references to the titles adorned by the Medieval Rajput rulers like Ranaji or clarified further to Sisodia Rana[25] and Rao[26].

Meera Bai, thus, was presenting a true picture of her contemporary society and, thus, apart from her personal and familiar background-

whenever, she talks about the society, in general, she is, at variance, with the above observations as then she is objective in her approach both consciously and sub-consciously Whereas, she has been talking about the ornaments of the higher classes - a class to which she belonged[27] - she also describes or, in the other hand, she does accept the fact that, the women of the lower classes or those economically deprived have to remain contended with ornaments made of flowers etc.[28]

One of the interesting description is that of the women in-laws of a newly-married woman. Some may say that it was on the basis of personal experience, too, that Meera Bai could write about it-but, we find that, since, other Bhakt-poets have also expressed similar feelings about the same - it may be a general view of the exponents of this socio-religious movement of Medieval India-those, who realised the problem of such relations in a family-as a social evil and wished to attack it in order to curb or fight it out. Or they desired to reform it by exposing its evil nature. Here, too, two persons have been regularly referred as trying to prevent any erosion of their supremacy in the household-due to a new entrant and these were the monther-in-law and the sister-in-law[29]. in case of Meera, as is the general acceptance, she was not tortured by the women-in-laws, rather, by the male member of the in-laws families[30].

Meera Bai has, similarly, mentioned and described the jogis and ascetics as were present in great numbers in the Medieval Indian society:

जोगी भी तलफै, जंगम तलफै, तलफै तपसी सारा।।[31]

She does refer to the caste-system also and realized its abominable nature[32]. She, it seems, was also quite aware of her caste and despite her contention and stand as a Bhakt-poetess, was unable to obliterate the caste-prejudices dominant in her sub-conscious-or, may be, a fact pressed on her by her relatives etc., to pressurise her into a docile and what according to them was the normal behaviour[33]. And, this sub-

consciousness did have a share in Meera's expression of exasperation at Lord Krishna's evading tactics and she says what else to expect if one's own Lord was said to have belonged to the Ahir caste in His human form[34]. She has also talked about he effective caste composition of the famous Hindu pilgrimage centre, that is, Kashi:

It was famous both as a centre of Vedic studies[36], as well as, asceticism-thus, the Brahmans with the right to teach, study and preach Vedas[37] and the ascetics were important or significant components of the population. And, the traders, merchants and shopkeepers who catered to all the needs of the population were, thus, significant by their mere presence.

She has not only talked about the merchants or the mercantile class or caste only with reference to kashi, as aforementioned. But, she talks about an important function of money-lending, especially, in the feudal and the desert lands of Rajasthan[38] - and, that they were, generally, referred to as Sahukar or Seth[39]. She has also mentioned the weights like 'Ser' and Paseri[40], as well as, the currency prevalent, that is, Taka and Rupaye[41] or Rupee.

Meera Bai, the daughter of Merta had come to stay at Mewar after her marriage - at her inlaws kingdom and she did not miss recognising the fact of the importance of Bhils as co-partners of the State and, therefore, she mentions them in her poetry[42]. Not only this, she understood their tribal character and refers to 'Kabeela'[43] of the tribal grouping.

Apart from the above mentioned social depiction, Meera Bai had also depicted some new professional groups which were gaining the status and, thus, crystallizing into occupational castes, due to various reasons in Medieval India[44]. She has talked of the 'Ahirs'[45] or milk-men, 'Nats' or Acrobats[46], who earned their living by their skills' display and amusing people in general, and the 'Kalals' or liquor brewers[47]. Not only these, we also find a reference to the prostitute or 'Ganika'[48] in Meera's poetry.

Similarly, she describes the two most peculiar habits one, common all over North India, that is, the habit of betelchewing. She describes the preparation of a good pair of betel, describing its ingredients:

लवंग सुपारी ने एलची तज वाला
काथा चुना री पान बीड़ी।[49]

The second such habit of taking intoxicants known to be prevalent in Rajputana and with which a great many of anecdotes have also been associated was Amal50 and Meera bai describes the ways and means that were necessitated so that it may have the desired effect of intoxicating the users:

यों तो अमल म्हारो कबहु न उतरे, कोटि करो न उपाय।[51]

Thus, it always takes a lot of persuasion, coaxing, formalities and persistent requests to make the 'Amal' effective.

FOOT NOTES & REFERENCES

1. Meera-Sudha-Sindhu - (of Swami Anand Swaroop) p. 322, v. 4.
2. 'गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्ही ज्ञान की गुटकी': pp. 379-380, v. 9
3. MSS p. 323, v. 9, p. 337, v. 49, p. 339, v. 55, p. 354, v. 103.
4. MSS, p. 187, v. 78, p. 196, v. 100, 201, v. 115, p. 208, v. 142
5. MSS, pp. 189-190, v. 85, p. 207, v. 139, p. 208, v. 140, p. 272, v. 18, pp. 291-292, v. 65, p. 327, v. 19, p. 349, v. 91 Also, compare it with the reference to a 'fort' even in, at least, one prominent verse:
   महल किला राणा मोहिं न चामे .... p. 280, v. 32
6. MSS, p. 327, v. 19
7. MSS p. 178, v. 54
8. MSS, . 187, v. 80, Also, Bahar-i-Ajam S.V. cited in M. Athar Ali's, The Mughal Nobility, Under Aurangzeb, p 11
9. R.S. Sharma's Feudalism p. 137, Calls it a feudal title Meera-Sudha-Sindhu, p. 194, v. 95 & p. 215, v. 65, pp. 292-293, v. 66, p. 386, v. 24, Etc.
10. MSS p. 358, v. 53, p. 351, v. 98, p. 359, v. 115, Also, p. 279, v. 29.

11. MSS p. 163, v. 9, p. 168, v. 25, p. 170, v. 30, p. 173, v. 40, p 175, v. 45, p. 186, v. 75 & 77, p. 200, v. 112, p. 208, v. 142, pp. 322-323, v. 7, p. 324, v. 12
12. MSS. p. 163. v. 10, p. 179, v. 57, p. 200, v. 112, v. 203, v. 122 Etc.
13. MSS p. 163, v. 10
14. MSS p. 177, v. 51.
15. MSS p. 175, v. 46, p. 193, v. 92, p. 195, v. 97, we have a similar term used in the Turkish Sultanate too-Malik Sarwar an eunuch of Sultan Firoz Shah Tughlaq has been addressed as "Shahna-i-Sarwar" Tarikh-i-Mubarak Shahi, p. 146.
16. MSS p. 171, v. 34
17. MSS p. 187, v. 80, p. 322, v. 5. मैं अबला बल नामं गुसाई.......... । p. 341, v. 61 & p. 344, v. 72 Compare it with Dohawali of Tulsidas, p. 91, v. 266, Ram Charit Manas p. 121, v. 119.2, p. 674, v. 43, p. 769, v. 583, p. 835, v. 60.6., p. 1037, v. 144.8, Dadu Dayal Ki Bani, I pp. 131-132, Kabir, p. 67, v. 8, 9, 10, & 11 p. 68, v. 15, p. 69, v. 24, p. 197, v. 87, Padavali Bangiya of Vidyapati Thakur, p. 256, Padmavat p. 127, v. 132, Rahiman Vilas, p.6, v. 57, p. 47, v. 56, Sur Sagar, I p. 804, v. 2199 Sur Sagar, II pp. 83-84, v. 2779, p. 366. v. 4011. See Also Rekha Misra's Women in Mughal India p. 129, Al-Beruni (Sachal) I. p. 181, K.M. Ashraf's Life and Conditions of the People of Hindustan. pp. 135-136, P.N. Chopra's, Glimpses of Social Life, p. 62, Heramb Chaturvedi's 'The Society of North India in The Sixteenth Century, (Unpublished Thesis, Allahabad University) pp. 139-144.
18. MSS p. 192, v. 90
19. MSS p. 203, v. 123, And pp. 272-273, v. 18
20. MSS p. 351, v. 97

20A. Refer to U.N. Day's The Mughal Govt. p. 107.

21. MSS p. 178, v. 55, Also p. 172, v. 38, p. 183, v. 68, pp. 267-268, v.7, or p. 278, v. 28 काजल टीकी राणां हम सब त्यागा, भगवी चादर पहर॥ And, p. 280. v. 32 Etc.
22. MSS p. 173, v. 41 : चुन चुन चंदन चीता बनाई।

23. MSS, p. 280, v. 32 pp. 280-281, v. 33, pp. 281-282, v. 35, p. 281, v. 34, p. 384, v. 86.
24. MSS, p. 279, v. 29, pp. 280-281, v. 33, pp. 281-282, v. 35, pp. 293-294, v. 68, p. 348, v. 86, p. 387, v. 26.
25. MSS, p. 267, v. 5, 269, v. 11, pp. 269-270, v. 12, p. 387, v. 26. While for Sisodia Rana refer to p. 26, v. 11
26. MSS pp. 392-393, v. 39.
27. Refer f.n. 21 above, Also Meera Madhuri (Bri) Rati Das Ed.) p. 52, v. 133, p. 118, v. 329
28. MSS pp. 324-325, v. 13 फुलना रे गजरा ...., Compare with Sujan Raskhan, p. 17, v. 3, Bihari Satsai, pp. 237, 248 & 252.
29. MSS pp. 270-271, v. 14, pp. 275-277, v. 23, p. 348, v. 87, सास बुरी घर ननद हठीली .... compare it with Kabir, pp. 369-370, v.2 सास दुराचनि पीव डराउँ। Also, Padmavat, pp. 60-61, v. 60 or Rahiman Vilas, p. 43, v. 16, p. 45 v. 38 and p. 48, v. 58.
30. Dinesh Chandra Shukla's "Rajasthan Ke Pramukh Sant Evam Lok-Devta" (Hindi) p. 14, Also, p. 23, f.n. 139
31. MSS p. 203, v. 123, p. 206, v. 135.
32. MSS p. 268, v. 8, p. 347, v. 82 & p. 354, v. 104.
33. MSS p. 184, v. 69, p. 268, v. 8 and p. 354, v. 104.
34. MMS p. 179, v. 59 .... आखिर जात अहीर॥ Compare with Surdas Sur Sagar, I, p. 568, v. 1507, p. 571, v. 1578 and p. 573, v. 1525. अहिर जाति ओछी मति कीन्ही अपनी जाति प्रकट कारे दीन्ही।
35. MSS p. 206, v. 135
36. MSS p. 388, v. 27
37. Refer to Tulsidas Ram Charit Manas, p. 481, v. 171.2, Sur Sagar, I, p. 176, v. 13 & 14, Kabir, p. 62, v. 10 And also B.N. Yadav's Society & Culture p. 19.
38. MSS p. 204, v. 126 & pp. 329-330, v. 28
39. MSS p. 204, v. 126, for Sahukar, pp. 329-330, v. 28 for Seth.
40. MSS p. 212, v. 155, पसे सेर जो टके पसेरी, रुपए के मन दोय॥

41. Ibid.
42. MSS pp. 292-293, v. 66, pp. 337-338, v. 51, p. 339, v. 55, p. 347, v. 82, Also, G.H. Ojha, Rajputana Ka Itihas, pp. 1423-1424, Also, G.N. Sharma, Mewar and the Mughal Emperors pp. 5-6.
43. MSS p. 325, v. 14 where she has referred to 'कबीलो' as a close knit family group of relatives.
44. Muhammad Habeeb, Introduction to Elliot and Dowson's, History of India, Volume II, Al-Beruni (Sachau), I, p. 101, B.N.S. Yadav's Society and Culture, p. 16, R.S. Sharma, Shudras in Ancient India, p. 234, G.S. Ghurye, Caste And Class in India, p. 107, Dabistan Mazahib, p. 246, pp. 267-268 & p. 274, Irfan Habeeh, Mughal Agrarian System, p. 333, Heramb Chaturvedi, Society of North India In The Sixteenth Century (Unpublished Thesis, Allahabad University) pp. 53-58.
45. Refer above f.n. 34.
46. MSS p. 377, v. 1, Compare to Kabir who refers to them as Bajigar: p. 209, v. 109, p. 287, v. 34 Padmavat pp. 108-109, v. 112, Manas, p. 290, v. 319, Rahiman Vias, p. 11, v. 101, p. 34, v. 71 & p. 35, v. 76, Sur Sagar, I p. 31, v. 98 pp. 67-68, v. 205, And, Sur Sagar, II p. 128, v. 3009.
47. MSS pp. 292-293, v. 66, or even termed 'Kalwars' see Kabir Granthavali, p. 32, v. 2, p. 234, v. 3, Padmavat, p. 177, v. 185, Rahiman Vilas, p. 31, v. 31 & p. 125, Kaharanama, p. 87 & f.n. 8
48. MSS p. 323, v. 9, Also compare to Kabir who also calls them 'Ganika': Kabir, pp. 325-326, v.2, Also, Sur Sagar, I pp. 8-9, v. 25, pp. 9-10, v. 27& 28, They have been called Vaishyas also. Padmavat, p. 38, Also, Sur Sagar, I, pp. 94-96, v. 290, Rahiman Vilas, p. 35, v. 82 & 83.
49. MSS pp. 324-325, v. 13, Compare to Alberuni (abridged) p. 2, 3, 7, Manas, p. 305, v. 329, Rahiman Vilas, p. 30, v. 13, I jaz-i-Khusravi, II, pp. 255-258, Ain, I, P. 72.
50. I am grateful to prof. D.C. Shukla, Head of History Department, Jodhpur University for having described 'Amal' as an old habit of intoxication very popular in Rajasthan.
51. MSS p. 278, v. 27

❑❑

सन्त-साहित्य एवं मनोविज्ञान
(मीराँ के विशेष संदर्भ में)

— राजवंशी सिंह

साहित्य का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य में भी सन्त साहित्य की महिमा कुछ और है। राजस्थान के सन्तों में मीराँ का विशेष स्थान है।

मनोविज्ञान को यहां मैं दो भागों में बांटना चाहता हूं। एक पश्चिम में विकसित मनोविज्ञान और दूसरा पूरब में विकसित मनोविज्ञान। पश्चिम में विकसित मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण वाद ने साहित्य की व्याख्या में काफी गहरी सूझबूझ प्रस्तुत की है। पर उसकी भी अपनी सीमा है, विशेष कर सन्त साहित्य को समझने में। अब जैसे सूरदास के साहित्य ***'हेरिवयत कालिन्दी अतिकारी'*** या ***'मधुवन तुम कत रहत हदे, विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे'*** की व्याख्या करने में मनोविश्लेषणवाद कारगर होगा पर तुलसी की इन पंक्तियों ***'कोऊ कह झूठ, सत्य कह कोऊ, युगल प्रबल कोऊ मोने, तुलसीदास परिहरई तींन भ्रम, तब आपन पहिचाने'*** की व्याख्या में समर्थ न हो सकेगा या फिर करीब की इस पंक्ति ***'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय'*** की व्याख्या मनोविश्लेषणवाद की पहुंच के बाहर है। यह ऐसा वचन है जो अद्वैत की भूमि से उठा है। इसके लिए तो पूरब का मनोविज्ञान ही, विशेषकर भारतीय मनोविज्ञान ही समर्थ हो सकेगा।

मीराँ के काव्य में भी ऐसे स्थल मिल जायेंगे जहां पश्चिम का मनोविज्ञान काम कर जायेगा पर ऐसे बहुत से स्थल मिलेंगे जो भारतीय मनोविज्ञान के आधार पर ही अपनी व्याख्या पर सकेंगे।

मीराँ का साहित्य, प्रेम का शास्त्र है। शायद शास्त्र कहना भी ठीक नहीं। नारद ने भक्ति सूत्र कहे, वह शास्त्र है, वहां तर्क है, व्यवस्था है, सूत्रबद्धता है। वहां भक्ति का दर्शन है। मीराँ स्वयं भक्ति है। इसलिये आप वहां रेखाबद्ध तर्क न पा सकेंगे। वहां एक हृदय में कौंधती हुई बिजली है। जो अपने आशियाने को जलाने को तैयार हों, उन्हीं की वहां संगति बैठ सकती है। मीराँ का काव्य, काव्य कम है, संगीत ज्यादा है, संगीत ही केवल भक्ति का शास्त्र हो सकता है। तर्क ज्ञान का शास्त्र बनता है,

संगीत भक्ति का शास्त्र बनता है, सत्य की खोज ज्ञानी करता है, भक्त सत्य की खोज नहीं करता, भक्त सौन्दर्य की खोज करता है, भक्त के लिए सौन्दर्य ही सत्य है। ज्ञानी कहता है, सत्य सुन्दर है। भक्त कहता है, सौन्दर्य सत्य है।

मीराँ स्त्री है। स्त्री के लिए भक्ति उतनी ही सुगम है, जैसे कि पुरुष के लिये तर्क एवं विचार। ऐसी स्त्रियां भी हुई हैं, जिन्होंने ज्ञान के मार्ग से यात्रा की है, जैसे कश्मीर में लल्ला हुई। वह भगवान महावीर जैसे विचार में पड़ गयी। उसने वस्त्र फेंक दिये तथा नग्न हो गयी। लल्ला में थोड़ा अशोभन मालुम पड़ता है। स्त्री अपने को छिपाती है। वह उसके लिये सहना है। वह उसकी गरिमा भी है, वह अपने को उघाड़ती नहीं।

लल्ला ने बड़ी हिम्मत की। असाधारण स्त्री रही होगी। महावीर के लिये नंगे खड़े हो जाना अस्वाभाविक नहीं लगता। सच तो यह है कि स्वाभाविक लगता है।

मीराँ में भक्ति की सहज उद्भावना है। भक्त और भी हुए हैं पर सब मीराँ से पीछे छूट गये। एक बात और। बुद्ध पर बोलना आसान है, महावीर पर बोलना आसान है। कृष्ण पर बोलना आसान है। पर मीराँ पर बोलना कठिन है, मीराँ गुनगुनायी जा सकती है। मीराँ गायी जा सकती है। मीराँ नाची जा सकती है, पर मीराँ पर बोलना कठिन है।

अब मीराँ के शब्दों में उतरें, पहली बात मीराँ का कृष्ण के प्रति प्रेम नया नहीं है, पुराना है, पूर्व जन्म का है वह कृष्ण की गोपियों में से एक थी। ललिता उसका नाम था। मीराँ ने स्वयं भी कहा है ***'मीराँ को प्रभु दर्शन दीजै, पूरव जन्म के कौल'।*** मीराँ कृष्ण के साथ नाची। वृन्दावन में कृष्ण के साथ गायी। यह प्रेम पुराना है।

मीराँ बेटी थी। यही रही होगी कोई पांच-सात साल की। एक साधु उसके घर मेहमान हुआ। सुबह उसने उठकर कृष्ण की मूर्ति की पूजा की। वह साधु अपने पास उस मूर्ति को छिपाये हुए था। मीराँ उस मूर्ति को देखकर पागल हो उठी। पिछले जन्म का स्मरण हो आया। शुरुआत हो गयी फिर से कहानी की। उस पर चोट हो गयी। कृष्ण की मूर्ति याद आ गयी। वह सांवली सूरत, मोरमुकुट, बांसुरी बजाते। मीराँ ने मूर्ति मांगी पर मूर्ति मिली नहीं, मीराँ ने खाना पीना बन्द कर दिया। यह शुरुआत थी विरह की, पांच-सात वर्ष की उम्र में साधु तो दूसरे गांव चला गया था। पर रात उसने वहां सपना देखा। कृष्ण खड़े हैं। उन्होंने कहा,- 'मूर्ति जिसकी है उसको दे दे तेरी अमानत पूरी हो गयी। मूर्ति उस लड़की को दे दे।' उसे कृष्ण कभी इस तरह

दिखायी न पड़े थे। हालांकि वर्षों से पूजा कर रहा था। वह घबरा गया। आधी रात भागा आया और मूर्ति उसने वापस दी। बोला,- 'मुझसे भूल हो गयी, क्षमा करो।'

पांच वर्ष की उम्र में यह घटना घटी-सांयोगिक घटना। मां ने मीराँ से पूछा- 'तेरा पति कौन?' और मीराँ ने कहा,- 'गिरधर गोपाल।' तो मां ने कहा,- 'यही तेरा पति है, गिरधर गोपाल, यही तेरा वर है और क्या चाहिए?' मां ने मजाक में कहा था। मां को क्या मालूम था कि कभी-कभी मजाक में कही बात भी क्रान्ति कर सकती है? क्रान्ति हो गयी।

याद रहे, कभी-कभी संयोग भी महा आरम्भ बन जाते हैं और वह भी महाप्रस्थान के पथ पर। मीराँ ने मान ही लिया कि यही उसके पति हैं। बचपन में यदि कोई भाव बैठ जाये तो बड़ा दूरगामी होता है। उस दिन से उसने अपना सारा प्रेम कृष्ण पर उड़ेल दिया। असल में जितना ही हम प्रेम डालते हैं उतने ही कृष्ण जीवित होते चले जाते हैं, पहले अकेली बात करती थी फिर कृष्ण भी बात करने लगे। यह नाता अब भक्त एवं मूर्ति का न रहा, भक्त एवं भगवान् का हो गया।

मीराँ की पहले मां मरी। बाबा ने उसे पाला फिर बाबा मरे। 16-17 साल की उम्र में उसका विवाह हुआ। फिर पति मरे। तब ससुर ने सम्भाला। ससुर मरे फिर पिता ने सम्भाला। फिर भी ऐसी पांच मृत्यु मीराँ ने देखी जब मीरा 32-33 साल की थी। मीराँ के जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण लोग थे, जिसको भी उसने चाहा था एवं प्रेम किया था, वे सब मर गये। जहां-जहां से प्रेम उखड़ने लगा, सब परमात्मा को चढ़ने लगा। जगत से जो प्रेम मुक्त हुआ, सब परमात्मा को चढ़ता गया। सब कृष्ण को चढ़ता गया। इन घटनाओं ने एक बड़े सौभाग्य का काम किया। उन्होंने दिखा दिया कि जगत में सब क्षणभंगुर है। यहां प्यार खोजना हो, तो परमात्मा में खोजे, शाश्वत में खोजें।

मीराँ कृष्ण के प्रेम में दीवानी हो गयी। इसीलिये मीराँ दीवानी पर यह चर्चा सुहानी। पहले मीराँ घर में नाचती फिर मन्दिर में, फिर गांव-गांव फिर साधु-सन्तों में और वह भी लोक लाज खोकर।

पांच सौ साल पहले की बात, जहां राजस्थान में कोई स्त्री घूंघट के बाहर नहीं आ सकती थी, वहां मीराँ का रास्तों पर नाचना• राजपरिवार के लिये कितनी कठिन एवं अपमानजनक बात रही होगी। वह नाच परमात्मा के लिये था, हालांकि घर के लोगों के लिए वह नाच-नाच था। उसके देवर राजा विक्रमजीतसिंह गद्दी पर थे। देश

के कोने-कोने से लोग मीराँ से मिलने आयें, यह बात उनके बर्दास्त के बाहर की थी।

अब जो कहानियां हैं, उनको आप ख्याल में ले, जहर भेजा और मीराँ ने कृष्ण का नाम लेकर पी लिया और जहर अमृत हो गया। इतने प्रेम से, इतने स्वागत से जो जहर पीयेगा तो अमृत हो ही जायेगा और अगर कोई क्रोध से हिंसा से, घृणा से अमृत भी पिये, तो जहर हो जायेगा।

इतिहास में ऐसा हुआ या नहीं इसमें में मेरी रुचि नहीं, पर इसके भीतर की मनोवैज्ञानिक घटना का मैं आप से वर्णन करूं। अगर आपका पात्र निर्मल एवं निर्दोष है, तो जहर भी उस पात्र में जाकर निर्मल एवं निर्दोप हो जाएगा। अगर पात्र गन्दा है तो अमृत भी जहर बन जायेगा। मीराँ ने देखा ही नहीं कि जहर है। उसने तो सोचा कि जो मिलता है, प्रभु ही भेजने वाला है। राणा के पीछे भी वही भेजने वाला है। तो अमृत ही होगा। वह अमृत मानकर पी गयी।

हमारी मान्यता इतना फर्क कर सकती है। सम्मोहनविद् जानता है कि मनुष्य के मन के काम करने की प्रक्रिया क्या है? यदि किसी व्यक्ति को सम्मोहित कर दिया जाय और सम्मोहित अवस्था में उसके हाथ पर एक अंगारा रख दिया जाय और कहा जाये कि एक कंकड़ रख दिया है तो आग का अंगारा भी उसे जलाता नहीं। क्योंकि उसका मन यह स्वीकार करता है कि कंकड़-कंकड़ है। अंगारा रखा रहता है और हाथ जलता नहीं, यह चमत्कार घटता है। अगर हाथ पर गुलाब का फूल रख दें और सम्मोहित व्यक्ति से कहें कि आग का अंगारा रख दिया है, तो वह झटक कर फूल को फेंक देगा और यही नहीं उसके हाथ पर फफोले भी आ जायेंगे। जलने के पूरे लक्षण आ जायेंगे। ऐसी घटनाओं से सन्तों का जीवन भरा पड़ा है। मैं इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को देखता हूं। इसीसे तो सांप शालिग्राम बन जाता है। जहरीला सांप-मीराँ ने पिटारी खोली तो सांवले कृष्ण ही दिखायी दिये। उसने उठाकर गले में लगा लिया। सांप ने मीराँ को काटा नहीं। सांप इतने जड़ होते भी नहीं। मीराँ का उसे गले से लगा होना समझ में आ गया। सांप का हमला तो सुरक्षा के लिये होता है। लेकिन मीराँ ने जब उसे गले लगा लिया तो प्रेम की उस तरंग को उसने भी समझ लिया। उस प्रेम में वह भी डूब गया। इस स्त्री को काटा नहीं जा सकता। चमत्कार भी इसमें कुछ नहीं है। जो चमत्कार हमें दिखायी पड़ते हैं, उनके पीछे का नियम हमारी समझ में नहीं आता। नियम सीधा-साफ है। हम जैसे होते हैं, यह जगत करीब-करीब वैसा हो जाता है। अगर हम प्रेम-पूर्ण हैं, तो प्रेम की प्रतिध्वनि उठती है। अगर हमने परमात्मा को सर्वांगमन से स्वीकार कर लिया, तो इस जगत में हमारे लिये कोई हानि नहीं।

यह सब बात घटी एवं मीराँ गांव छोड़कर वृन्दावन चली गयी। कृष्ण के गांव चली गयी। पर कृष्ण के गांव पर पण्डितों, पुरोहितों का कब्जा था।

बड़ी मीठी घटना है। जब मीराँ वृन्दावन के सबसे प्रतिष्ठित मन्दिर के द्वार पर पहुंची, तो उसे दरवाजे पर रोकने की कोशिश की गयी। मन्दिर का जो महन्त था, वह स्त्रियों को नहीं देखता था। मीराँ स्त्री थी, तो रोकने की व्यवस्था की गयी। पर जो लोग द्वार पर रोकने के लिये खड़े थे, वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। जब मीराँ एकतारा लेकर नाचते हुए आयी, तो उसके पीछे एक बड़ी भीड़ भी आयी। उस मस्ती में वे द्वारपाल ठिठक गये। वे भूल ही गये! कि रोकना है। तब तक मीराँ भीतर प्रविष्ट हो गयी। हवा की एक लहर थी। पहुंच गयी, बीच मन्दिर में, पुजारी कृष्ण की पूजा कर रहा था। वह तो घबरा गया। उसके हाथ से थाली गिर गयी। यह स्त्री यहां कैसे आ गयी। अब जरा आप ध्यान देना, द्वारपाल भी भाव में डूब गये, पर पुजारी न डूब सका। पुजारी इस जगत में सबसे अन्धे लोग होते हैं।

उसने कहा 'ऐ औरत! तुझे समझ है, तूं इस मन्दिर में कैसे आयी?' मीराँ ने कहा 'मैं सोचती थी कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष नहीं, सारा जगत तो उनकी गोपी हैं, उनके साथ रास चल रहा है। तो तू पुरुष है। मैंने सोचा नहीं था कि दो पुरुष हैं। तो तुम प्रतियोगी हो?' वह घबरा गया। पण्डितों के पास बंधे प्रश्नों के उत्तर होते हैं। लेकिन यह प्रश्न तो कभी उठा न था।

मीराँ ने कहा? तुम्हें यह वहम कहां से हो गया। एक कृष्ण ही पुरुष हैं बाकी तो सब प्रेयसियां हैं। अड़चन शुरू हो गयी और कहते हैं, कि उस घटना के बाद मीराँ को वृन्दावन में नहीं टिकने दिया गया। सन्तों के साथ हमने सदा ही दुर्व्यवहार किया है। जिन्दा रहते दुर्व्यवहार करते हैं और मरने पर पूजते हैं। मीराँ को वृन्दावन भी छोड़ देना पड़ा। वह द्वारिका चली गयी।

वर्षों के बाद राजस्थान की राजनीति बदली, राणा सांगा का सबसे छोटा बेटा गद्दी पर बैठा। उसका नाम उदयसिंह था। वह राणा प्रताप का पिता था। उदयसिंह को बड़ा भाव था, मीराँ के प्रति। उसने पण्डितों, पुरोहितों को मीराँ को वापस लाने के लिये भेजा और कहला भेजा कि हम भूल-चूकों के लिये क्षमा चाहते हैं। गये लोग, पर मीराँ सदा समझाकर कह देती कि, अब कहां आना-जाना। उस समय वह द्वारिका में रणछोड़दास के मन्दिर में रहती थी। फिर तो उदयसिंह ने बड़ी कोशिश की। सौ आदमियों का जत्था भेजा कि, जैसे भी हो मीराँ को मनाकर ले आना है। उन्होंने मीराँ

के सामने धरना दे दिया। तब मीराँ ने कहा कि, अच्छा यदि चलना ही है तो मैं जाकर प्राण प्यारे से पूछ लूं? कहते हैं मीराँ मन्दिर में भीतर गयी, कृष्ण प्रतिमा के सामने और फिर वाप्स न लौटी! कृष्ण की मूर्ति में समा गयी। मैं नहीं मानता कि यह तथ्य है, हां उसमें तत्व जरूर है और वह बड़े काम का है। तत्व यह है! कि मीराँ कृष्ण चैतन्य को उपलब्ध हो गयी। भक्त भगवान् हो गया। भगवान् को मीराँ उपलब्ध हो गयी। सम्बोधि को उपलब्ध हो गयी। मैं मानता हूं कि, ऐसा होना ही चाहियें, नहीं तो भक्त का भरोसा गलत हो जायेगा। यही भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि है।

मीराँ का काव्य, 'एक शाश्वत का अमृत रस है', या यों कहे-

ऐसा बरसे रंग यहां पर, जनम् जनम् तक मन भीगे।
फागुन बिना चदरिया भीगे, सावन बिना भवन भीगे।

एसोसिएट प्रोफेसर, मनोविज्ञान
जयनारायण व्यास यूनी., जोधपुर

❑❑

कबीर भजनावली के राजस्थानी रूपान्तर, नई खोज

— डॉ. पुरुषोत्तमलाल मेनारिया

संतों की वाणियां अधिकांश में इनकी स्वलिपि में प्राप्य नहीं होने से, इनकी प्रामाणिकता वर्तमान में एक गंभीर समस्या है। कबीर-भजनावली में इसका अपवाद नहीं है। क्योंकि कबीर वाणी के कोई भी हस्तलिखित रूप समकालीन नहीं होकर, कालान्तर में लिपिबद्ध किये हुए हैं। कबीर-वाणी का तथाकथित प्राचीनतम रूप संवत् 1561 में बनारस में लिपिबद्ध हुआ था- 'इति श्री कबीर जी की वाणी संपूरण। साखी 810/ अंग 99/पद602/राग 15 सम्पूर्ण संवत् 1561। *लिप्यकर्ता वाणारस मध्य खेमचंद पठनारथ, मलुकदास।''*

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि इस प्रति में, उक्त संवत् सम्बन्धी लिपि मूल प्रति से भिन्न होने से संदिग्ध है। संतकबीर का राजस्थान निवास निश्चित नहीं है। इनका सम्पूर्ण जीवन मुख्यत: बनारस में ही व्यतीत हुआ। तथापि आश्चर्य की बात है कि कबीरवाणी, विषय के साथ ही भाषा की दृष्टि से भी राजस्थान से भी प्रभावित है। 'ढोला मारु रा दूहा' राजस्थानी काव्य का एक उत्कृष्ट प्राचीन काव्य है, जिसके कतिपय दोहे हेमचन्द्राचार्य ने (12वीं सदी) में अपनी सुप्रसिद्ध व्याकरण में भी उद्घृत किये हैं (लेखक का राजस्थानी साहित्य का इतिहास) ढोला मारु रा दूहा के अनेक दोहे यथावत् कबीरवाणी में सम्मिलित हैं।

राति जसारस कुरलिया, कुरली भरे सब ताल।
जाकी जोड़ी बिछड़ी, तिणका कंवण हवाल॥

भाव की दृष्टि से ''ढोला मारु रा दूहा'' आदि कबीरवाणी में सम्मिलित हैं। कबीर की साखियों के अनेक विषय भी राजस्थान से प्रभावित हैं। यथा सूरातनको अंग और सतीको अंग आदि।

'मनरे मते मत चाल' कबीर की पंक्ति, राजस्थानी के सुप्रसिद्ध लोकगीत ''नागजी''

में भी गायी जाती है। लेखक की "राजस्थान का सन्त साहित्य" पुस्तक में प्रस्तुत अनेक रचनाओं में कबीरवाणी का साम्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। वर्तमान में भारत सरकार के सहयोग से संचालित एक परियोजना के माध्यम से लगभग 12000 मौखिक परम्परागत गेय रचनाऐं प्राप्त हो चुकी हैं। उनमें संतो की वाणियां और राजस्थान के जन-प्रचलित गेय रूप भी प्राप्त हुए हैं। कबीर, मीराँ, चन्द्रसखी, धर्मदास मीणा और कबीर की पुत्री कमाली तथा कबीर शिष्य धर्मदास आदि की रचनायें भी, इनमें सम्मिलित हैं। जन-प्रचलित इन मौखिक रूपों से कबीर-वाणी के प्रामाणिक पाठ - निर्धारण में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता है।

इन रचनाओं को ध्वनि संकलन यंत्रों की सहायता से स्वरबद्ध किया गया है, जिनसे इनकी बहुविध उपयोगिता है। अधिकांश संत-वाणियां गेय होने से, इनमें संगीत तत्वों की प्रधानता है। ये वाणियां सम्पूर्ण देश के कोने-कोने में लोक गायक मण्डलियों के माध्यम से लोक-वाणी के रूप में जन-जन में प्रतिष्ठित हैं और इनका यही संगीत रूप मुख्य है। अतएव इनका तुरन्त ही व्यापक सर्वेक्षण, ध्वनि-संकलन, अनुसंधान, अध्ययन और स्वरलिपियों सहित प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। ऐसी रचनाओं के कतिपय उदाहरण स्वरलिपियों सहित मूल लेख में संलग्न किये गये हैं।

भजन कबीर

जल केरी बूंद पवन केरा थांबा रामा नाम लियां निसतारो रे।
झूठा बोल्या थारो कई पतियारो रे, मनलोभी थारो कई पतियारो रे॥

उगा उगा भाण पच्छम जाय पूगा रामा धुरजी ने लागो धोरो रे।
जल गयो तेल बुझण लागी बतियां रामा मंदिर्यां में घोर अंधारो रे॥ (झूलणा)

ले'र कटोरियो शहर माहें फरियो रामा नहीं मिलियो तेल उधारो रे।
उठ गयो बाणियो सूनी पड़ी हटड़ियां रामा॥

हटड़ियां में दीखे हड़तालो रे, जातोड़े लगायो मोटो तालो रे।
लद गयो बणजारो ने पड़ियो रे लाढ़ाणो रामा॥

जातोड़े लगायो ललकारो रे हरिहर जातोड़े लगायो मोटो हाको रे।
भणत कबीरा सुणो भाई साधो रामा, नाम लियां निसतारो रे॥

स्वरलिपि (ताल-कहरवा)

रे - रे म ज ऽ ल ऽ	रे - सा - के ऽ की ऽ	सा - - - बूं ऽ ऽ ऽ	सा - सा - द ऽ प ऽ
सा रे रे प व ऽ न ऽ	(प) - म - के ऽ रा ऽ	म रे - रे - थां ऽ बा ऽ	सा - सा - रा ऽ मा ऽ
- - सा प ऽ ऽ ना ऽ	प - प - म ऽ लि ऽ	प - - - यां ऽ ऽ ऽ	प - प म नि ऽ स ऽ
म नी ध नी ता ऽ ऽ ऽ	प ध - प रो ऽ ऽ ऽ	प - - रे रे ऽ ऽ ऽ	रे म म ग झू ऽ ठा ऽ
रे ग ग रे बो ऽ ल्या ऽ	सा नी सा - था ऽ रो ऽ	- - रे रे ऽ ऽ क ई	- म - प ऽ प ऽ ति
प ध - प या ऽ ऽ ऽ	म - - ग रो ऽ ऽ ऽ	रे - - - रे ऽ ऽ ऽ	म - म ग म ऽ न ऽ
रे ग ग रे लो ऽ भी ऽ	सा नी सा - था ऽ रो ऽ	- - रे रे ऽ ऽ क ई	- म - प ऽ प ऽ ति
प ध - प या ऽ ऽ ऽ	म - - ग रो ऽ ऽ ऽ	रे - - - रे ऽ ऽ ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ
- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ	ग - सा नी ऽ ऽ ऽ ऽ	सा - - - ऽ ऽ ऽ ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ
- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ

शेष गीत भी इसी धुन में गाया जाता है।

लोक भजन

जोबन धन पामणो दिन चारां, यां रो गरब करे सो गंवारा ॥ जोबन ॥
हाड़ मांस री बनी रे पुतलियां मांहें भरी अंगारा ।

लोई चामड़ों रंग जो कीनो कारीगरी किरतारा ॥ जोबन ॥
पशु खाल रा बणत पनैया नोपत मंढ़त नगारा ।

नर थारी खाल कई काम न आवे, बलझल भई अंगारा ॥ जोबन ॥
एकलख पुत्र सवालख न्याती रावण वौपारिवारा।

बड़े बड़े जोधा गिरद मांय मर गये लंका रा सिरदारा ॥ जोबन ॥
सोने का गढ़ महल कांगरा सोने का घर बारा ।

रत्ती सोनो काम न आयो रावण मरती बारा ॥ ज़ोबन ॥
यो संसार औस रो पाणी जाता नी लागे बारा ।

कहत कबीर सुणो बाई साधौ जीणा दो दिन चारा ॥ जोबन ॥

स्वरलिपि (ताल-कहरवा)

			सा ग जो ऽ
ग – ग – ब ऽ न ऽ	ग – ग – ध ऽ न ऽ	– रे ग प ऽ ऽ पा ऽ	म – म – ऽ ऽ म ऽ
ग – रे ग णो ऽ ऽ ऽ	सा – सा – दि ऽ न ऽ	सा – सा – चा ऽ रा ऽ	– – – – ऽ ऽ ऽ ऽ
– – सा प ऽ ऽ यां ऽ	प – – – रो ऽ ऽ ऽ	– – मे प ऽ ऽ ग र	प – प रे ब ऽ क ऽ
रे ग – रे रे ऽ ऽ ऽ	ग प प – सो ऽ गं ऽ	म – ग – वा ऽ रा ऽ	रे सा, सा ग ऽ ऽ, जो ऽ

अंतरा

– – प –	नी – नी –	– – सा –	सा – – –
– – हा ऽ	ड ऽ मां ऽ	ऽ ऽ स ऽ	री ऽ ऽ ऽ
– – प –	नी – नी –	सा – सा –	रे ग ग रे
ऽ ऽ ब ऽ	नी ऽ रे ऽ	पु ऽ त ऽ	लि ऽ यां ऽ
– – ग प	म – म –	ग – रे ग	सा – सा –
ऽ ऽ मां ऽ	हैं ऽ भ ऽ	री ऽ ऽ ऽ	अं ऽ ऽ ऽ
सा – सा –	– – – –	ग म प ध	नी सां नी –
गा ऽ रा ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	हां ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
– – नी –	नी – नी –	– – नी –	सां नी ध नी
ऽ ऽ लो ऽ	ई ऽ चा ऽ	ऽ ऽ म ऽ	ड़ो ऽ ऽ ऽ
– – नी सां	सां – सां –	नी – – –	सां – – –
ऽ ऽ रं ऽ	ग ऽ जो ऽ	की ऽ ऽ ऽ	नो ऽ ऽ ऽ
नी प प नी	नी – नी –	सां नी (सां) –	नी – ध –
ऽ ऽ का ऽ	री ऽ ग ऽ	री ऽ ऽ ऽ	कि ऽ र ऽ
प – म –	ग रे, सा ग		
ता ऽ रा ऽ	ऽ ऽ जो ऽ		

शेष अंतरे भी इसी प्रकार गाये जाते हैं।

लोक भजन

भजन बिन कठै बतावेला मूंडो
जनम दीनो रे जीण ने भारिया, उण रो लगायो भूंडो।
सत सायब आगे कोल कर आयो, मूंडो है के थारो टूंडो
गरब गटूरी मिली रे भारजा, घर छोड़्यो न ढूंढो
धरमराज थारो लेखो पूछे बंदा, माथे नरक रो कूंडो
यो संसार अखंड जल भरियो नाव लगे नही डूंडो
करमहीन कादा मांय पड़ियों ज्यूं ज्यूं जावे ऊंडो
अमृत छोड़ भाई जहर क्यूं पीयो ओ कई सूझ्यो भूंडो
भगत कबीरा सुणो भाई साधौ आगे मारगियो ऊंडो

स्वरलिपि (ताल - कहरवा)

			सा ग
			भ ऽ
ग – ग –	ग – ग –	ग रे ग प	म – म –
ज ऽ न ऽ	बि ऽ न ऽ	ऽ ऽ क ऽ	ठै ऽ ब ऽ
ग़ – – रे	सा – रे –	नी – सा –	– – सा ग
ता ऽ ऽ ऽ	वे ऽ ला ऽ	मूं ऽ डो ऽ	ऽ ऽ भ ऽ
		अंतरा	
– – प प	नी – नी –	सा – – –	सा – – –
– – ज न	म ऽ दी ऽ	नो ऽ ऽ ऽ	रे ऽ ऽ ऽ
– – प प	नी – – –	सा – सा –	रे ग रे ग
ऽ ऽ जी ण	ने ऽ ऽ ऽ	भा ऽ रि ऽ	या ऽ ऽ ऽ
– – ग प	म – म –	ग – – रे	सा – सा रे
ऽ ऽ उ ण	रो ऽ ल ऽ	गा ऽ ऽ ऽ	यो ऽ ऽ ऽ
नी – सा –	– – – –	– – सा प	प – – –
भूं ऽ डो ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ स त	सा ऽ ऽ ऽ
प – प –	प – प –	– म प नी	– नो नी नी
य ऽ ब ऽ	आ ऽ गे ऽ	ऽ ऽ को ऽ	ऽ ल क र
नी ध सां नी	ध प – –	– – प ध	ध – ध –
आ ऽ ऽ ऽ	यो ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ मूं ऽ	डो ऽ है ऽ
प – – –	म – म ग	रे ग ग –	रे सा सा ग
के ऽ ऽ ऽ	था ऽ रो ऽ	टूं ऽ डो ऽ	ऽ ऽ भ ऽ

लोक भजन

यां तो भेद बतावो ब्रह्मचारी, यां में कौन पुरुष कौन नारी॥

ब्राह्मण के घर होई रे ब्राह्मणी साधु के घर में चेली
काजी के घर होई रे तुरकड़ी कलमा पढ़ पढ़ हारी॥ यां में ...

ना मैं तो परणी ना मैं कुंवारी पुत्तर जण जण हारी
सुसरो म्हारो अस्सी बरस रो सासू भोली भाली॥ यां में ...

पियु रे म्हारो झूले रे पालणे झूला झुलावत हारी
काली मूंडी रो एक न छोड़्यो रहगई अखंड कुंवारी॥ यां में ...

कहत कमाल कबीरा री लड़की आद भवानी री मूं चेली
अणी भजन री करले तूं खोजना, आवागमन मिट जासी॥ यां में ...

स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

		·	सा सा यां को
रे म म भे द ब	पप - ध प तावो ऽ ब्र म्ह	ध - प चा ऽ री	- - म प ऽ ऽ या में
ध प म कौ न पु	गग - रे रेसा रष ऽ को नऽ	रे - सा ना ऽ री	- - सा सा ऽ ऽ यां को
		अन्तरा	
-	र	0	ई
ग ग म ब्रा ह्म ण	रे - सा सा के ऽ घ र	रेरे म म होई रे ब्रा	पध - नीध नी म्हऽ ऽ णीऽ ऽ
पध ध ध साऽ धु के	पध - प म घर ऽ में ऽ	मप प - चेऽ ली ऽ	- - - - ऽ ऽ ऽ ऽ
प प ध का जी के	सां - सां - घ ऽ र ऽ	रेंरें रें सां होई रे तु	रेंरें - सां - रक ऽ ड़ी ऽ
सांसां सां - कल मा ऽ	नीनी - ध धप पढ़ ऽ प ढ़ऽ	ध - प हा ऽ री	- - म प ऽ ऽ या में

कौन पुरुष, कौन नारी ...., शेष अंतरे भी इसीप्रकार गाये जाते हैं।

एम.ए., पीएचडी, साहित्य रत्न,
उदयपुर

❑❑

राजस्थानी निर्गुण सन्त-साहित्य की प्रमुख विशेषतायें

— डॉ. ब्रजलाल वर्मा

'सन्त' शब्द संस्कृत भाषा का पुल्लिंग शब्द है, जिसका अर्थ- दोनों हाथों की अंगुलियां होता है। किन्तु उपासना पद्धति के, जिस साम्प्रदायिक सन्दर्भ में, इस शब्द का प्रयोग किया गया, वह संस्कृत के 'सन्त' शब्द से सर्वथा असम्बद्ध है। वस्तुतः तेरहवीं-चौदहवीं शती में बारकरी (बिट्ठल बिठोबा) सम्प्रदाय में सन्त शब्द का, सबसे पहले प्रयोग किया गया था, जिसका अर्थ है- उस सम्प्रदाय में दीक्षित साधु अथवा साधक। इसी बिट्ठल सम्प्रदाय में सन्तज्ञानेश्वर और सन्तनामदेव जैसे महात्मा हुए। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ज्ञानेश्वर थे अथवा नामदेव, इस सम्बन्ध में विद्वज्जनों में मतवैषम्य है। यह सम्प्रदाय निर्गुणोपासक वैष्णव सन्तों का सम्प्रदाय था। कालक्रम से शनैः शनैः सन्त शब्द का प्रयोग निर्गुण-सगुण उपासना से सम्बद्ध, सभी महात्माओं तथा साधुओं के लिए होने लगा- उदाहरणार्थ 'सन्त कबीर', 'सन्त तुलसीदास' आदि। किन्तु सन्त-साहित्य के अध्येताओं एवं समीक्षकों ने सन्त शब्द का प्रयोग अधिकांशतः निर्गुणोपासक महात्माओं के लिए ही किया है।

भारत के निर्गुण सन्तों के जीवन का घटनाचक्र, साधनानन्यता, विपुल मनोरम अनुभूतियां, चिन्तन प्रकृष्टता, मौलिक ऊहाएं एवं उद्भावनाएं, साहित्यिक मनोज्ञता, आचार वैचित्र्य तथा संत स्वभाव सुलभ वैलक्षण्य, उनके व्यक्तित्व के क़तिपय ऐसे अद्भुत पटल हैं, जो दृष्टि निक्षेप मात्र में किसी के भी हृदय को सहज विमुग्ध कर देते हैं। निर्गुण संतसाधना में सगुण उपासना के माधुर्यभाव के लिये कोई स्थान नहीं है, उसका मुख्य कारण यह है कि निर्गुणोपासक सन्तों ने संसार के प्रति कठोर विरक्ति अपनायी। उनको यह संसार निस्संशय ही मिथ्या, मृगतृष्णा, गंधर्वनगर, शीतकोट, जलबुदबुद, मॉडल का भवन, माया का मन्दिर तथा क्षणभंगुर प्रतीत होता था।

कबीरदास के समयुगीन साधक, सन्त हरिदास निरंजनी थे, जो निरंजनी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। हरिदासजी का अपर नाम हरिपुरुषजी भी था। वे निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए भी, गोरखनाथ की, हठयोग साधना तथा उनकी भाषा से अधिक प्रभावित

थे। इन दोनों निर्गुणोपासक सन्तों के पारस्परिक प्रभाव को लेकर दादू संस्कृत महाविद्यालय जयपुर के निरंजनी साधक, स्वर्गीय मंगलदास स्वामी और सन्त साहित्य के विद्वान् स्वर्गीय पं. परशुराम चतुर्वेदी में मतभेद था। एक सन्त हरिदास का प्रभाव कबीर पर मानते थे और दूसरे कबीर का प्रभाव हरिदास निरंजनी पर। तथापि निर्गुण सन्त उपासना का प्रर्वतक सामान्यत: कबीर को ही माना जाता है। निर्गुणोपासक सन्त कवियों में कबीर रविदास, नानक और दादू प्रमुख हैं, जिनके नाम से अलग-अलग पंथ भी चले। इन्हीं निर्गुण सन्तों के काव्य में, जिन प्रमुख विशेषताओं का दर्शन होता है, उन्हीं का संक्षिप्त विश्लेषण, यहां हमारा मुख्य प्रयोजन है।

भारतीय संत परम्परा अपनी धार्मिक एवं दार्शनिक अनुभूतियों में शंकर के अद्वैत से, वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व से, शैवों एवं नाथपंथियों के प्राणयोग अथवा हठयोग से, सूफियों के एकेश्वरवाद और प्रेम की पीर से, बौद्धों के अहिंसा और करुणाभाव से एक साथ प्रभावित लक्षित होती है। किन्तु प्रभाव और अनुकरण भिन्न व्यापार हैं। किसी वस्तु अथवा व्यापार की समग्र अनुकृति में भेद अथवा भिन्नता के लिये कोई अवकाश नहीं रहता, परन्तु किसी वस्तु का प्रभाव प्रभावित व्यक्ति के हृदय में, उस वस्तु की त्रुटियों के प्रति तिरस्कार तथा उसकी विशेषताओं के प्रति स्वीकार का भाव उत्पन्न कर सकता है। कभी-कभी तो वस्तु का प्रभाव वस्तु से, सर्वथा भिन्न तथा विरोधी निष्कर्षों को जन्म देता है। भारतीय निर्गुणोपासक सन्तों में हमें इसका जीवन्त निदर्शन प्राप्त होता है। ये संत उपर्युक्त विचारधाराओं से प्रभावित तो हुए, परन्तु साथ ही उनकी त्रुटियों का निर्मम भाव से खंडन भी किया।

राजस्थान के निर्गुण सन्त साहित्य में विधि निषेधमूलक जिन सिद्धान्तों एवं चर्याओं का प्रवर्तन हुआ, वे निस्सन्देह मानवता के विराट् धरातल पर स्थापित थी। सुविधा के लिये हम निर्गुण सन्तों की निषेधपरक वर्जनाओं को पांच श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। 1. जाति-पांति का निर्मम खण्डन, 2. मूर्तिपूजन का विरोध, 3. पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा, 4. व्रत, पूजा एवं तीर्थ स्थानों का तिरस्कार, 5. साधक की बाह्य सज्जा और मिथ्या बाह्याचार का निरसन। विधिमूलक अनुदेशों की भी पांच श्रेणियों हो सकती हैं। सद्गुरु की उपासना, 2. पक्षातीत सहज साधना, 3. मनोनिग्रह, 4. ग्रंथ तथा सम्प्रदाय विनिर्मुक्त भक्ति, 5. एक ब्रह्म की उपासना (एकेश्वरवाद)। इन विधियों और निषेधों की उद्भावना के मुख्य स्रोत थे, ब्रह्मवादी हिन्दू दर्शन तथा इस्लामी सूफीमत।

निर्गुण ब्रह्म साधना तथा सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कबीर, हरिदास निरंजनी, रविदास, नानक, दादू तथा इनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा एकरूप हुआ। राजस्थान के निर्गुण

सन्त-साहित्य की प्रमुख विशेषता के आधार भी यही विधि-निषेधमूलक तत्व हैं और यही उसके प्रमाणभूत लक्षण भी।

यहाँ पर हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि, निर्गुण सन्त-साहित्य का उन्मेष और विस्तार, क़बीर की काव्य साधना में ही हुआ। सन्त रविदास और क़बीर के दर्शन का मूलउत्स भी एक ही था। दोनों ही आत्मा को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते थे। एक कहता था, ***'सलिल गवन कियो लहर महोदधि जल केवल जल माहीं',*** तो दूसरे की मान्यता थी, ***'फूट कुम्भ जल जलहिं समानां',*** इस प्रकार हम निर्भ्रान्त रूप से कह सकते हैं कि माया, जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में सभी निर्गुण सन्तों की धारणा एक है। यत्किंचित् अन्तर के साथ सभी निर्गुण सन्त, हिन्दू समाज की पुराणपंथी परम्पराओं के घोर विरोधी हैं। सभी सामाजिक विषमता रहित मानवी विभूति सम्पन्न समाज का पक्ष-पोषण करते हैं। यह अत्यंत विलक्षण प्रसंग है कि कबीर उत्तर प्रदेश के, नानक पंजाब के, दादू राजस्थान के, किन्तु साधना एवं समाज के सन्दर्भ में सभी की धारणा एवं दृष्टिकोण समान थे।

इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक हिन्दू धर्मोपासना, मिथ्या बाह्याचारों एवं आडम्बरों के क्लेशकर बंधन में जकड़ गई थी। राजस्थान के निर्गुणोपासक सन्त यह अनुभव कर रहे थे कि स्वर्ग-नरक की निराधार प्रेरणाओं एवं प्रताड़नाओं के कठोर नियन्त्रण में सच्चे धर्म की आत्मा कराह रही थी। विधि-निषेधों के मिथ्या तुंग स्तूपों को मानव हृदय आमूल ढ़हा देना चाहता था, किन्तु बारम्बार के प्रयासों के बाद भी वह विवश होकर बैठ जाता था। सच्चे मानव धर्म की वेदी को रुढ़ियों ने ऐसा आच्छादित कर लिया था कि, वहां मानव हृदय का श्रद्धा-संवलित भाव घोर अविश्वास, अप्रतीति तथा अशान्ति का अनुभव कर रहा था। राजस्थान के निर्गुणोपासक सन्तों ने बाह्याचारों, धर्म-रुढ़ियों तथा अंधविश्वासों के उन मिथ्या श्रृंगों को अपनी- "बानी" के बज्रप्रहार से ढ़हाने का अमोघ प्रयत्न किया। उनका यह प्रयास अत्यन्त परिणामवाही सिद्ध हुआ। उनकी आध्यात्मिक अन्तस्साधना के निर्देशों एवं उपदेशों ने हिन्दू-धर्म की आधारहीन मान्यताओं और पुरोहिती प्रपंचों का भण्डाफोड़ कर दिया। राजस्थान की भूमि निस्सन्देह वीर प्रसवी रही है। वह भारत के पराक्रम, शौर्य और बलिदान की साक्षी रही है, किन्तु धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों एवं अन्ध-विश्वासों के बज्रकोटों का सिंहद्वार राजस्थान के वीरनरेश भी नहीं खोल पाते थे। एक ओर वे अपनी रियासतों के स्वामी थे, तो दूसरी ओर वे कुरीतियां थीं, जो उन रियासतों में अव्याहत स्वतंत्र रूप से शासन कर रही थीं। ऊंच-नीच, छुआछूत, वर्ण-व्यवस्था तथा जातिप्रथा की जघन्य अर्थहीन जड़

परम्पराओं का गढ़ तोड़ने में वहां का राजपूती शौर्य सर्वथा असफल था:- प्रत्युत् वहां के वीरपुंगव राजपूत स्वयं भी इस सामाजिक विषमता के शिकार थे। किन्तु राजस्थान के सूफी निर्गुणोपासक वैष्णव सन्तों ने उन अमानवीय परम्पराओं के कठिन दुर्ग को अपनी प्रभावोत्पादक वाणी से धराशायी कर दिया। इन सन्तों की वाणी का अमोघ प्रभाव न केवल राजस्थान में प्रत्युत् समूचे भारत में कालान्तर से दृग्गोचर हुआ। कहना चाहिये कि जो कार्य राजपूती शौर्य शस्त्रों द्वारा नहीं कर सका, उसे शस्त्रविहीन निर्गुणसन्तों ने अपनी वाणी से कर दिया।

राजस्थान की निर्गुण सन्तसाधना को पतंजलि के योगशास्त्र ने एवं गोरखनाथ की बानी और संस्कृत में उनके द्वारा लिखी योगपरक कृतियों (हठयोग प्रदीपिका आदि) ने प्रभावित किया, किन्तु यहां पर यह ध्यान देना होगा कि समग्र निर्गुण सन्त-साधना सहज दर्शन पर विश्वास करती थी। हठयोग के पारिभाषिक शब्दों का भले ही इन सन्तों ने अपने काव्य में प्रयोग किया हो, किन्तु इनकी आस्था का मुख्य केन्द्र सहज साधना थी। माला, छापा, तिलक, मुद्रा, सींगी आदि के लिए निर्गुण साधना में कोई स्थान नहीं था। निर्गुण सन्तों ने एक ओर अपनी साधना और साहित्य को रामानुज और रामानन्द की जातिविहीन धर्मसाधना से अलंकृत किया, तो दूसरी ओर शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से मण्डित किया। एक ओर उन्होंने भगवान बुद्ध की अहिंसा और करुणा को हृदयंगम किया, तो दूसरी और मुसलमान सूफी फकीरों के सार्वभौम इश्क (भक्ति) को अपनाया। इसीप्रकार इस निर्गुण सन्त साहित्य ने वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों और पुराणों के साक्ष्यों का सतर्क खण्डन किया। निर्गुणसन्त वेश, परिधान, आचार और साधना में सादगी के पोषक थे। श्वेत वस्त्रों का प्रयोग प्रायः सभी निर्गुणोपासक सन्तों में प्रचलित था। दादूपंथी महात्मा दादू-द्वारों में दादूबानी के साथ ही कबीरबानी और गुरु ग्रंथसाहब का भी पाठ करते थे। प्रभाव एवं वैलक्षण्य की दृष्टि से सम्पूर्ण निर्गुण सन्त साहित्य में दादू के शिष्य पठान कवि संतरज्जब का काव्य कई दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट है। मैंने अपनी पुस्तक 'संतकवि रज्जब' में औपम्य विधान के सन्दर्भ में रज्जबजी को हिन्दी काव्य का कालिदास घोषित किया था। विलक्षण अभिनव उपमान रज्जबजी के काव्य को अनन्य और अद्वितीय सिद्ध करने की क्षमता रखते हैं। छोटे सुन्दरदास के काव्य में भाषा और दर्शन की शास्त्रीयता अधिक है। निश्चलदास का काव्य भी प्रायः दार्शनिक है। निर्गुण सन्तों के साहित्य की जिस विशेषता का उल्लेख हमने पीछे श्रेणी विभाजन में नहीं किया, वह है, उसकी भाषा और संगीत पक्ष। कबीर, नानक तथा दादूपंथी साहित्य में सगुणोपासक कवियों के काव्य की भांति ही गेय तत्व सर्वत्र विद्यमान है। उसे शास्त्रीय संगीत की तानों और तालों में सुविधा से गाया जाता है। जहां तक भाषा का प्रश्न

है- कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम से अभिहित किया गया है। भाषा का यह रूप राजस्थान के सभी निर्गुण सन्तों में पाया जाता है, किन्तु उनकी भाषा में डिंगल, पिंगल, अपभ्रंश तथा फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, जबकि कबीर में उत्तर प्रदेश की बोलियों के ग्राम्य प्रयोग अधिक मिलते हैं। फिर भी भाषा में न्यूनाधिक अन्तर से समानता के पर्याप्त लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

अंत में हम जयपुर के दादू संस्कृत महाविद्यालय के स्व. प्राचार्य मंगलदास स्वामी के एतद्विषयक वक्तव्य से अपने विषय का उपसंहार करेंगे, जो उन्होंने मेरे द्वारा सम्पादित 'रज्जबबानी' की अनुशंसा में लिखा था। *"सन्त साहित्य निर्दोष मानसिक खुराक है। इससे मनुष्य में उन दैवी गुणों का उत्कर्ष होता है, जिनसे समाज का महत्व बढ़ता है। नैतिकता के उत्पादन व पोषण के लिये जनसमाज के हाथ में संत साहित्य जाना चाहिये। संस्कृत भाषा में ऐसा साहित्य विपुल है। पर वह जनसाधारण की समझ से बाहर है। जनसाधारण की मनोमयी भावना पर मानवीय उत्कृष्ट गुणों के लिये संत साहित्य रसायन का कार्य करता है।"* राजस्थान की सैकतधरा कितनी उर्वरा है कि, जिसमें युद्धवीर एवं त्यागवीर साथ-साथ जन्मे। यहां अध्यात्म और भौतिकता का गंगा जमुनी संगम अप्रकट 'सरस्वती' को हृदयंगम किये समवेत प्रवाहित हुआ।

अतः राजस्थान के इन पावनसिकता कणों, उसकी पार्वती दृश्यावली और उसके बहुमुखी ऐश्वर्य की वेदी में जन्मी निर्गुण संत-साधना को हम अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हैं।

बी-463, बर्रा-7, कानपुर

❑❑

सन्त-साहित्य में लोकजीवन

— डॉ. ओंकार नारायण सिंह

संत-साहित्य के प्रणेता भक्त-कवियों ने समकालीन दरबारी साहित्यकारों के वृत्ति-भोगी राज्याश्रित जीवन, पूर्वाग्रह और रागद्वेष युक्त विचार-दृष्टि तथा तथ्य-विलोपन अथवा विरूपण एवं अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की लेखनशैली के सर्वथा विपरीत राज्याश्रय का तिरस्कार करते हुए, राजकीय वर्गों के वर्णनों की लगभग उपेक्षा को श्रेयस्कर समझने का प्रयास किया। फलस्वरूप प्रत्येक लालसा, द्वन्द्व तथा भय-आतंक से विमुक्त, इन संतों के स्वतंत्र, स्वानुभूतिपरक एवं स्वान्तः सुखाय उद्‌बोधनों के अन्तर्गत समकालीन जीवन-व्यवहार के यथार्थ प्रतिबिंब के अन्वेषण की अपार संभावनाऐं हैं।

यद्यपि लोकजीवन का निरुपण तो दूर साहित्य-सृजन भी संत-कवियों का मूल अभिप्रेत नहीं था, उनका अभीष्ट स्वानुभूतियों की स्वान्तः सुखाय अभिव्यंजना तथा उनके माध्यम से लोक-कल्याण का अर्जन मात्र था तथापि प्रकारान्तर से प्राप्त संकेतों एवं अपने चिन्तन को लोक-व्यवहारपरक सुबोधता प्रदान करने हेतु प्रयुक्त प्रतीक, रूपक, उपमा, अंलकारों द्वारा न केवल तत्कालीन समाज की परिस्थितियों प्रत्युत् लोकजीवन के विशिष्टतम पक्षों को प्रकाशित करना भी संभव प्रतीत होता है। कारण कि भक्त कवि समाज के अत्यन्त साधारण वर्ग से संबंधित होने तथा साधनाकाल में भी निरन्तर संपृक्त रहने के परिणामस्वरूप सामान्य लोकव्यवहार से अन्तरतम तक परिचित हो चुके थे। इसलिए उनकी लागलपेट रहित जानकारी उनकी रचनाओं के अन्तर्गत अनायास ही समाविष्ट हो गई।

सन्त-साहित्य के अन्तर्गत लोकजीवन के विविध पक्ष :-

क. समाज :- संत-साहित्य के अन्तर्गत समाज के पारम्परिक चतुर्वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ-साथ इतर डोम, चाण्डाल, भील, भोपा, आदि जातियों के संकेत मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक व्यावसायिक जातियों यथा-जुलाहा, धुनिया, मोची, तेली, माली, दर्जी, बढ़ई, सुनार, लुहार, कुम्हार, जौहरी, भड़भूजा, धोबी, रंगरेज,

दलाल, तंबोली, जाट, नाई, गूजर, अहीर, कलाल, कसाई आदि के विषय में निर्देश उपलब्ध होते हैं।

समाज की विविध प्रथाओं के अन्तर्गत दास-प्रथा, पर्दा-प्रथा एवं सती-प्रथा के संबंध में निर्देश प्राप्त होते हैं। समकालीन विकृतियों के संदर्भ में वेश्यावृत्ति, द्यूत, मद्यपान, मांसाहार, अफीम तथा भंग-सेवन को निर्दिष्ट किया गया है।

शिक्षण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में तख्ती, लेखनी, वर्णमाला के बावन अक्षरों, व्याकरण, वैद्यक, षट्दर्शन और वेद शास्त्रादि के अध्ययन एवं अरबी-फारसी की पढ़ाई विषयक संकेत मिलते हैं।

आहार-विहार के अन्तर्गत आटा, मैदा, चावल, रोटी-साग-खिचड़ी, खीच, सत्तू, खीर, घेवर, लड्डू, लापसी, मगद, सोलमा, सीरा, दूध, दही, छाछ, राब आदि निरामिष आहारों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मांस-बकरा, मुर्गा, हरिण के अलावा कबाब और मछली के निर्देश उपलब्ध होते हैं।

आवास-व्यवस्था के क्रम में जहां सामान्य वर्गों हेतु चौक, पौरि, घर-आंगन के उल्लेख हैं, वहीं विशिष्ट वर्गों हेतु कनक-सज्जित आवास, महल, गढों, कोठियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। सरायों के निर्देश भी मिल जाते हैं।

वाहनों के सन्दर्भ में बैलगाड़ी, ऊंट, घोड़ा, हाथी की सवारी के साथ-साथ पालकी-सुखपाल और रथ की चर्चा हुई है।

परिधानों के अन्तर्गत अंगरखा, धोती, चोला, साफा, टोपी इत्यादि पुरुषों के लिये थे। ओढ़नी, चुंदड़ी, साड़ी, अंगिया, चोली, दुपट्टा, लहंगा, आदि महिलाओं के वस्त्र निर्दिष्ट हुए हैं। शाल, दुशाले, रजाई, तकिया, पथरना, कंबल, दुलीचा आदि के भी उल्लेख हैं।

आभूषणों के परिप्रेक्ष्य में माला, कड़ा, अंगूठी सेहरा, बाजूबन्द, राखड़ी, नथ, मुंदरी, दुलड़ी, नेवरी, झूमर, तिमणिया, जेलड़, पायल, बिछियां, चूड़ा, गूजरी, पहुंची, चूंप, नकबेसर आदि के संकेत हैं।

मनोरंजन के साधनों में चौपड़, पतंगबाजी, कठपुतली, भांड-गवैये, बाजीगर के खेल आदि के अतिरिक्त चौगान, शिकार, तैराकी, कुश्ती के निर्देश प्राप्त होते हैं।

ख. परिवार :- युगीन पारिवारिक जीवन के संदर्भ में पति-पत्नी, सास-ससुर, देवर-जेठ, ननद-भाभी के पारस्परिक व्यवहार विशेषत: पति-पत्नी के ऐकान्तिक संबंधों की अन्यतम प्रतीतियां एवं संवेदनाएं चित्रित हैं। ससुराल के अतिरिक्त पीहर तथा मोसाल

की चर्चा भी मिलती है। 'सौत' का उल्लेख प्रकारांतर से हुआ है। समकालीन विभीषिकाओं के अन्तर्गत पुत्री को प्राय: अनेकानेक आशंकाओं का कारणभूत माना गया है।

विविध संस्कारों के क्रम में जन्म, उपनयन, सगाई, विवाह, अन्त्येष्टि के निर्देश उपलब्ध होते हैं। तत्कालीन मुस्लिम समाज के परिप्रेक्ष्य में 'तलाक' का उल्लेख है।

प्रमुख उत्सवों के अन्तर्गत होली, गणगौर, तीज तथा सावन के सजीव एवं आलंकारिक चित्र निदर्शित हुए हैं।

ग. लोक-विश्वास :- युगीन सामान्य लोक-विश्वासों के सन्दर्भ में अतिमानवीय शक्तियां, तंत्र-मंत्र, शकुन-मुहूर्त्त और सौगन्ध आदि के विषय में चर्चा हुई है। इसके अतिरिक्त भाग्यवादिता, कर्मवाद, परलोक-पुनर्जन्म, ग्रह-नक्षत्र-ज्योतिष-चमत्कार आदि से संबंधित अनेकशः उल्लेख हैं।

घ. धर्म :- धार्मिकपक्ष के अन्तर्गत संतों ने कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, बाह्याडम्बर, व्रत-तीर्थ, जाति-कुलगत भेंट के स्थान पर नामस्मरण, सत्संग, गुरु-कृपा, समता, भाव-भक्ति एवं पूर्ण समर्पण की महत्ता निर्दिष्ट करते हुए सर्वधर्मसमभाव, समन्वयपरकता, विश्वकल्याण विषयक उपदेश बहुविध दिए हैं। साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि के परिहार के अभाव में प्रत्येक साधना को निरर्थक और निष्फल घोषित किया है।

संत-साहित्य के माध्यम से समकालीन धार्मिक जीवन के कर्मकांड, मूर्तिपूजा, विविध वेश बहुदेववाद, अवतारवाद, तीर्थाटन, व्रत-स्नान, काशी-करवत आदि विश्वासों एवं विविध संप्रदायों तथा पूर्ववर्ती गुरुपरम्परा के संबंध में जानकारी मिलती है।

ङ. प्रशासन :- लोकजीवी संतों की जगत् के प्रति संवेदनशीलता प्राय: त्रुटिपूर्ण राज-व्यवस्था, शोषण-उत्पीड़न, दंड-विधान की कठोरता, युद्ध-संघर्षों की निरन्तरता और राजन्य वर्गों की अहम्मन्यता के प्रति आलोचना, क्षोभ, तिरस्कार तथा उद्बोधन के रूप में अभिव्यक्त हुई है। प्रशासन-तंत्र के क्रम में बादशाह, राजा, दीवान, शिकदार, कोतवाल आदि अधिकारियों के नाम एवं दरबार-व्यवस्था, न्यायिक प्रशासन, दुर्ग-प्रबंधन और कर्मचारी-तंत्र के कार्यकलापों की रूपरेखा प्राप्त होती है।

च. अर्थव्यवस्था :- समकालीन शोषणपरक और विषमतागत आर्थिक परिस्थितियों के मार्मिक चित्रण के अतिरिक्त संत-साहित्य के अन्तर्गत "सुत-वित-दारा ऐषणा" के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन प्रवृत्तिगत अवमूल्यन के विषय में संकेत हैं। प्रतीकात्मक रूप से कृषि, पशुपालन, व्यापार वाणिज्य, लघुस्तरीय उद्योग-धंधों के क्रिया-व्यवहार को निरूपित

किया गया है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक व्यवस्था माप-तौल, धन-संचय तथा अकाल की विभीषिका विषयक उल्लेख प्राप्त होते हैं। उपार्जनार्थ परदेश गमन की विशिष्ट शृंगारिक अभिव्यंजना अनेकशः मर्मस्पर्शी रूपों में व्यक्त हुई है।

छ. कला-संस्कृति :- तत्कालीन लोकजीवन के सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत वास्तुशिल्प के विविध रूपों एवं कला-प्रकारों, मूर्तियों के गढ़े जाने तथा मंदिर के मध्य भाग में उनकी प्राण-प्रतिष्ठा की चर्चा हुई है। चित्रकला के क्रम में शिलाओं की कोर पर निर्मित चित्रों, चित्रित बेल एवं बर्तनों के निर्देश प्राप्त होते हैं। गीत-संगीत के संबंध में अनेक राग-रागिनियों और विभिन्न वाद्य उपकरणों यथा-तंबूरा, एकतारा, ढोल, मृदंग, नौबत, नगारा, चंग, झालर, घण्टा, करताल, तुरही, शंख, बाजा, सींगी आदि के उल्लेख़ हैं।

इतर विशिष्ट तथ्यों के अंतर्गत राजन्य वर्ग द्वारा महिलाओं हेतु सम्मान-प्रदर्शन की परम्परा के साथ-साथ नारी को उपभोग्या समझने संबंधी विरोधाभास के संबंध में संत-साहित्य में निर्भीक संकेत उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त समाज में व्याप्त ऋण ग्रस्तता और निर्धन वर्ग की दुर्दशा के मार्मिक उल्लेखों के साथ संत-कवियों द्वारा पनघट रूपक के माध्यम से समकालीन नारी-समाज की विविध अनुभूतियों एवं अपेक्षाओं की हृदयहारी सहज अभिव्यक्ति हुई है।

सारांशतः संत-साहित्य के माध्यम से मध्ययुगीन राजस्थान के लोकजीवन के विविध स्तरों में व्याप्त अनुभूति का परिवेशगत दबावों में मंद-स्वर भली-भांति मुखरित हुआ है। संत-साहित्य के सर्जकों की निःस्पृहता तथा निर्भीकता के कारण समकालीन साहित्यकारों की तथ्य विलोपन एवं चाटुकारिता पूर्ण प्रकृत्ति के स्थान पर स्वानुभूत यथार्थ अभिव्यक्तियां प्राप्त होती हैं। फलस्वरूप संत-साहित्य के विविध लोकव्यवहार परक प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों, उद्‌बोधनपरक तथा प्रकारान्तर शैली के उल्लेखों के अन्तर्गत तत्कालीन लोकजीवन का प्रत्यक्ष शैली में जो सजीव चित्रित प्रतिबिंबित हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वस्तुतः भक्तों-संतों ने निस्संगता और निर्भयता के अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित करते हुए "प्राकृतजन गुणगान" के स्थान पर नित्य सत्य परम तत्व से स्वयं को संयुक्त कर सांसारिक प्रवृत्तियों की आधात्मिक व्याख्या द्वारा समग्र लोकजीवन को सांस्कृतिक अधिष्ठान पर स्थित करने का महत्प्रयास सम्पादित किया। साथ ही "स्वान्तः सुखाय" साहित्य रचना के माध्यम से 'सर्वजनहितार्थ' के लोक मंगल आदर्श की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। यही कारण है कि संत-साहित्य में युगान्तव्यापी प्रेरणा अथवा सर्वकालिक सार्थकता-प्रासंगिकता की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो गई है।

सन्दर्भ :-

सुन्दरविलास, प्रयाग, 1974
हरिदास वाणी-उत्तरखंड, जयपुर, 1962
मीराँ बृहत्पदावली, भाग 1 जोधपुर, 1989
दादूवाणी, भाग-2 प्रयाग 1983
दादूवाणी, भाग-1 प्रयाग 1984
रज्जबवाणी- राप्राविप्र जोधपुर
संतसुधासार-रज्जब
सुंदर-उपदेश चिंतामणि
सर्वंगी: रज्जब
सुंदर - काल चिंतामणि
जम्भवाणी
शब्दामृत सिंधु
माहेश्वरी, हीरालाल- जांभोजी
बावनी जोगग्रंथ

गवेषक
राज. प्राच्च विद्या प्रतिष्ठान
भरतपुर

❑❑

राजस्थान में सूफी सन्तों की परम्परा

— डॉ. याकूब अली खान

अनेक सूफी, मुस्लिम साधकों तथा विद्वानों ने सूफी शब्द की उत्पत्ति के विषय में अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। कुछ ने इसे अरबी शब्द "सफा" से, कुछ ने यूनानी शब्द "सोफिया" एवं अनेक ने इसकी उत्पत्ति "सफ" शब्द से इसलिए सर्वाधिक स्वीकृत एवं सर्वप्रचलित मतानुसार सूफी शब्द की व्युत्पत्ति अरबी शब्द सूफ (ऊन) से हुई। अबू नस्र सिराज़ के मतानुसार सूफीया अपने बाह्य वेशभूषा से सूफी कहलाये। ये इसलिए कि भेड़ों की ऊन के कपड़े पहनना, पैगम्बरों, सूफियों एवं बरगज़दा हस्तियों का निशान खास है।[1] सूफी वह धार्मिक साधक हैं, जो ऊनी कपड़े पहनता है। यूरोपीय विद्वान् ब्राऊन ने इसीमत को स्वीकार करते हुए लिखा है कि ईरान में इन सूफी साधकों को पशिमनापोश (ऊन पहनने वाला) कहा जाता है।[2] सबसे पहले जो साधक सूफी उपाधि से मशहूर हुए, वो शेख अबू हाशिम कूफी थे।[3]

इस्लाम में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों एवं आन्दोलनों को सूफीमत या तसव्वुफ के नाम से जाना जाता है। इस्लाम में व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित रहस्यवादिता के माध्यम से ईश्वर एवं व्यक्ति के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करने की बात कही जाती है। प्रत्येक धर्म अपने विकास के क्रम में इस रहस्यवाद का कभी न कभी अवश्य सहारा लेता है।[4] इस दृष्टिकोण से, सूफीमत कुरान की पवित्रता की भावना पर आधारित इस्लाम का स्वाभाविक विकास है।[5] सूफी सन्त पवित्र कुरान पर अमल करने एवं शरीयत में संगृहीत मौलिक धर्माचरण अपनाने पर अधिक जोर देते थे, लेकिन वे परम्परा से चली आ रही आराधना पद्धति से बंधकर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने एक ऐसा तरीका विकसित किया, जिसका उद्देश्य ईश्वर से सीधा तालमेल स्थापित करना था।

इस्लाम-धर्म एवं समाज को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए सूफी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। प्रो. मुहम्मद हवीब के मतानुसार "सूफीमत एवं रहस्यवादी विचार ने इस्लाम को परिस्थितियों के अनुरूप ढाला एवं इसे शक्ति प्रदान की"।[6]

प्रो. के.ए. निजामी के मतानुसार- मध्य एशिया में मंगोलों के द्वारा बगदाद पर आक्रमण के परिणामस्वरूप मुस्लिम सामाजिक जीवन का विनाश एवं नैतिकता का पतन होने लगा। ऐसे हालात में सूफीमत का विकास मानव संस्कृति, मुस्लिम समाज, नैतिकता तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों की रक्षार्थ हुआ था।[7]

सूफीमत के विकास एवं प्रसार के चरणों की तीन महत्त्वपूर्ण अवधारणायें हैं। इसका पहल चरण 850 ईस्वी तक का है, जिसमें सूफियों ने कुरान की आयतों को रहस्यात्मक स्वरूप देने की कोशिश की। इस अवस्था में फ़कीरी जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति मुख्य रूप से क्रियाशील थी। सूफी साधक सांसारिक विषयों से दूर रहकर गरीबी में अपना जीवन बिताते हुए सदैव स्वभाव से विनम्र रहे। इस काल में सूफीमत का आधार व्यक्तिगत था। सूफीसाधक एकान्त जीवन में प्रायश्चित करते थे। उनमें प्रेम साधना की भावना का अभाव था। इस चरण के प्रमुख सूफियों में इमाम हसन बसरी, इब्राहीम बिन आधम, अबू हाशिम तथा राबिया बसरी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।[8]

प्रारम्भ में सूफीमत संगठित नहीं था। सूफी लोग छोटे-छोटे समूहों में किसी विशिष्ट गुरु की तलाश में रहते थे। अरब में ये घुमक्कड़ सूफी रिबात से और ईरान में खानकाहों से जुड़े होते थे। महिला सूफियों के आश्रय स्थल अलग होते थे।

सूफीवाद के विकास के, दूसरे चरण के सूफीसाधकों का विश्वास था- कि ईश्वर कृपा से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता हैं। इस चरण के साधकों का लक्ष्य- "प्रेम द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना था।" तोहीद का अर्थ एकेश्वरवादी बन गया। इस चरण के साधक दुनिया की हर वस्तु में, परमसत्ता के दर्शन पाने लगे।[9] यह दूसरा चरण 10वीं-11वीं शताब्दी तक का है। इस चरण में सूफीयों ने साहित्यिक ग्रन्थ रचे एवं सूफी विचारधाराओं और सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया। इस चरण में अलग़जाली और अल-हुजविरी मशहूर लेखक थे। फरीबुद्दीन अत्तार और जलालुद्दीन रूपी फारसी भाषा में लिखित मसनवियों के लिए प्रसिद्ध थे।

सूफीमत के विकास का तीसरा चरण- सूफी सम्प्रदायों या सिलसिलों की स्थापना का है, जो बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं तेरहवीं शताब्दी का है। इसकाल में, सूफीमत ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया था। मुस्लिम समाज में अराजकता, अव्यवस्था, नैतिक- पतन का सामना करने एवं उसमें नवजीवन प्रदान करने के लिए सूफीसन्तों ने खानकाह के रूप में संगठित होने का निश्चय किया। खानकाह की अनेक उपयोगिताएं थी। वह गृहविहीन सूफीसाधकों के लिए शरणस्थली

बनी। ये खानकाहें विचारों के आदान-प्रदान एवं एक-दूसरे की आलोचना-समालोचना करके सुधार करने का कार्य करती थीं।[10]

भारत में सूफीमत का विकास :-

भारतीय क्षेत्र में प्रवेश के पूर्व, सूफी आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। मंगोलों के आक्रमण से हुए विध्वंस एवं 1258 ईस्वी की बगदाद की लूटपाट ने सारी मुस्लिम राजनीतिक प्रधानता एवं सांस्कृतिक प्रगति का ताना-बाना बिखेर दिया था। काफी तादाद में मुस्लिम सूफी सन्त, लेखक, राजवंश के लोग, अमीर एवं सामाजिक व सांस्कृतिक रूप से श्रेष्ठगण भारत में सुरक्षा एवं उनके बौद्धिक, धार्मिक लक्ष्य को गति प्रदान करने हेतु आने लगे। अनातोलिया के अतिरिक्त भारत ने भी उनको शान्ति एवं आतिथ्य प्रदान किया। इसतरह से यहां सूफियों ने एक नया शरणस्थल पाया जहां उनके आध्यात्मिक मिशन को एक नई राह मिली।[11] ''इन सूफियों ने भारत में इस्लामी दुनियां के कई सम्प्रदाय स्थापित किये, अपनी संस्था विकसित की एवं जहां उनका प्रभाव बढ़ा, वहीं पर इन्होंने अपनी खानकाहें स्थापित कर ली। इब्नबतूता के अनुसार- आरम्भिक 13वीं शताब्दी में दिल्ली एवं उसके आसपास दो हजार आश्रय स्थल एवं खानकाहें स्थापित थी।[12]

प्राय: यह समझा जाता है कि भारत में मिशनरी कार्यों से नहीं अपितु सैनिक व राजनीतिक तत्व से ही इस्लाम का प्रसार-प्रचार हुआ। वस्तुत: मिशनरियों ने अपनी व्यक्तिगत साख भी जो उन्होंने दया, धार्मिक जोश, बौद्धिकता, सहिष्णुता इत्यादि से बनाई थी, उसीके परिणाम स्वरूप इस्लाम का प्रचार-प्रसार हुआ।[13]

दक्षिण भारत में अनेक अरब व्यापारी आकर बसे, जहां उन्होंने अपनी बस्तियां बसा लीं। उनके साथ अनेक विद्वान, सूफीसाधक एवं कारीगर भी आये। लेकिन वे वहां पर हिन्दू शासकों विशेषकर जमोरिन के प्रोत्साहन से अपना प्रभाव बढ़ा सके। उत्तरी पश्चिमी सीमा से दक्षिण की अपेक्षा अधिक सूफीसाधक और व्यापारी आये क्योंकि 712 ईस्वी में मुहम्मद बिनकासिम के द्वारा सिन्ध पर जो विजय प्राप्त की गई थी, उसने इन लोगों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। एक बात यहां और उल्लेखनीय है कि, इन सैनिकों के साथ व्यापारी, धार्मिक वर्ग एवं सूफीसाधकों का एक बड़ा समूह भी रहता था। सिंध क्षेत्र में पहला सूफीसाधक- शेखसफीउद्दीन काजीरुनी थे, जो कच्छ के करीब बसे।[14] महमूद गजनवी की मुल्तान विजय के परिणाम स्वरूप ही अनेक सूफी-सन्तों एवं उनके शिष्यों ने इस इलाके में स्थापित होना पसंद किया। इसके बाद

शेखअली हुज्वरी लाहौर में बसे, जहां उनकी मृत्यु 1072-73 ई. में हुई। भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद, सूफियों का तांता लग गया।[15] थोड़े ही समय में सूफी सिलसिला तथा खानकाह का विस्तार पंजाब से लकनौती तथा मुल्तान से देवगिरी तक हो गया।[16] इतनी शीघ्र सफलता का कारण यह था कि, सूफीसाधकों ने भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण के अनुकूल अपने को ढ़ाल लिया। उन लोगों ने अपने विचारों द्वारा जनसमस्याओं का संतोषजनक समाधान निकाला। उन्होंने अनेक हिन्दू-संस्कारों एवं रीति-रिवाजों को भी अपनाया।[17]

मध्यकालीन उत्तर भारत में सूफीमत के केन्द्र लाहौर, मुल्तान, हांसी, दिल्ली, पानीपत अजोधन, सरहिंद, उच्छ आदि थे। राजस्थान में अजमेर व नागौर इनके सुप्रसिद्ध केन्द्र थे। हालांकि राजस्थान में अनेक सूफीसन्त आये, लेकिन जो प्रसिद्धि एवं जन समर्थन चिश्ती-सम्प्रदाय को प्राप्त हुआ, वह अन्य को नहीं मिल सका।

राजस्थान में चिश्ती-सम्प्रदाय :-

सूफी आन्दोलन के विकास के लिए, राजस्थान की जमीन अधिक अनुकूल सिद्ध हुई। यहां पर सूफीमत का विकास भारत की मुस्लिम विजय से पूर्व ही हो चुका था। वास्तव में इन सूफियों ने देश विजय न करके आपसी भाई-चारे, नैतिकता, सहिष्णुता आध्यात्मिक मूल्यों की समता और खुदा की सेवा मानवसेवा के रूप में करके दिलों को जीता और इन सूफीमतावलम्बियों ने समाज में ऊंच-नीच के व्याप्त भेदभाव को दूरकर समानता एवं एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

शेखमुईनुद्दीन चिश्ती भारत में 'चिश्ती सम्प्रदाय' के संस्थापक माने जाते हैं, जो कि भारत में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय की स्थापना चिश्ती (हेरात के पास का एक गांव) नामक स्थान पर हुई थी, जहाँ पर इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा अबू इस्हाक ने अपने गुरु के आदेश पर यहाँ निवास किया।[18] शेख मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म सिजिस्तान के पास संजर नामक स्थान पर, 1141 ई. (536 हिजरी) में हुआ था।[19] इनके जीवन में आध्यात्मिक विधाओं का उद्गार सिजिस्तान पर कराखिता एवं गज तुर्कों के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। इससे शेख का ध्यान लौकिक चीजों से हटकर आध्यात्मिक बातों की तरफ हुआ।[20] उन्होंने अपनी तमाम वस्तुऐं बेचकर भ्रमण करना शुरु किया। ईराक जाते समय रास्ते में निशापुर नामक जगह पर उनकी मुलाकात शेख उस्मान[21] हारुनी से हुई, जिनके व्यक्तित्व से वे इतने प्रभावित हुए कि, शेख उस्मान को, उन्होंने अपना आध्यात्मिक गुरु मान लिया और उनके मुरीद बन गये। उनका सम्पर्क वक्त के प्रसिद्ध सूफीसन्तों जैसे- अब्दुल कादिर जिलानी, शेख

नजमुद्दीन कुबरा, शेख नजीबुद्दीन सुहरावर्दी, नासिरुद्दीन अस्तराबादी, शेख अब्दुल वहीद आदि से हुआ। उन्होंने उस वक्त के महत्वपूर्ण मुस्लिम सँस्कृति के सभी केन्द्रों- समरकन्द, बुखारा, बगदाद, निशापुर, तबरीज, इस्पहान सब्जवार, खिरकान, बल्ख का भ्रमण किया। मध्य एशिया की चिन्ताजनक हालत देखकर उन्होंने भारत की तरफ अपना रुख किया और थोड़े समय के लिए लाहौर में रुककर वे अजमेर पहुँचे।

उस वक्त अजमेर, सिर्फ चौहान सत्ता का ही केन्द्र नहीं था, बल्कि यह एक महान् धार्मिकस्थल भी था।[22] ऐसे स्थान पर कार्य करने का दृढ़ निश्चय उनके आत्मविश्वास का प्रतीक है। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे पास, उनकी गतिविधियों की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। अजमेर में चिश्ती सिलसिले के सिद्धान्तों का प्रचार उस समय की एक गम्भीर चुनौती थी। यहां उनकी सफलता या असफलता पर भारत में सूफी आन्दोलन का भविष्य निर्भर करता था। शेख साहब अपनी अलौकिक एवं चमत्कारी शक्ति के फलस्वरूप अपने मकसद में कामयाब रहे।[23] उनके चमत्कार एवं जन कल्याणकारी कार्यों के कारण आज तक लोगों में उनके प्रति श्रद्धा भाव है और इसीकारण से वह गरीब नवाज के नाम से विख्यात हैं।[24]

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती ने दो शादियाँ की, जिनमें से पहली बीबी एक स्थानीय हिन्दू राजा की पुत्री थी।[25] दूसरी बीबी सैयद वजीहुद्दीन की पुत्री थी। इन दोनों बीबियों से तीन पुत्र एवं एक पुत्री हुऐ। ख्वाजा साहब ने अजमेर में ही अपना जीवन व्यतीत किया एवं 1236 ई. (663 हिजरी) में नश्वर शरीर का त्याग किया।[26] वे अपने जीवनकाल में इतने लोकप्रिय हो गये थे कि मुहम्मद गौरी ने उनको सुल्तान-उल-हिन्द की उपाधि से विभूषित किया था।[27]

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के ज्येष्ठ पुत्र ख्वाजा फखरुद्दीन अबुलखैर ने कुछ वर्षों तक माण्डल में रहकर खेती की थी एवं अपने पिता को सुल्तान इल्तुतमिश के दरबार में सनद प्राप्त करने हेतु, दिल्ली भेजा।[28] इनका मजार सरवाड़ में है। इनका दूसरा पुत्र ख्वाजा हिसामुद्दीन रहस्यमय तरीके से गायब हो गया। तीसरे पुत्र का नाम- शेख़ जियाउद्दीन अबू सईद था, जिनका मजार अजमेर में ही है। इनके पौत्र शेख हिसामुद्दीन सोख्ता के, जो शेख फखरुद्दीन के पुत्र थे, हजरत निजामुद्दीन औलिया से मैत्रीपूर्ण संबंध थे। इनका मजार सांभर में है।[29]

राजस्थान में अजमेर के बाद सूफीमत के क्षेत्र में, नागौर ने ही प्रसिद्धि पाई है।

यहाँ पर ख्वाजा मुईनुद्दीन के शिष्य एवं खलीफा शेष हमीबुद्दीन नागौरी ने अपने गुरु के आदेशानुसार- सूफीमत का प्रचार एवं प्रसार किया। इनका जन्म 1192 ई. में दिल्ली में हुआ था। दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद जन्मे, ये प्रथम मुस्लिम सन्त थे।[30] इनके गुणों से प्रभावित होकर उनके गुरु ने, उनको सुल्तानु-तारीकीन की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने एक आत्मनिर्भर भारतीय किसान की तरह अपना जीवन गुजारा एवं नागौर के पास सुवाल नामक गांव में खेती करके अपने परिवार का पालन पोषण क़िया। वे एक कच्चे, छोटे घर में रहते हुए, एक बीघा जमीन में जो उपजता उसी पर निर्भर रहे।[31] अन्य ग्रामीणों के समान शेख हमीबुद्दीन पूर्णतया शाकाहारी थे। और अपने शिष्यों को भी शाकाहारी रहने पर बल दिया। उन्होंने स्थानीय हिन्दवी भाषा का ही प्रयोग किया।[32] इनकी गरीबी को देखकर नागौर के मुक्ता ने उनको कुछ नगद एवं कुछ जमीन देने की पेशकश की, जिसको उन्होंने अस्वीकार कर दिया। मुक्ता ने मामला सुल्तान की सूचनार्थ भिजवाया, लेकिन सुल्तान के आदेश के बावजूद भी उन्होंने सरकारी सहायता लेना अस्वीकार कर दिया।[33] वे समन्वयवादी होने के साथ-साथ गैर मुस्लिमों के आध्यात्मिक गुणों की प्रशंसा भी करते थे।[34] इनके पूर्व हमीदुद्दीन रेहानी एवं काजी हमीदुद्दीन भी नागौर में बस चुके थे। शेख हमीदुद्दीन ने भारतीय वातावरण के अनुरूप सूफी आन्दोलन को आगे बढ़ाया। वे किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि एवं चमत्कारी शक्तियों के प्रदर्शन के खिलाफ थे।[35] शेख की मृत्यु 1274 ई. में नागौर में हुई, जहां उनका मजार है। शेख फरीदुद्दीन महमूद उनके उत्तराधिकारी बने, जिनको सुल्तान मुहम्मदबिन तुगलक से शाही सहायता एवं प्रश्रय प्राप्त हुआ। उनका मजार मेहरोली, दिल्ली में है।[36] सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने अपनी पुत्री का विवाह, शेख फरीदुद्दीन के पौत्र शेख फतहउल्लाह के साथ किया था।[37]

नागौर को एक महत्वपूर्ण सूफी केन्द्र के रूप में पुनर्स्थापित करने का श्रेय ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी को जाता है, जो शेख हमीदुद्दीन नागौरी के वंशज एवं गुजरात के शेख कबीर के शिष्य थे। माण्डू के सुल्तान गयासुद्दीन से प्राप्त धन से उन्होंने, ख्वाजा मुईनुद्दीन के मजार पर गुम्बद बनवाया।[38] इनके अलावा शेख खालिद, शेख अब्दुल कादिर आदि महान् सूफीसंत शेख हमीदुद्दीन नागौरी के वंशज थे। चिश्ती सिलसिले के केन्द्र के रूप में नागौर इन महान् सूफी सन्तों के बाद भी सन्तों और विद्वानों का शरण स्थल बना रहा। शेख अहमद मजद शैबानी, शेख ख़िज्र, रव्वाजा जिया नक्शबी आदि ने नागौर में रहकर सूफीमत का विकास किया।

अजमेर और नागौर के समान राजस्थान के अन्य क्षेत्र भी सूफीमत के विकास में बराबर के भागीदार हैं। नागौर जिले में खाटू में बाबा इस्हाक मगरीबो ने सूफीमत

का प्रचार किया। इनके प्रसिद्ध खलीफा शेख अहमद खट्टू थे, जिनका मजार सरखेज (अहमदाबाद) में है। शेखावाटी का इलाका भी सूफीसन्तों से अछूता नहीं रहा। पंजाब के शहर दोसा (आधुनिक पाकिस्तान) में शेख मुहम्मद सुलेमान ने अपने को स्थापित किया एवं वहां से इन्होंने अपने एक शिष्य एवं उत्तराधिकारी शेख नजमुद्दीन को शेखावाटी में सूफीमत के प्रचार हेतु भेजा। इनका जन्म झुंझुनूं में 1234 हिजरी को हुआ था। फतेहपुर में बसने के बाद उनके आस-पास लोगों का झुण्ड जमा रहने लगा। राजस्थान में उर्दू भाषा के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था।[39]

जयपुर भी सूफीमत के विकास के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहां कश्मीर में पैदा हुए- मिस्कीन शाह और मौलाना जियाउद्दीन ने इस आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मिस्कीन शाह नियाज बरेलवी के शिष्य थे।[40] मौलाना जियाउद्दीन मुहम्मद ने 18वीं सदी में राजस्थान में सूफी आन्दोलन को गति प्रदान की। मौलाना शाह फखरुद्दीन देहलवी के उत्तराधिकारी के रूप में जयपुर में बसे। इनका जन्म 1150 हिजरी (1772 ई.) में दिल्ली में हुआ था।[41] जयपुर एवं टोंक के शासक इनके प्रशंसक थे।[42]

राजस्थान का हाड़ौती प्रदेश भी सूफीमत के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। हाड़ौती एवं मालवा के संगम पर गागरौन में शेख हमीदूद्दीन गागरौनी, जो मिट्ठे महाबली के नाम से प्रसिद्ध है, ने सूफीमत का प्रचार किया। कहा जाता है कि इनको इस कार्य हेतु सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने यहां भेजा था।[43] लेकिन अन्य स्रोत से ज्ञात होता है कि ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने उनको स्वप्न में गागरौन बसाने एवं सूफीमत का प्रचार करने का कहा था।[44] यह स्थान भोलानाथ एवं कनफटा जोगियों का केन्द्र था। लेकिन 'शेख' ने अपनी चमत्कारी शक्तियों से इनके प्रभाव को कम करके सूफीमत को आगे बढ़ाया।[45] इनकी मृत्यु 715 हिजरी (1337 ई.) में गागरौन में हुई।

इन महत्वपूर्ण सूफी सन्तों के अलावा राजस्थान के अन्य क्षेत्रों में अनेक सूफी सन्त हुए, जिन्होंने सूफी आन्दोलन को गति प्रदान की। इनमें शेख नासिरुद्दीन ने, जो अकबर के समकालीन थे, हिण्डौन में, शेख मुबारक ने अलवर में, मीर सैयद खंग सवार, जो सुल्तान मुहम्मदगौरी की सेना में अधिकारी थे, ने तारागढ़ (अजमेर) में, मीर सैयद मुईनुद्दीन ने बयाना में सूफीमत के प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मध्यकाल में नारनौल[46] भी एक महत्वपूर्ण सूफी केन्द्र था। यहां पर अनेक सूफी सन्त हुए, जिनमें शेख मुहम्मद तुर्क, शेख निजाम नारनौली, शेख ताजुद्दीन शेर सवार, मखदूम मौलाना अमादुद्दीनगौरी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सूफी-सन्तों की परम्परा :-

मुस्लिम सूफी-सन्तों ने उदारवादी दृष्टिकोण और नैतिक आचरण पर अत्यधिक बल दिया है। ये अपनी सरल सहजता, अनुकरणीय नैतिक आचरण, अहिंसा, संवेदनशीलता, प्रेम सभी में ईश्वरीय तत्व का प्रतिबिम्ब देखने वाले साधक एवं उपासक के रूप में प्रसिद्ध हैं। भारत के 12वीं-13वीं सदी के सूफी-सन्तों ने सामाजिक सेवा को अपने सारे आध्यात्मिक कार्यों से, सर्वोच्च बताया।[47] ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने कहां था कि- गरीबों की सेवा करना, असहायों की सहायता एवं भूखे को भोजन देना, सारी उपासना से सर्वोच्च है। सभी मध्यकालीन सूफी इस मत से सहमत थे। मानव समाज के प्रति श्रद्धा तथा सहानुभूति इस्लाम का प्रमुख सिद्धान्त है।[48]

इस सम्प्रदाय के सूफीसाधक इस्लाम की रुढ़ीवादी विचारधारा को त्यागकर, हिन्दू-मुसलमानों को समन्वयवाद के रंगमंच पर लाना चाहते थे, भारतीय समाज को यही उनकी सबसे बड़ी देन है। शेख हमीदुद्दीन हिन्दुओं के आध्यात्मिक गुणों की बड़ी प्रशंसा करते थे। एक व्यक्ति ने शेख निजामुद्दीन औलिया से पूछा, कि- यदि कोई हिन्दू नमाज पढ़ता है, तो आपका दृष्टिकोण क्या होगा। शेख ने कहा कि यह ईश्वर का कार्य है कि उसे दण्डित करे या पुरस्कृत।[49] इस सम्प्रदाय के सूफियों ने शासकों की धर्म परिवर्तन नीति का विरोध किया।

अधिकांश सूफी साधक गरीबी में अपना जीवन व्यतीत करने पर बल देते थे एवं धन को अपने मार्ग में अवरोधक समझते थे। ख्वाजा मुईनुद्दीन ने अपने लिए घर तक नहीं बनवाया। सूफीसाधक फुतुह (बिना मांगें प्राप्त धन) से जीवन निर्वाह करते थे। वे उधार लेने या मांगने की अपेक्षा भूख से मरना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। वे फटे कपड़ों एवं सूखी रोटी खाने में आनन्द का अनुभव करते थे। वे दुनियां का त्याग करने पर बल देते थे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं था कि गृहस्थ जीवन को त्यागकर तपस्या की जाये। बल्कि वह समाज में रहे, खाना खाये, कपड़े पहने, जो उनके पास पैसा आये उसे स्वीकार करे, लेकिन इकट्ठा न करे।[50] सूफीसन्त शान्तिकारी एवं अहिंसा प्रेमी भी थे। उनका हमेशा यही मकसद रहता था कि अपने व्यवहार एवं वार्तालाप से इस सिद्धान्त का पालन करें। उन्होंने अपने सिद्धान्त का विस्तार पशुओं तक के लिए किया और उन्हे स्वाद के लिए मारना पसन्द नहीं किया। इसीकारण अधिकांश सूफीसन्त शाकाहारी बने रहे एवं अपने शिष्यों को भी शाकाहारी बने रहने की शिक्षा दी। चिश्ती सम्प्रदाय के सन्तों ने शाहीदरबार एवं उनके प्रश्रय को स्वीकार नहीं किया।

लेकिन इसका अपवाद हो सकता है। राजाओं की संगत से दूर रहना, जागीरों को अस्वीकार करना, शाही नौकरी न करना उनका सिद्धान्त था।

सारांशतः हम कह सकते है कि- भारतीय सूफीसाधक इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करते, लेकिन भारतीय वातावरण के अनुसार उन्होंने अपने को ढाल लिया। अनेक भारतीय रीति-रिवाजों, परम्पराओं और सिद्धान्तों को अपनाया। गैर मुस्लिमों के प्रति सहिष्णु बने रहे उनके गुणों एवं योग्यताओं को स्वीकार किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके यहाँ मनुष्य मात्र में कोई भेदभाव नहीं था। मानव की सेवा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

पाद-टिप्पणियां :-

1. किताब-अल-लम्हा, पृ. 21
2. लिट्रेरी हिस्ट्री आफ पर्सिया, पृ. 417
3. नफहात-अल-अंस, पृ. 22
4. तारीख मशामख-चिश्त, भाग प्रथम, पृ. 46
5. वही, भाग प्रथम, पृ. 49
6. इस्लामिक कल्चर, जुलाई 1942, पृ. 264
7. सम आस्पेक्ट् ऑफ रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स ड्यूरिंग दी थर्टीयंथ सेन्चुरी, पृ. 50
8. तारीख मशायख चिश्त भाग I, पृ. 102-103
   सूफी मत, साधना और साहित्य, पृ. 198
   रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स, पृ. 53
9. सूफी मत, साधना और साहित्य, पृ. 203 रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स, मृ. 56
10. वही, पृ. 56-57
11. सूफी आर्डर्स ऑफ इस्लाम, पृ. 22
12. रहेला
13. इस्लाम इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ. 42
14. अखबार-उल-अखयार, पृ. 205
15. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, पृ. 596
16. रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स, 175
17. वही, पृ. 178-179

18. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, भाग-11 पृ. 50
19. गुलजार-अबरार, पृ. 13, आईने-ए-अकबरी, भाग-III, पृ. 207
इस्लाम इन इण्डिया एबकोन्टीनेंट, पृ. 23
सियारूल-मुताखरीन, पृ. 230, खुलासत-उत-तवारीख, पृ. 54
एनसाईक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एण्ड रिलीजन, भाग-I
20. रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स, 189
सूफी मूवमेंट इन राजस्थान, पृ. 32-33
21. सियार-उल-औलिया, पृ. 44-45
22. डिस्ट्रीक्ट गजेटियर आफ अजमेर, 1966, पृ. 736
अखबार-उल-अखयार, पृ. 23
23. सियार-उल-औलिया, पृ. 45-47
24. जवाहिर-ए-फरीदी, पृ. 155-60
ग्लीम्पसेस ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ. 37
25. अखबार-उल-अखयार, पृ. 114
मुनीस-उल-अरवाह, पृ. 46-47
खजीनत-उल-असफिया, 263
26. खुलासत-उत-तवारीख पृ. 24, तारीख-ए-फरिश्ता, भाग-II पृ. 377
अखबार-उल-अखयार, पृ. 23, गुलजार-अबरार, पृ. 15
अखबार-उल-असफिया, पृ. 7, सियारुल-मुताखरीन, पृ. 230
27. ग्लीम्पसेस ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ. 36
28. अखबार-उल-अबयार, पृ. 51, सियारुल-औलिया, पृ.
29. गुलजार-ए-अखरार, पृ. 16, अखबार-उल-अखयार, पृ. 114
30 सुरूर-उस-सुदूर (पाण्डुलिपि) पृ. 11, ऑन-ए-कौसर, पृ. 237
31. सियारूल-औलिया, पृ. 156-57
32. सरूर-उससुदूर, पृ. 10, 43
33. वही, पृ. 95, सियारूल-औलिया, पृ. 156-67
34. कवायद-उल-कुवाद, पृ. 70
35. सरूर-उस-सुदूर, पृ. 225
36. वही, पृ. 28, अखबारुल अखयार, पृ. 74
37. सरूर-उस-सुदूर, पृ. 24-25
38. अखबार-उल-अखयार, पृ. 183, तबकाते शाहजहांनी, पृ. 181

39. मुनाकिबुल तारीकीन (पाण्डुलिपि) पृ. 270, तारीख-मशायख चिश्त, पृ. 693
40. तारीख मशायख चिश्त, पृ. 574
41. मिराते जियाया (पाण्डुलिपि) पृ. 387
42. फवायदुज-जियाया (पाण्डुलिपि) पृ. 186-89, तजकिरा जियाया (पाण्डुलिपि) पृ. 26-27
43. लिस्ट ऑफ ऑब्जेक्ट्स ऑफ एन्टीक्येरियन इनटेरेस्ट इन मालवा, ए.एस.आई., पृ: 20
44. खजीनत-उल-असफिया, भाग-I, पृ. 446
45. लिस्ट ऑफ ऑब्जेक्ट्स ऑफ एन्टीक्येरियन इनटेरेस्ट इन मालवा, ए.एस.आई., पृ. 20
46. एन एटलस ऑफ मुगल एम्पायर, 6 ए., पृ. 18
47. सियारुल औलिया, पृ. 46
48. ग्लीम्पसेस ऑफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ. 45
49. सियारुल आरिफीन, पृ. 159-160
50. फवायदुल-फुवाद, पृ. 9

इतिहास विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

❑❑

SUFISM IN RAJASTHAN

— **Refaqat Ali Khan**

Long before the establishment of the (Turkish) Delhi Sultanate Sufism has attained a universal character, it was a dominant element in the social life all over the Muslim Word. The Sufies were far above the walls which divide the people on the ground of religions or ethnicity. Love of God and His creations was the object of their lives.

Mysticism in all religions is based on profound and jeaous emotion of love which is universal. The great mystic scholar, in far away Spain, preached **Tet tivan Asi** in the twelveth century. His concept of Wahdatal Wujud, unity of existence, is based on Quran. In India Bhakti and Sufi movements grew together with lot of interaction. We have large number of references of 'Yogis' presence in 'Jama' at Khanas of all the famous saints.

The Chisti Silsilah of Sufis was the most popular movement in India. It had its origin in Rajasthan at Ajmer. It was here that Akbar walked day after day on foot to seek the blessing of the Khwaja popularly known Garib Nawaz. Sufis flourished in several towns of Rajasthan where many Sufis either lived or visited. Rajasthan became so attractive that one Sufi, Shaikh Ahmed Khattu of North Africa, came here as a traveller and finally decided to settle down at a small place near Naguar.

An outstanding feature of Rajasthan Mysticism, Hindu & Muslim was their respect for all religions. 'All roads lead to Rome'. They also believed that what so ever way you worship, it was His worship. The Sufis of Rajasthan lived with people, talked to them in their language and above all cared for them. This explains their popularity in their lives and thereafter too. Moreover they preached love and desisted from religious conversions. This explains that even at the head quarter of the Sufi movement, the Muslim always remained a minority.

Deptt. of History & Culture
New Delhi

❑❑

आधुनिक संदर्भ में सन्त-साहित्य की प्रासंगिकता

— डॉ. जयसिंह नीरज

इसमें दो राय नहीं कि मध्यकाल में भक्तिधारा ने जन-समाज में एक नई चेतना पैदा की, जिसमें कला-सँस्कृति-साहित्य की ही रसधारा ही नहीं बही, वरन् जनजीवन में एक नया उत्साह, नवजीवन का संचार हुआ। सगुण और निर्गुणधारा के रूप में प्रवाहित भक्ति के इस आंदोलन ने स्पष्टतः समाज को और भी दो वर्गों में बांट दिया। सगुण भक्ति जहां सवर्णों से अधिक संबंधित रही, वहीं निर्गुण भक्ति दलितवर्ग से संयुक्त रही। दलितवर्ग के पास न इतना धन होता था कि वे बड़े-बड़े मंदिर बनवाकर कीमती मूर्तियाँ स्थापित करते और सेवा-पूजा की खर्चीली व्यवस्था से जुड़ पाते, इसलिये उन्हें निर्गुण सम्प्रदाय ही अधिक रास आया। न मंदिर प्रवेश का झंझट और न समय बरबाद करने का उपक्रम। उनका ईश्वर घट-घट में बसने वाला, जाति-पाँति, भेदभाव, ऊँच-नीच से परे मानवीय संवेदना से अधिक जुड़ा हुआ था। इस बारे में स्व. मुक्तिबोध ने ठीक ही कहा 'भक्ति आंदोलन का जनसाधारण अर्थात् दलितवर्ग पर जितना व्यापक प्रभाव पड़ा, उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं।' पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये। अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। नामदेव, कबीर, रैदास, सेना नाई आदि, महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद, साम्प्रदायिकता तथा ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज बुलंद की।

सवर्णों से आये अनेक सन्त भी उसी धारा में मिल गये। नानक, मीराबाई, चरणदास, सुन्दरदास, जाम्भोजी जैसे सन्त भी निर्गुण सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण सन्त हुए, जिन्होंने दलित वर्ग की मर्यादाओं की रक्षा की।

मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमण, हिन्दुओं के वर्णभेद, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर और देवों की बहुलता के कारण उत्पन्न हुई अनेक समस्याओं ने निम्नवर्ग के सन्तों को विद्रोही बना दिया, अतः वे खुलकर समाज की बुराइयों का उद्घाटन करने लगे। राजतंत्र एवं सेठाश्रय के वे प्रिय न हो सके, वरन् समय-समय पर उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। बादशाहों, मुल्ला-मौलवियों, धर्माचारी पण्डा-पंडितों और सवर्ण-

सामंती वर्ग ने निर्गुण परम्परा के निम्नजातीय सन्तों का अधिकतर निरादर किया। उनको अनेक कष्ट दिये।

दूसरी ओर सगुणधारा के भक्त-कवियों ने सगुण-निर्गुण का शाब्दिक युद्ध ही छेड़ दिया। भ्रमरगीत परम्परा इसका उदाहरण है। सगुण की लकदक रागरंग और भोग की सँस्कृति के सामने निर्गुण परम्परा विपरीतधार में बहकर भी जनसाधारण में अत्यधिक लोकप्रिय हो गई। निर्गुण सन्त अधिकतर अपना-अपना कर्म कर जीवकोपार्जन कर निर्गुण की आराधना के माध्यम से समाज में, जो मर्यादाएं कायम कर रहे थे, वे आधुनिक संदर्भ में अधिक प्रासंगिक हैं। यही कारण है कि कबीर, नामदेव, दादू, रैदास, मीराँबाई, गुरुनानक की वाणी ने जन-समाज में, जो सामाजिक जागृति पैदा की, वह नवजागरण और इतिहास की एक अमूल्यनिधि है।

दूसरी ओर सगुणधारा को निर्गुण की भाँति विपरीत धारा से नहीं जूझना पड़ा और अन्य धर्मों की भाँति उसे भी राज्याश्रय एवं सेठाश्रय का भरपूर सहारा मिल गया। उनके विशाल मंदिर निर्मित होते गये तथा राजाओं से जागीरें मिलने लगीं। इस प्रकार सगुण के सेवक एवं गोस्वामी सामन्त और जागीदारों की भाँति धन और वैभव के राजमार्ग पर विचरण करने लगे। सोने-चाँदी की चक्कियों में केशर पिसने लगी। अष्टयाम की सेवा-पूजा में पकवान, मेवा, मिष्ठान आदि का भोग लगने लगा। शुद्ध घी के पुए, छप्पनभोग की सुवासित सुगन्ध, पिश्ता, बादाम, काजू, मेवा का गरिष्ठ भोग, पान की महक आदि ने सगुण स्वरूप को सवर्ण सँस्कृति का प्रतीक बना दिया। ऐसी स्थिति में दलितवर्ग का धर्म के राजमार्ग पर जाना ही निषिद्ध हो गया।

निर्गुण सन्त वाकई कर्मण थे। वे जहां जूता बनाते थे, कपड़ा बुनते थे, बाल काटते थे, वही स्थान उनकी अध्यात्मचर्चा का स्थल होता था। रुखा-सूखा खाकर तथा ठण्डा पानी पीकर उस निर्गुण की साधना करते थे, जो जाति-पाँति और ऊँच-नीच से परे था तथा फिर भी प्रत्येक जीव के घट-घट में व्याप्त था। वह राम भी था, तो रहीम भी था। पत्थर के बुत को पूजने वाला उनकी दृष्टि में मूर्ख समझा जाता था :-

दुनियां कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकियां कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय॥

तिलक-छापा लगाने वालों, साधु होकर साधु का वेश धरने वाले, भीख माँगकर खाने वाले, तीर्थ-व्रतों के बहाने समाज को बरगलाने वाले, ढोंग और आडम्बर रचने

वाले आदि पर सन्तों ने तीखा वार किया। इस दृष्टि से वे समाज सुधार के अग्रणी नेता थे।

उपर्युक्त सन्तों में कबीरदास सर्वाधिक प्रभावशाली विद्रोही सन्त हुए। मध्यकाल के वे ऐसे सन्त थे, जिन्होंने अपने समय की रुढ़ियों और संकीर्ण विचारधाराओं के प्रति विद्रोही स्वर अपनाया। असल में तो कबीर अस्वीकार के सन्तकवि थे, इसलिये निर्भय होकर, उन्होंने अपने समय के खिलाफ जुझारू संघर्ष किया। यही कारण है कि आधुनिक संदर्भ में कबीरवाणी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना सिद्ध हुई है।

उनके समय में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों में, जो धर्म के नाम पर मार-काट चल रही थी, उसका इन सन्तों ने खुलकर विरोध किया तथा मानव के प्रति सहिष्णु होने की लगातार पहल की। जाति-पाँति, ऊँच-नीच के परे ऐसे समाज की कल्पना की, जो सर्वहिताय हो तथा शोषण से परे हो। रुढ़ियों पर कुठाराघात करने वाले कबीर ने, जो सामाजिक-आर्थिक बदलाव की भूमिका तैयार की, वह सर्वधर्म सम्भाव से संबंधित थी। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उन्होंने जिस सधुक्कड़ी परन्तु ठेठ लोकजीवन की भाषा एवं अपने उपयोग में आने वाले साधारण उपकरणों को बिंबाइत किया, वह सच्चाई के अधिक समीप थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में पनपे आगे पीछे के सम्प्रदायों पर कबीर का अक्षुण्ण प्रभाव रहा है।

राजस्थान की सन्त-परम्परा

राजस्थान के क्षेत्र में पनपी अनेक सन्त परम्पराओं को उपर्युक्त धारा से विलग नहीं किया जा सकता। सन्त तो सदा से ही घुमक्कड़ रहे हैं, अतः प्रदेशों की सीमा में बाँधना उनके साथ अन्याय है। निश्चय ही भक्ति आंदोलन से प्रभावित होकर अनेक सम्प्रदाय यहां पनपे, जिनकी सामाजिक बदलाव की महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। दादूपंथ, विश्नोई-सम्प्रदाय, लालदासी-सम्प्रदाय, चरणदासी-सम्प्रदाय, जसनाथी-सम्प्रदाय, रामसनेही, निरंजनी, दरियापंथ ने राजस्थान के समाज में शान्तरस, वैराग्य, निर्वेद आदि की भावभूमि अपना कर पूजा, सेवा-भक्ति आदि के स्थान पर ज्ञान, आचरण एवं मानवसेवा संबंधी समता, सहजता, सदाचार, अहिंसा, दरिद्रनारायण का सहयोग आदि मूल्यों की एक सुदृढ़ भित्ति तैयार की। राजस्थान में जनसाधारण का जनजीवन आज भी उपर्युक्त सन्त परम्पराओं से लाभ उठाकर अपने को धन्य समझता है।

दादूपंथ का राजस्थान में पूर्ण प्रभाव रहा है तथा कबीर की भांति दादूपंथ अधिक उग्र तो नहीं रहा, पर अधिकतर उन्हीं मानव-मूल्यों को अपना कर इस पंथ के सन्तों ने समाज को स्थायित्व प्रदान किया। दादू के अतिरिक्त जहाँ सुन्दरदास जैसे सन्त भी

इसमें हुए, तो रज्जब जैसे मुस्लिम सन्तों ने भी इसे अपना कर हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़तर किया।

अलवर के लालदासजी मेव जाति से थे। उन्होंने साम्प्रदायिकता के खिलाफ जेहाद छेड़ा और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा। मेव एवं हिन्दू आज़ भी समान रूप से उनकी आराधना करते हैं तथा उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं।

आधुनिक समय में वन्यजीवन एवं पर्यावरण-संरक्षण की जोरदार बहसें चल रही हैं, किन्तु मध्यकाल से लेकर, आज तक विश्नोई-सम्प्रदाय वन्यजीव एवं पेड़ों के प्रति गहरा लगाव रखता है। 'चिपको आंदोलन' का प्रारंभ विश्नोई समाज से ही मानना चाहिये, क्योंकि इस सम्प्रदाय के सैंकड़ों नर-नारियों ने पेड़ों की रक्षा के लिये अपना जीवन होम कर दिया। वन्यजीव हरिण, खरगोश, नीलगाय आदि विश्नोइयों के गांवों में निर्भय विचरण करते हैं।

राजस्थान में उपर्युक्त सन्त परम्परा ही नहीं वरन् सूफीसन्तों की भूमि भी कम महत्वपूर्ण नहीं रही है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयासों की सफलता यहां के सन्तों, पीरों में सहज ही टटोली जा सकती है। ख्वाजा साहब की दरगाह पर हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से मत्था टेकने जाते हैं तथा मनौतियां मनाते हैं। यही स्थिति गुरुद्वारों एवं परनामी मंदिरों की है।

आज मंदिर-मस्जिद के नाम पर मारकाट मच रही है। हिन्दू-मुस्लिम समाज में वोट सँस्कृति के कारण वैमनस्य फैलाया जा रहा है। सवर्ण सँस्कृति को इस नाटक में आँच भी नहीं आ रही है, वहीं दलितवर्ग, कर्मण, मजदूरवर्ग बरबाद हो रहा है। वह रोज कुआँ खोदकर पानी पीता है। अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करता है। क्या ऐसे समय में, इस अंधे संदर्भ में सन्तों की वाणी प्रासंगिक नहीं है? मैं समझता हूँ, मध्यकालीन यह सन्त परम्परा हमें सही दिशा दे सकती है। इसका सही अध्ययन और इससे सही समझ आज के संदर्भ में और अधिक जरूरी हो गई है, क्योंकि कबीर कह गये हैं :-

कंकर पत्थर जोड़ कर, मस्जिद लई बनाय।
तामें मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

दुनियां कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय॥

७-ढ-२६, जवाहर नगर, जयपुर

उद्या अलख पछाण

— डॉ. भ्रमरलाल जोशी

बावजी चतुरसिंहजी वीरभूमि मेवाड़ के राजवंश के थे। दिवंगत महाराणा भगवतसिंह जी के आप काका साहब थे। आपका सम्पूर्ण जीवन ऋषियों की भांति सत्कर्मशील रहा। आपने गृहस्थी बसाई। जयपुर के निकट के छापोली ठिकाने की शेखावतजी के साथ आपका विवाह हुआ। पुत्री सायर कुंवर का विवाह गुजरात के विजयनगर के महाराज के साथ सम्पन्न हुआ, पर कुछ ही काल में पत्नी एवं पुत्री दोनों का अकाल अवसान हो गया और यों आप संसार में अकेले ही रह गये, पर बावजी अब अधिक गंभीर एवं स्वस्थ हो गये। अपने आप में आप स्थिर हो गये। आप अनायास ही जीवन के तत्त्व की गहराई में डूबने लगे।

बावजी ने अब भोग से हटकर योग में अपना मन लगाया। मेवाड़ के ही रावत 'बाहरड़ा' ठिकाने के योगी गुमानसिंह जी से आपने राजराजेश्वर योग की विधिवत दीक्षा ली। अब आप उदयपुर से बाहर एकांत में वास करने लगे। बावजी के इस जीवन में आये परिवर्तन को लक्ष्य करके मेवाड़ के राजनगर तहसील के 'केलवा' ठिकाने के राठौड़ ठाकुर रामसिंहजी ने स्तुति करते हुए कहा :-

मन वागी अणहद भहीं, जागी अन्तरजोत।
जाणे किम रागी जगत, गत चातुर गहलोत॥

बावजी मेवाड़ राजवंश के गहलोत कुल में उत्पन्न हुए थे। 'जागी अन्तरजोत' से तात्पर्य है, 'परमतत्त्व के साथ योग होना'। बावजी के काव्य में जो चेतना है, शाश्वत जीवन के तत्त्व हैं, वह जीवन की इस परमोच्च स्थिति के कारण ही।

बावजी मन से योगी थे, पर तन से आप जल कमलवत् संसार में ही रहे। वैदिक ऋषियों की तरह गृहस्थों के बीच श्वेत वस्त्रों में ही। बावजी को साधु-सन्यासियों, आचार्यों और वैष्णव-गोस्वामियों के धर्म के नाम पर पाखण्ड से घृणा थी। कबीर जैसी

अक्खड़ और चोटदार कठोर वाणी में आपने धर्म की आड़ में भ्रष्ट जीवन जीने वाले वैष्णव गोस्वामियों के अनैतिक आचारों को लक्ष्य करके दुत्कारते हुए कहा :-

के क कांचळ्यां पंथ चलावे, के कूँडापंथी व्हेवे।
मेनत रो धन मन नी भावे, मुफत री मनशा रेवे।।

चाम चांक, कपड़ा केशांरा, करे ऊपर भेख।
अठे अणांपे कटे भरम में, वठे एकरा एक।।[1]

अंधेरे में स्त्रियों की कंचुकियों को इकट्ठी करना और फिर उठाकर जिसकी हो उससे मिलाना, यहीं कांचळ्यापंथ है। बावजी ने देखा। जैन साधु गंदे रहते हैं इनके शरीर से पसीने की बदबू आती है और शरीर पर मक्खियां बैठती हैं। ये नंगे भी रहते हैं तथा मुंह पर पट्टियां बांधते हैं।

नो-नो मोर्यां वहै शूगली, माख्यां भमे अनेक ...।
गाभाने तो गणे सूतरो, खोल न्हाकदे फेंक ...।।

बावजी भूत, प्रेत, डायन, चुड़ैल जैसे मलिन तत्त्व के अंधविश्वास से हमें दूर रहने का उपदेश देते हैं। ये वास्तव में हमारे मन की ही दुर्बलता के कारण उत्पन्न होते हैं। बावजी कहते हैं कि यदि ये सच है, तो फिर सरकार को सिपाही रखने की क्या आवश्यकता है? इन्हीं को आगे करके सरकार देश क्यों नहीं जीत लेती है :-

डाकण वे तो शस्त्र सिपाई क्यूं राखे सिरकार।
घर बैठ्या ही मुलक जीत ले, मूठ मंत्र शूं मार।।[2]

कबीर ने समाज-सुधार के लिये जैसे साखियां लिखी वैसे ही बावजी ने भी नीति, उपदेश, बोध के दोहे-सोरठे लिखे हैं। इन दोहों में अपनी अतीव मार्मिक शैली में बावजी ने लोगों को जीवन का मार्ग सुझाया है। नीच के सामने न जाओ। उससे टलकर निकल जाओ। यही सन्त स्वभाव है :-

निकल जावणो टळ नंखे, यो ही सन्त स्वभाव।
पसै जणीरो पांव ने, यसै जणीरो भाव।।[4]

संसार स्वार्थी है। अपने स्वार्थ की ज्वालाओं में वह, तुम्हें सेककर मकई की तरह वह सभी को चबाता रहता है।[5] कांटा, कीचड़, रेत, पानी ये पांव में पड़कर हमारा रास्ता रोकते हैं। इन्हीं के स्वभाव के मनुष्य भी होते हैं :-

कांटो, कादो, रेत, जळ, सघळा पड़ने पांव।
रोके रस्ते चालतां, जश्यो जणीरो दांव।।[6]

बिना निमंत्रण और मनुहार के दूसरे के घर न जाओ। रेल भी स्टेशन पर तभी आती है, जब सत्कार की मुद्रा में सिग्नल झुकता है :-

पर घर पग नी मेलणो, बिना मान मनुहार।
अंजन आवे देखने, सिंगल रो सत्कार।।[7]

संसार में मनुष्य तो बहुत हैं, पर जिनमें मनखाचार है, ऐसे मनुष्य संसार में दुर्लभ है। कई लोग फोनोग्राम की तरह व्यर्थ बक-बक करके हमारा समय नष्ट करते हैं।[8] मच्छर हमारे खून का लोभी है, वह मीठा बोलकर हमारा खून पीता रहता है।[9] कार्ड तो हमारे मन की बात सभी को कहता फिरता है, पर लिफाफा हमारी बात को अपने हृदय में रखता है। बावजी ने घरों में प्रचलित प्रतीकों और उपमानों के द्वारा हमें समझाने का यत्न किया है :-

कारड तो केतो फिरे, हरकीने हकनाक।
जीरी व्हे नी कहे, हिये लिफाफो राख।।[10]

आदमी के दो पैर होते हैं। वह इनसे एक समय में दो रास्तों पर नहीं चल सकता, पर दुष्ट के पास जीभ एक होती है, पर एक ही समय में दो रास्तों पर वह एक साथ दौड़ती चली जाती है :-

दो पग दो पंथाह, कोई नर चाल्यो कडी।
रसना इक दो राह, दुर्जन दौड़े देवचा।।[11]

देवीसिंह बावजी का सेवक था। बावजी ने कुछ दोहे इसे संबोधित करके तथा पूरी 'अलख पचीसी' उदाडांगी को संबोधित करके करी है। बावजी के ये प्रिय सेवक थे। अत: बावजी ने इन्हें काव्य में स्थान देकर अमर कर दिया है। धरती सोने के फूलों से लदी है, पर शूर, विद्वान् और सेवक ही इन फूलों को पा सकते हैं :-

सुवर्णपुष्णां पृथ्वीं चिन्वानी पुरुषास्त्रय:।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।। —यास्क

तो देवीसिंह एवं उदाडांगी ने बावजी की सेवा करके धरती के सुवर्ण पुष्पों को

चुना है। बावजी कवि थे। उन्होंने वैदिक ऋषियों की भांति प्रकृति एवं जीवन को बड़ी गहराई एवं निकटता के साथ देखा था। हरे-भरे खेत, घूमता हुआ रहँट। इस मनोहर दृश्य ने बावजी के भीतर बैठे कवि को जागृत कर दिया। बावजी ने अपने महलों में मुजरे भी देखे थे। बावजी शस्यश्यामला धरती के सौंदर्य का वर्णन करते हैं :-

हर्यो खेत मन हर रयो, मनख फिर रयो बैठ।
घेडां शूं जळ ढळ रयो, राग कर रियो रेंठ।।

हरियाली जाजम बिछी, खटको ठेके लाग।
घेड़ा घूमर ले रही, रेंठ माय ने राग।।

हरे-भरे खेत ही ऐसी बिछात हैं। रहँट खुटके की खटक ही तबले की ताल है। रहँट की ध्वनि से गीत है। बावजी की ही तरह धरती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए ऋषि दीर्घतमा ने संसार को मीठे फलों से लदा एक सुनहरा वृक्ष कहा है। जिस पर अनन्त सुनहरे पक्षी बसेरा ले रहे हैं, मीठे फल खा रहे हैं। दूसरों को मीठे फल खिला रहे हैं तथा मीठे फल खाने के लिये अपने ही जैसे अनन्त-अनन्त पक्षियों को जन्म दे रहे हैं :-

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे, तन्नोनन्नशद्यः पितरं न वेदे।।

ऋग्वेद- १/१६४/२२

ऋषि दीर्घतमा और बावजी चतुरसिंहजी दोनों के बीच का कितना बड़ा अन्तर है। ऋषि दीर्घतमा पांच हजार वर्ष पूर्व के वैदिक कवि हैं, तो बावजी बीसवीं सदी के कवि हैं। पर दोनों की कल्पना में कितना साम्य है। दोनों जीवनवादी हैं और दोनों ही संसार को आनन्दमय देखना चाहते हैं।

बावजी ने देखा की संसार में कुछ ऐसे भी हैं, जो इसे उजाड़ने में लगे हैं। कुछ सर्जन का काम करते हैं, तो कुछ विनाश का। रहँट घूमता है और कोल्हू भी घूमता है, पर एक गन्ने के खेत को हरा करता है, तो दूसरा गन्ने को निचोड़कर छूंछा कर देता है :-

रैंट फरे चरक्यो फरे, पण फरबा में फेर।
एक बाड[12] हरियो करे, एक छुंतारा ढेर।।[13]

बावजी क्षत्रिय थे। शिकार भी आपने किये होंगे। शेर एकदम सामने आ गया

है। बावजी कहते हैं– अब विलम्ब क्यों, घोड़ा दबाओ और शिकार करो :-

आण पड्यो बंदूक रा, मूंडा[14] माथे नार।
अबे ताकणो है कई, झटक खेंच केमार॥[15]

बावजी जिस वंश में उत्पन्न हुए, उसमें बलिदान करना भगवती के समक्ष और युद्ध में अपना बलिदान देना ही धर्म माना गया है। अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये आपके पूर्वज बापारावल, महाराणाहमीर, महाराणा सांगा, महाराणा प्रताप और महाराणा राजसिंह ने अनेक युद्ध किये हैं। मुसलमान बादशाहों के सामने ये कभी झुके नहीं।

हाथी के दाँत बड़े होते हैं और सिंह के नख छोटे होते हैं, पर छोटे नखवाला सिंह पराक्रम में हाथी से महान् होता है :-

काम बड़ो वो ही बड़ो, वृक्ष बड़ो आकार।
मेंगल म्होरा दांतरो, नाना नखरो नरर॥[16]

बावजी ने भक्ति के गीत एवं दोहे भी लिखे हैं। भगवान् एकलिंग आपके कुलदेव हैं एवं जगदम्बा बाणमाता आपकी कुलदेवी हैं। आपने 'चतुरवचनामृत' के मंगलाचरण में ही भगवान् एकलिंग, श्रीनाथजी, ऋषभदेवजी और चारभुजाजी मेवाड़ के इन चारों-धामों का स्मरण किया है :-

एकलिंग, गिरराजधर, ऋषभदेव भुजचार।
सुमरो सदा सनेह सो, चारधाम में वार॥

बावजी का एक दोहा शृंगार रस का मिलता है, जिसमें विरहिणी प्रोषितपतिका नायिका विरह में अपने ही भाग्य को दोष दे रही है। वह कहती है– 'हे सखी! मैं किसे दोष दूं। मेरा पति विदेश में बैठा है।' सूरज का घोड़ा खो गया है और चन्द्रमा का खरगोश :-

पीतम परदेशां गया, देवे कीने दोष।
सूरज रो घोड़ो गम्यो, चन्दा रो खरगोश॥[17]

यहां शृंगार रस व्यंजना है अर्थात् नायिका का विरह में न दिन कटता है और न रात ही। मानो सूरज और चांद स्थिर हो गये हैं।

बावजी की कुल 18 छोटी-बड़ी रचनाएं हैं। ये रचनाएं[18] वेदों की भांति तीन शैलियों में उपलब्ध् हैं। पद्य, गद्य और गीत। चतुरवचनामृत, चतुरचिंतामणि, समानबत्तीसी, अलखपचीसी इनमें पद्य एवं गीत हैं।

परमार्थविचार, अनुभवप्रकाश, हृदयहस्य में आपकी गद्य रचनाएं हैं। 'अलख-पचीसी' रचना लघु होने पर भी यह बावजी की उत्तमोत्तम रचना है। दूध में सार घी है, वैसे ही बावजी के जीवन का यह काव्य-सार है। 'काव्य-सार शब्दार्थ को रसतिहि काव्य-सार[19]।' तो बावजी का अलख रससार है, सर्वसार है।

जो तत्त्व आंखों से नहीं दीखता पर वही सृष्टि का आधार है। इसे हम चेतन, प्राण, आत्मा, जीवन और वेद के कई ऋषियों ने इसे 'सोम' भी कहा है। यह तत्व अगोचर है। इन्द्रियातीत है। न यह आंख से दीखता है, न कान से सुनाई देता है, न नाक से इसे सूंघ पाते हैं। न जीभ से इसका स्वाद ले पाते हैं और न इसे छू सकते हैं। ऐसे इस जीवन के शून्य सूक्ष्म तत्त्व को बावजी ने 'अलख' नाम दिया है। क्योंकि यह किसी भी इन्द्रिय से लक्षित नहीं होता है। बावजी ने अपने उदा नामक सेवक को लक्ष्य करके पचीस छन्द कहे हैं। ये छन्द वेद-मंत्रों की भांति अनश्वर हैं। बावजी ने भिन्न-भिन्न प्रतीकों, उपमानों के द्वारा इस 'अलख' तत्त्व को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है।

सफेद घोड़ी है। उस पर पांच रंगों की जीनकसी है। उस पर सवार हुआ, अधर में बैठा है। हे उदा! पर सवार ही अलख है। तू इसे पहचान ले :-

अबचक घोड़ी ऊपरे, पचरंग मंड्यो पलाण।
वी पे अधर सवार है, उद्या अलख पछाण।।[20]

अबलक घोड़ी चेतन तत्त्व अलख है, पंचरंग पलाण (जीन) हमारा पंच भौतिक शरीर है, यह सृष्टि है। इस पर जो अधर में सवार है, वह भी बाहर व्याप्त चेतन तत्त्व है। जो श्वास, आहार आदि द्वारा सृष्टि बना रहा है।

ऋषि दीर्घतमा ने इस 'अलख' को 'अमर्त्य' नाम दिया है, जो जीव है। यही जीव सोम है और सूर्य में उत्पन्न हो रहा है और वहीं से यह पृथ्वी के पंचभूतों में आकार मिलता है, जिससे सृष्टि हो रही है :-

अपाङ प्रडिति स्वधया, गृभृतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वान्ता विषूची ना वियत्ता न्यश्न्यं चिक्युर्न निचिक्यरन्यम्।।[21]

'मरणशील अन्न के द्वारा धारण किये जाने पर जीव उसके साथ भूमि पर रहता है, फिर अन्न के जीर्ण हो जाने पर वह उसे त्यागकर पुनः अमरणशील आदित्य के मण्डल में मिल जाता है।' अन्न अर्थात् पंच भौतिक शरीर सृष्टि। पार्थिव शरीर के जीर्ण हो जाने पर यह अमर्त्य जीव शरीर से बाहर चेतन के महासागर में मिल जाता है।

'बूंद समानी समंद में सो कित देखी जाये।' सृष्टि की यह वेद के ऋषि की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसमें पुनर्जन्म का कोई स्थान नहीं।

बावजी और ऋषि ऋषितमा दोनों क़ी तुलना की जाये। एक ने जिसे 'अमर्त्य' कहा है, दूसरे ने उसे 'अबलक घोड़ी' कहा है। एक ने पंचरंग का 'पलाण' कहा है, तो दूसरे ने 'अन्न' कहा है। एक राजर्षि है, आधुनिक युग का तो दूसरा ऋषि है, वैदिक युग का। पर दोनों बात एक ही कह रहे हैं।

ऋषि दीर्घतमा ने पुनः सोम-अमर्त्य जीव से पुष्ट अंतरिक्ष में मेघस्थ मध्यमावाक् को सफेद धेनु कहा है। यही धेनु 'अलख' है। अंतरिक्ष के मेघ में सोम मिश्रित कुआँ है, अतः मध्यमावाक् को रसवती सरस्वती[22] कहा गया है। पर अन्नगर्भा है- ऋतावरी है।

तस्याः समुद्रा अधि विक्षरानि तेन जीवनि प्रदिशश्चतस्त्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति।[23]

इस तरह बावजी ने जिसे अबचक घोड़ी कहा है, ऋषि ने उसे सफेद धेनु कहा है। इद्राणी आकाश है। उस पर भरी हुई गागर धरी है और पणिहारी जल भर रही है :-

घर पणिहारी जल भरे, इडोणी असमान।
वी ऊपर गागर भरी, उद्या अलख पिछाण॥३॥

प्रकृति को लेकर बावजी की कैसी भव्य कल्पना है। पणिहारी प्रकृति है। आकाश इन्द्रोणी है और सूर्य है गागर। यह सूर्य ही जगत् का चर-अचर का आत्मा है[24]। वेद में आत्मा शरीर को कहते हैं।[25] सूर्य में जो सोम है, जीव तत्त्व है, वही अलख, निराकार चेतन तत्त्व है। पगली-सी होकर प्रियतमा अपने प्रियतम को ढूंढ़ती फिर रही है :-

खावंड री चढ़ खांख में, घर वन लीधा छाण।
वेंडी वलखे कंत ने, उद्या अलख पछाण॥९॥

यहां प्रियतमा पंचभूत हैं, पंच भौतिक शरीर है। इसमें चेतन तत्त्व जो अलख है, वहीं **'खावंड' है,** पति है। हम परमात्मा को तीर्थों में, मंदिरों में ढूंढ़ते हैं, पर वह तो हमारे भीतर व्याप्त है। कबीर कहते हैं- ***'कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूंढ़े बन मांहि।'*** बावजी के कथन में रहस्य भावना अभिव्यक्त हुई है। भारतीय रहस्य भावना में साधक स्त्री एवं परमात्मा प्रियतम होता है। वहीं भावना यहाँ व्यक्त हुई

है।

बिना दाँत और बिना मुखवाला हिरन धान खा रहा है। इस हिरन को हाँकने वाला ही 'अलख' है :-

बिना दांत मुखरे बिना, हरण्यो खावे धान।
वीं हरण्या रो हांकणो, उद्या अलख पछाण॥११॥

यहां बिना दांत और बिना मुख वाला हिरन 'काल' है। धान सृष्टि है। इस काल को हाँकने वाला है, अव्यक्त चेतन तत्त्व और वही 'अलख' है। क्योंकि चेतन से ही सृष्टि है और सृष्टि है तो उसे खानेवाला कालरूपी हिरन भी है। बांस नहीं तो बांसुरी नहीं, वैसे ही चेतन नहीं तो सृष्टि भी नहीं और काल भी नहीं।

यह स्थिति समझकर बकरी, सिंह को चर गई। इस बकरी का ग्वाला ही अलख है:-

बकरी चरगी नार ने, पालो पाती जाण।
वी बकरी रो ग्वाल है, उद्या अलख पछाण॥८॥

बकरी यहाँ काल है। सिंह सृष्टि है। इस बकरी को 'अजा' और प्रकृति भी कहा गया है। काल इसी प्रकृति का एक रूप है। यह बावजी का विरोधाभासी कथन है। कबीर के साहित्य में भी ऐसे कथन मिलते हैं- ***'ठाडो सिंह चरावै गाय, नाव में नदियां डूबी जाए, बरसे कंबल भीगे पानी। पानी बिच मीन पियासी रे।'***

ऋषि दीर्घतमा ने अग्नि को जीवों को पीनेवाला कहा है। अग्नि जीवों को पीता है और पुनः वमन करता है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है। सूर्य अग्नि है। वह पृथ्वी के रसों को किरणों से खींचता है। वे रस ही मेघ बनकर पुनः धरती पर बरसते हैं। यही अग्नि का जीवों को पीना और उनको पुनः वमन करना है :-

स यो वृषा नरां न रोदस्योः श्रवोभिरस्ति जीवपीतसर्गः।
प्र दः संस्राणः शिश्रीत यौ नो॥ ऋग्वेद १।१४९।२

बावजी ने जिसे 'बकरी' कहा है, वैदिक ऋषि ने उसे अग्नि कहा है। कागज चींटी के जैसा है। उसमें वेद-कुरान सभी हैं, पर अक्षर एक भी नहीं है। यह कागज ही अलख है :-

कागज कीड़ी रे जस्यो वी में वेद-कुरान।
वीं में अक्षर एक नी, उद्या अलख पछाण॥१३॥

यह कागज भी चेतन तत्त्व अलख है। इसी में अव्यक्त रूप में सृष्टि विद्यमान है। जैसे- वटवृक्ष में अनन्तानंत वट हैं। वैसे ही इस चींटी के जैसे अलक पन्ने में अनन्तानंत सृष्टियां विद्यमान हैं। 'अलख-पचीसी' के भावार्थ में कागज 'मन' है। ऐसा कहा गया है, पर हमें यह उचित नहीं लगा, क्योंकि मन क्षर है, वह ज्ञानेन्द्रियों से वनता है। जबकि यह 'अलख' तो शाश्वत जीवन-तत्त्व है। यह अक्षर, अविनाशी तत्त्व है।

बावजी की यह विशेषता है कि आप अपने आस-पास से ही प्रतीक, उपमान ढूँढ़ लिया करते हैं। आप उदयपुर के निवासी हैं, अतः इस वीर-नगरी को कैसे भूल सकते हैं। आप यहाँ के वीर राजवंश को और वीर राजवंश के कुलदेव भगवान् एकलिंग को इस प्रकार स्मरण करते हैं :-

देबारी में उदयपुर, उदयपुर में राण।
वीरे राण दिवाण है, उद्या अलख पछाण॥२३॥

यहां भगवान् एकलिंग 'अलख' हैं। उदयपुर शरीर है और देबारी जगत् है।

बावजी अब अपनी 'अलख-पचीसी' का उपसंहार करते हैं। यह अलख सर्वत्र व्याप्त है। कोई यह कहे कि यह बाहर है, तो वह पागल है और कोई यह कहे कि वह केवल भीतर है, तो वह अज्ञानी है। यह तो बाहर और भीतर एक-सा है, अलिप्त है :-

बाहर के वे बावळा, अंतर कहे अजाण।
बाहर अन्तर एक सो, उद्या अलख पछाण॥२७॥

जिसके आँखें हैं, वही इस अणजाणी 'जाण' को, अलख को जान सकेगा। नहीं तो जीवन भर अज्ञान की नींद में सोया रहेगा :-

जाणे सो ही जाणसी, या अणजाणी जाण।
नीतर उँधी ताण सी, उद्या अळख पछाण॥

बावजी कहते हैं- यह 'अलख पचीसी' सांख्य और योग का सार है। हम कहते हैं, यह वेदों का सार है। वेदों में ऋषियों ने प्रकृति और जीवन को लेकर जो कहा

है, वही बावजी यहां स्तर रूप में, सरल, प्रासादिक शैली में काव्य में अलख-पचीसी में कह रहे हैं।

बावजी का गद्यकाव्य और गद्य रचनाएं भी पद्य की ही भाँति प्रासादिक एवं रसपूर्ण हैं। अल्प शब्दों में बड़ी ही सरल शैली में बावजी बड़ी से बड़ी बात कह जाते हैं। बावजी कहते हैं- 'मन है', नहीं वह तो बनता है। चेतनवती ज्ञानेन्द्रियाँ मन को बनाती हैं- 'श्वास प्रश्वास शूं इन्द्रियां चेते' अर्थात् इन्द्रियां ने ज्ञान व्हेवे ने ज्ञान व्हेवा शूं मन वणे। क्यूं के इन्द्रियां रो झट-झट गरणेरो खावारो नाम हीज मन है। मन शूं आखो संसार वणे अर्थात् निश्चय व्हेवे। निश्चय शूं ही संसार है। पाछो अवळो चालवा शूं यो मिटे। निश्चय ने मन में, मन इन्द्रियांमें, ने इन्द्रियां सांस प्रकृति में मिले। जड़ी सांस, वा इन्द्रियां वा निश्चय आदि कई भी निखाकश दीख जाय है ने ईं रो उपाय सांस में निश्चय शूं मन ने मिलावणो है। यो प्राणायाम करवा शूं व्हे है[26]।

इन पंक्तियों में मन, मन को मिटाकर समाधिस्थ होना दोनों भोग एवं योग की प्रक्रियाओं का सरल शब्दों में निरूपण हुआ है।

बावजी कहते हैं- 'नाटक में आठ ही रस मान्या है, शान्त ने नी। क्यूं के शान्तरस री प्राप्ति व्हेवा पे नाटक ही बन्द व्हे जावे। शांतरस का जीवन के सुख-दुःख के साथ कोई भी संबंध नहीं है। जिस स्थिति में न सुख है, न दुःख है, न चिन्ता है, न द्वेष है, न राग है, वह स्थिति शांतरस की है। शांतरस में पहुँचने पर व्यक्ति असंसारी हो जाता है। इस तरह जो जीवन में नहीं है, तो जीवन के अभिन्न नाटक में भी वह शांतरस नहीं है। इधर आचार्य भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में नवां रस शाना माना है एवं *'नवरसा द्रष्टा नाट्यज्ञैर्त्यक्षणान्विता'*[27] बावजी की अनुभव वाणी है। यह वाणी व्यावहारिक एवं आचार्य भरत की अपेक्षा अधिक प्राप्त है। क्योंकि भरत योगी नहीं थे और हम भी अनुभव करते हैं कि शान्त स्थिति में संसार लुप्त हो जाता है। फिर नाटक कैसा?

बावजी कहते हैं- 'सूरजनारायण रे पगां लागवारे वास्ते मुरजी व्हे तो नीचा पड़ो, मुरजी व्हे उभा व्हो, मुरजी व्हे कई मती करो ने मुरजी वे जोई करो। वणारे तो पगां में हीजहां।[28]

जगत् का कितना महान् सदाचार बावजी ने गद्य की दो पंक्तियों में ढाल दिया है। कोई कितना ही अभिमानी क्यों न हो, वह सूर्य से तो नीचा है ही, उसके तो वह पांवों में है ही। वह यह समझे कि दुनिया मेरे पांव के नीचे है, पर वह भी

किसी महान् शक्ति के पांव तले जी रहा है, जिसे 'सूर्य' कहते हैं। ऐसे वचन को पढ़कर बड़े से बड़ा उन्नत अभिमानी भी तत्काल नम्र हो जाता है। व्यक्ति को अपनी वास्तविकता का आभास हो जाता है।

बावजी ने सँस्कृत वाङ्मय का गहरा अध्ययन किया था। विशेषत: आस्तिक-नास्तिक द्वादश दर्शनों का आपने सूक्ष्म अध्ययन किया था। आपने सँस्कृत काव्यों का अनुशीलन किया था। सँस्कृत के अतिरिक्त आपको ब्रज और हिन्दी का भी पर्याप्त ज्ञान था। आपने हिन्दी साहित्य का भी मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। बावजी ने गीता का समश्लोकी अनुवाद किया है। गीता में अनुष्टुप छन्द है, तो बावजी ने उस श्लोक का अनुवाद मेवाड़ी भाषा में अनुष्टुप छन्द में ही किया है- जैसे :-

ऊंचो जड़, तळे डाळा, अनाशी पीपळो अश्यो।
वेद है पानड़ा ई ने, जाण्यो सो वेद जाणग्यो।[29]

बावजी ने तीन भाषाओं में साहित्य लिखा है। ब्रज, हिन्दी और मेवाड़ी, पर मेवाड़ी आपकी दूधभाषा, मातृभाषा होने से इसमें आपका मन अधिक रमा है। यों राजस्थान की बोलियों में मेवाड़ी अपने आदरार्थ संबोधनों को लेकर अपने राजवंश के कुलगौरव से विभूषित हैं- पधारो, बड़ो हुकम, फरमाओ, हाजर वे जाऊंला, बासाहब, मासाहब, भाईसाहब, आप, रावळे कहूं पधार्या ठांकरस्या, जीमो अंरागी कुंवरस्या इत्यादि। साधारण व्यवहार में भी मेवाड़ का नागरिक परम सभ्य भाषा में बात करता दिखाई देगा।

ऋषि गृत्समद् कहते हैं- हे बृहस्पति! तू नमस्कार करके पास बिठाने योग्य है- 'नमसोपसद्यो।' क्योंकि तू संग्रामों में हमें विजय दिलाता है और धनों से हमें तू परिपूर्ण करता है- 'भरेषु हव्यो', गन्ता वाजेषु सनिता धनं धनम्।

बावजी भी बृहस्पति की भाँति हमारे लिये नमस्कार करके पास बिठाने योग्य हैं। जीवन-संग्राम में आपके वचन हमारे मार्गदर्शक होते हैं। इन्होंने 'सांवळी' स्याही में दीपक और लौ के जैसी उजली-उजली बातें लिखी हैं- समाज की उज्ज्वलता के लिये :-

मसी सांवळी मायने असी उजाळी बात।
दीवारों ने लोलरो, ज्यूं सुभाव यों साथ॥

चतुर चिंतामणि- ४९

'पावयन्ति कुलानिं पृथ्वी च' बावजी ने जन्म लेकर पृथ्वी को पावनत्व अर्पित किया है।[30]

थावे लिख भगवतं जश, भावे गाळयां भांड।
द्वात कलम रो दोष नी, मन हे ज्योंही मांड।।[31]

बावजी ने जग-कल्याण के लिये 'भगवंत' जश को काव्य में गाया है। बावजी के काव्य की और जीवन की भव्यता अपने आप में विरल है।

संदर्भ सूची :-

1. चतुर चिंतामणि पृ. ३४, ३५
2. --- वही --- वही पृ. ३४
3. --- वही --- पृ. ३४
4. --- वही --- पृ. ३६
5. चतुर वचनामृत पृ. १३
6. --- वही --- पृ. १४
7. --- वही --- पृ. १४
8. चतुर वचनामृत पृ. १६
9. --- वही --- पृ. १६
10. --- वही --- पृ. १६
11. --- वही --- भूमिका
12. बाड़= गन्ने का खेत।
13. चतुर वचनामृत पृ. १६
14. मुंडा= मुंह
15. गमार= गंवार
16. चतुर वचनामृत पृ. १६
17. चतुर चिंतामणि पृ. ४६- मेंगल= हाथी, नार= व्याघ्र, कीने= किसको, गम्यो= खो गया।
18. वेदों के मंत्र तीन शैलियों में रचित हैं- ऋक् (पद्य), मंजुष् (गद्य), साम (गीत)।
19. कवि एवं आचार्य देव।
20. अलख पचीसी-2
21. ऋग्वेद संहिता १/१६४/१३
22. सरस्वती को पौराणिकों ने पोथी-माला पकड़ाकर द्ररिदों की देवी बनाया है, जबकि वेद में यह धनवती, अन्नवती, उदकवती, ऋतावरी, मध्यमावाक्ती।
23. ऋग्वेद संहिता १/१६४/४२

24. सूर्य आत्मा जयवस्तरस्युषश्र्व- ऋग्वेद।
25. ऋग्वेद वेंकटमाधव।
26. योगसूत्र- भूमिका।
27. भरत नाट्यशास्त्र ६।१०९
28. चतुर वचनामृत, पृ. १३
29. श्री ·गीताजी १५।१
30. नारद भक्ति सूत्र।
31. चतुर वचनामृत- दोहा-सोराण, पृ. ३३७- 'गवरी बाई मीरां का अवतार मानी गई। मेवाड़ और मेवाड़ की राजवंश की हिन्दी साहित्य को देन- डां. विद्या पालीवाल।

31, प्रशान्त पार्क, पालड़ी
अहमदाबाद (गुजरात)

राजस्थानी सन्त कवयित्रियों के काव्य में सामाजिक चेतना

— डॉ. उषा कंवर राठौर

संत-साहित्य राजस्थान की बहुत बड़ी थाती रहा है। संतों व भक्तों के द्वारा जो भक्ति की पावनधारा प्रवाहित हुई, उसके आगमन से कई लोग धन्य हो गये। दादू वाणी ने ज्ञान का उपदेश देकर गीता का स्मरण करवा दिया। अनेकता में एकता के गुण को समाहित करने में सन्तवाणी[1] का बहुत बड़ा अवदान रहा है। "सन्तवाणी किसी भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ पूंजी है। वह वाणी का विलास नहीं, किन्तु जीवन का निचोड़ है। इसलिए यह जीवित और अमर होती है। सन्तवाणी वह स्वर्गीय गंगा है जिसमें स्नानपान करने से लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतन्त्र हो जाता है।"

मध्ययुग में संत कवियों के अतिरिक्त संत कवयित्रियों की भी एक लम्बी शृंखला है जिनमें मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई, सोढ़ीनाथी, फूलीबाई, समानबाई, गवरीबाई, रानाबाई, आंभाबाई, स्वरूपाबाई तथा सुखीदेवी का संत-साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान है। इन संत कवयित्रियों की रचनाओं में संतकाव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति सम्मिलित है। संत कवयित्रियों ने सभी क्षेत्रों में अपने पूर्ववर्ती और समकालीन संतों का प्रभाव ग्रहण करते हुए आत्मविश्वास, साहस व निर्भीकता के साथ प्राचीन व रूढ़ परम्पराओं व अवधारणाओं को तोड़ा है। इनकी वाणी में कहीं पांडित्य प्रदर्शन और विद्वता दिखाने का दुराग्रह नहीं है, अपितु स्थानीय सरल भाषा में अपने उद्गार प्रकट किये, जिससे लोगों को उसे ग्रहण करने में कठिनाई नहीं हुई।

तत्कालीन समाज में जो विकास एवं विसंगतियाँ थीं, उनको उजागर करके उनके परिष्कार के उपाय भी इन संत कवित्रियों ने बताये। व्यक्ति और समाज के नैतिक आचरण में दोष आ गये थे। समाज में बुराइयां व कुरीतियां फैल गई थीं, उन पर संत कवयित्रियों ने निर्भीकता से प्रहार किया तथा सात्विक, स्वस्थ व विशुद्ध अनुशासित जीवन जीने की प्रेरणा दी। संत कवयित्रियों की सामाजिक चेतना, उनके साधनामय जीवन, उपदेश तथा काव्यसृजन का मुख्य तथा ओजस्वी बिन्दु है। मध्यकालीन राजस्थानी संत कवयित्रियों

की वाणी में जो सामाजिक चेतना के स्वर मुखरित हुए हैं, वे यहाँ निम्न बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं:-

जात-पाँत व ऊँच-नीच के भेदभाव का विरोध

मध्यकालीन राजस्थान में जाति-प्रथा अपने चरमोत्कर्ष पर थी। समाज में कुलीनता व जात-पाँत की खाई पड़ी हुई थी। ऊँच-नीच, छुआछूत तथा मिथ्याडम्बर से हमारा समाज ग्रस्त था। ऐसे समय में इन मध्यकालीन संत कवयित्रियों ने जातिगत एवं धार्मिक भेदभाव भुलाकर ईश्वर एवं धर्म के सच्चे स्वरूप की जानकारी लोगों को कराई। ***''जात-पाँत पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि को होय।''*** यह उक्ति उस समय के संतों की वाणी में मूलमन्त्र की तरह प्रभावशाली बनी। सोढ़ीनाथी ने इसी कुलीनता और जात-पाँत का खण्डन करते हुए, यही सिद्ध किया है कि हरिजन की कोई जाति नहीं होती। वह तो भगवान् को पाने के लिए मन की शुद्धता को अनिवार्य समझती हैं। वह कहती हैं :-

जात-पाँति कुल नाहि, पीयो जन परिषरे।
नांमै को कुल कूंण, नाथी मन निरषरे।।

नहीं जात सूं जोड़, रुचि ना राम की।
भाव भगत सनेह, राजी विसिराम जी।।[2]

सहजोबाई की वाणी में भी जाति व वर्ण व्यवस्था का अपरोक्ष रूप से खण्डन हुआ है। उनका कहना है कि- सत्संगति का लाभ भी वही प्राप्त कर सकता है, जो जाति वर्ण से ऊपर उठा हुआ हो। ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने हेतु संत कवयित्रियों ने नानाविध उपकरणों से हमें सीख दी है कि- जब प्रकृति द्वारा कोई भेदभाव नहीं किया जाता, तो मनुष्य द्वारा ऐसा भेदभाव क्यों? इस सम्बन्ध में निम्नोक्त विचार द्रष्टव्य हैं:-

जो आवै सतसंग में, जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सुं गंगा होय।।[3]

सहजो गुर ऐसा मिले, मैटे मन संदेह।
नीच ऊंच देखै नहीं, सब पर बरसे मेह।।[4]

धार्मिक आडम्बरों व अन्धविश्वासों की भर्त्सना

मध्यकाल में राजस्थान में धर्म के नाम पर तांडव नृत्य हो रहे थे। चारों ओर धार्मिक आडम्बरों का बोलबाला था। कर्मकांड, मूर्तिपूजा, माला, तिलक, कंठी एवं तीर्थाटन आदि बाह्याचार समाज में प्रचलित थे। पीर पैगम्बर व पण्डे-पुजारियों का माया जाल फैला हुआ था। इन पंडितों को अपने ज्ञान का बड़ा घमंड था और ये सहज मार्ग का त्याग करके लोगों को गुमराह करते थे और अपनी प्रभुता को बनाये रखना चाहते थे। संत कवयित्रियों ने धार्मिक आडम्बर फैलाने वाले पण्डे-पुजारियों पर तीखा प्रहार किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :-

कूकर ज्यों भूंसत फिरै, तामस मिलवा बोल।
घर बाहर दुःख रूप है, बुधि रहै डांवा डोल।।[5]

प्रभुताई को चहत है, प्रभु को चहै न कोई।
अभिमानी घट नीच है, सहजो ऊंच न होई।।[6]

इसी तरह संत कवयित्रियों ने उपासना के नाम पर मिथ्याचार को व्यर्थ सिद्ध किया है। राम स्मरण के लिए माला जपना आवश्यक नहीं है। स्वानुभव एवं सहज भाव ही भक्ति का सच्चा मार्ग है। जब हृदय से एकाग्रह होकर प्रभु स्मरण करें तभी मुक्ति संभव है। मुक्ति के लिए यज्ञ व तीर्थाटन आवश्यक नहीं है। संत कवयित्रियों ने मिथ्याचार के विरोध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:-

माला मिणका सूं क्या होई, यू तो राम न पावो कोई।
सांचै मन सूं सिमरण कीजै, फूली सिर बावै कूं दीजै।।[7]

जज्ञ दान तीरथ करे, पूजा भांति अनेक।
मुक्ति न पावे सहजिया, बिना भक्ति हरि एक।।[8]

सामाजिक कुरीतियों का खण्डन

राजस्थान के मध्यकाल में समाज सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त था। पर्दा-प्रथा तथा सती-प्रथा जैसी कुरीतियाँ समाज में व्याप्त थीं। अशिक्षित नारी लकीर की फकीर बनी बैठी थी, ऐसे समय में मीराबाई की वाणी एक आलोक स्तम्भ का कार्य करती है। बड़े राजघरानों में पर्दा-प्रथा का कड़ाई से पालन किया जाता था, उसी राजघराने की मीरा ने लोकलाज का त्याग करके साधु-सन्तों की संगत की इसके लिए मीरा की अत्यधिक भर्त्सना की गई थी। मीराँ राजकुल की पर्दा-प्रथा का त्याग कर बेझिझक

साधु संगति में जाना अनुचित नहीं समझती थीं। पर्दा-प्रथा के विरोध में उसके विचार द्रष्टव्य है :-

नाचन लगी जब घूंघट कैसो, लोक लाज तिणका ज्यूं तोरयो।
नेकी बदी हूं सिर पर धारी, मन हस्ती अंकुस दे मारयो।[9]

लोक लाज कुल काणिहु, तजिकै, निरभै निसांण धुरास्या।[10]

जेठ बहू की कान न मानू, घूंघट पड़ गई पटकी।
परम गुरां के सरण में रहस्या, परणाम करां लुटकी।।[11]

रे सभजुग हंसवा दे
हसती की चाल चलौ रे मन मेरा पीछे कुकर भुसवा दे।[12]

इसी तरह मध्यकाल में जब सती होना सम्माननीय कृत्य तथा चारित्रिक उज्ज्वलता का प्रतीक समझा जाता था। अधिकांश उच्च व मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ सती होने के लिए कृतसंकल्प रहती थीं। दिवंगत पति के साथ नवयौवनाओं को जीवित चिता की आग में प्रवेश करने के लिए मजबूर किया जाता था। अबला नारी को कौन सहारा देता, ऐसी परिस्थितियों में भी मीराँ ने अपने पति भोजराज की मृत्युपरांत अपने आपको चिरसुहागिन माना तथा गिरधरनागर को वास्तविक पति मानते हुए निर्भीकतापूर्वक सती होने से इनकार कर दिया :-

भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोहयो घण नामी।[13]

संत मीराँ ने रूढ़ियों को ठुकराते हुए, अपने मनोबल के सहारे भक्ति का सम्बल ग्रहण किया तथा अपनी दबी हुई पीड़ा को करुणामय गीतों में ढालकर समाज को एक नई दिशा प्रदान की।

दुराचरण के प्रति आक्रोश तथा मानवीय गुणों का महत्व

मध्यकाल में समाज नैतिक संकट से ग्रस्त था। अत्यधिक ऐश्वर्य तथा विलासिता के कारण राजाओं, सामन्तों एवं उच्च वर्ग में भ्रष्ट आचरण फैलता जा रहा था। ऐसी स्थिति में संत कवयित्रियों ने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। संत कवयित्रियों ने अहंकार, मोह-माया से दूर रहने तथा विनम्रता, अपरिग्रह, सादगी, करुणा एवं प्रेम का उपदेश देकर आत्मसुधार पर बल दिया, जो प्रकारान्तर में समाजसुधार ही है।

स्वस्थ मन तथा पवित्र आचरण इन संत कवयित्रियों की दृष्टि में आध्यात्मिक साधना के पथ की पहली शर्त थी। पवित्र आचरण के लिए अहंकार का विनाश आवश्यक है। अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, समर्पण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। विनम्रता की महानता को सिद्ध करते हुए, संत कवयित्रियों ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:-

अभिमान जितै मन मांहि तितैही, विनम्र बिनै न हुवै ध्रुव बात।
बिनही तो विनम्र विनै के किये, शरणागति भाव हिये न भरात॥

विनही शरणागति भक्ति कहा, बिन भक्ति न भक्तहि वत्सल आत।
अभिमान समान न आन अरी, मम श्री भगवान सो क्यों न नसात॥[14]

अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्ही बाकरी, प्यार करै संसार॥
सहजो नन्हा बालका, महल भूप के जाय।
नारी परदा ना करे, गोदहि गोद खेलाय॥[15]
मोह माया ममता, तजै देह अभिमान।
गवरी ऐसी जीव लहू, कहिए इष्ट समान॥[16]

संत कवयित्रियों ने सच्चे साधु के लक्षण बताते हुए, मनुष्य को सहनशीलता, विनम्रता एवं मीठी वाणी का उपदेश दिया है। मनुष्य को काम, क्रोध, मद और लोभ से दूर, द्वेष भावना से रहित, झूठ एवं निन्दा-स्तुति से परे रहकर साधु की सी निरपेक्ष वृत्ति तथा सुख-दुख में समभाव रहने की सीख देकर संत कवयित्रियों ने सही मार्गदर्शन किया है। इस सन्दर्भ में निम्न बानगी द्रष्टव्य है:-

साध सोई जो काया साधै, तजि आलस और बाद बिबादे।
गहै धारनां सब गति भारी, तजै बिकलता अस्तुति गारी॥

छिमावन्त धीरज कूँ धारे, पांचो बस करि मन कूं मारै।
त्यागे झूठ सांच मुख बोले, चित अस्थिर इत उत ना डोलै॥

तन जग में हरि के पासा, लोग भोग सूं सदा उदासा।
जत सत नख सिख सीतलताई, तन मन बचन सकल सुखदाई॥

निर्गुन ध्यानी ब्रह्म गियानी, मुख सूं बोले अमृत बानी।
समझ एकता भाव न दूजे, जिनके चरन सहजिया पूजे॥[17]

निरद्वंदी निर्बैरता, सहजो अरु निर्बास।
सतोषी निर्मल दसा, तकै न पर की आस॥[18]

काम क्रोध मद लोभ, नहि खट विकार करि हीन।
पथ कुपथ न जानहीं, ब्रह्म भाव रस लीन॥[19]

संत कवयित्रियों ने अपने पदों में स्वयं द्वारा किये गये दान-पुण्य एवं धर्मभावना की भीं चर्चा की है। जैसे- जोधपुर राजघरानें की कवयित्रियों जाड़ेचीजी प्रतापबाला, प्रतापकुंवरी व विष्णुप्रसादकुंवरी ने जोधपुर में अनेक देवमन्दिर रामद्वारे, तालाब तथा कुओं का निर्माण करवाया था। इन्होंने अपने कुछ पदों में इन सबके अतिरिक्त राजा-महाराजाओं द्वारा किये गये दान-पुण्य की भी चर्चा की है, जिससे तत्कालीन समाज में दान-पुण्य एवं परोपकार की भावना जाग्रत हुई। उनका कहना है कि मनुष्य को धन संचय के बजाय ज्ञान-संग्रह व भक्ति करनी चाहिए। लोभी मनुष्य जो हरदम धन संचय में लगा रहता है, उस पर कुठाराधात करते हुए सोढ़ीनाथी कहती है:-

जो खरचे खाअै नहीं, राखै माया मूंदि।
तिस रखवालो रांक तू, कै जण लिअैगे बूंदि॥[20]

मध्यकाल में समाज के वे लोग जो सोने-चांदी के चकाचौंध में अपनी सँस्कृति को भूल गये थे, उनके प्रति संत कवयित्रियों की वाणी में आक्रोश प्रकट होता है। फूलीबाई ने राजकुल की रानियों व राजा को भी 'सादा जीवन-उच्च विचार' की शिक्षा प्रदान की। वह निर्भीकतापूर्ण स्पष्ट शब्दों में कहती है :-

गैणा गांठा तन की सोभा, काया काचो भांडो।
फूली कहै थे राम भजो नित, और उपाधी छांडो॥[21]

ऊंचो पीछो करै, निहचल कर लै मन्न।
झूग्गो सिर की पागड़ी, माटी मिलसी तन्न॥

माटी सूं ही ऊपज्यो, फिर माटी हुय जाय।
फूली कहै राजा सुणो, करल्यो भजन उपाय॥

स्वान-काग - जबुंक भखै, जल - बल होसी खेह।
ऐसी गंदी देह कूं, ऊंचो करियो केह॥[22]

सद्गुरु की प्रेरणा तथा उसकी उपयोगिता

संत कवयित्रियों की वाणी में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। गुरु ही सच्चा पथ प्रदर्शक होता है। वह मनुष्य को पतनोन्मुख होने से रोकता है। सद्गुरु की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से व्यक्ति सद्पथ पर चल कर आत्मविकास के साथ-साथ समाज का विकास भी कर सकता है। संत कवयित्रियों ने ऐसे गुरु की आलोचना भी की है, जो केवल धन व नाम के भूखे हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बानगी द्रष्टव्य है:-

गुरु की सेवा मंगल मेवा, सेवा से सब पाप कटे।
प्रथम ध्यान हृदय में लाके, गुरु चरणों का ध्यान घटे।।

तन मन अपना अर्पण करके, गुरु चरणों में शीश धरै।

गुरु प्रसन्न भये अति मेरे, मोह उपदेश सुनाय दिया।
गुरु मंत्र हिए धारण करके, मन मटके को शुद्ध किया।।[23]

ज्ञान दीप सतगुरु दियौ, राख्यौ काया कोट।
साजन बसि दुर्जन भजे, निकस गई सब खोट।।

सहजो गुरु ऐसा मिलै, जैसे धोबी होय।
दै दै साबुन ज्ञान का, मलमल डारै धोय।।[24]

ऐसे गुरु तो बहुत है, धूत धूत धन लेहिं।
सहजो सतगुरु जो मिलै, मुक्ति धाम फल देहिं।।[25]

साध व दुष्ट का भेद तथा सत्संग का महत्व

संत कवयित्रियों ने सत्संग को आध्यात्मिक वातावरण के लिए आवश्यक माना है। सत्संग की आध्यात्मिक उपयोगिता के साथ सामाजिक उपयोगिता भी कम नहीं है, क्योंकि वह व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान में सहायक है। मनुष्य के चरित्र के उत्थान से ही एक अच्छे समाज के निर्माण की कल्पना की जा सकती है। सतसंगति के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए संत कवयित्रियों ने साधुमहिमा के साथ-साथ दुष्टों के लक्षण भी गिनाये हैं, ताकि व्यक्ति उसके प्रति सचेष्ट रह सके। इस सम्बन्ध में संत कवयित्रियों के विचार देखिए :-

सहजो संगत साध की, काग हंस ह्वै जाय।
तजि के भक्ष अभक्ष कूं, मोती चुगि चुगि खाय।।[26]

साध रूप हरि आप है, पावन परम पुरान।
मेटैं दुबिधा जीव की, सब का करैं कलयान॥

साधु संग जग में बड़ो, जो करि जानै कोय।
आधो छिन सतसंग को, कलमख डारै खोय॥[27]

दुष्टन की महिमा कहूं, सुनियो सन्त सुजान।
ताना दै दै .दृढ करें, भक्ति जोग अरु ज्ञान॥[28]

सगुण-निर्गुण का स्पष्ट विवेचन और समन्वयवादी दृष्टिकोण

मध्यकाल में विष्णु के अवतार राम और कृष्ण की पूजा विशेष रूप से की जाती थी। हिन्दू व मुसलमानों में अपने धर्म को श्रेष्ठ बताने की होड़ लगी हुई थीं। अपने धर्म की श्रेष्ठता, उच्चता और बड़ाई करने की प्रतिस्पर्धा ने झगड़ों को जन्म दिया। ऐसे समय में सन्त कवयित्रियों ने मानव-प्रेम का अलख जगाया। उनका कहना था कि, मनुष्य का अपना कोई निजी धर्म नहीं है। ईश्वर एक है तथा मानव उसकी संतान है। उन्होंने सबको हिलमिल कर रहने की प्रेरणा दी, जिससे समन्वयवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला। सगुण व निर्गुण में अन्तर और अभेदता एक साथ व्यंजित करते हुए, यह प्रेरणा भी दी कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बानगी द्रष्टव्य है:-

निराकार आकार सब, निर्गुन और गुनवन्त।
है नाही सूं रहित है, सहजो यों भगन्वत॥

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, परि परगट हरि गूप॥[29]

आन धरम कूं नाहिं जानूं, जपूं हरि हरि एक।[30]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संत कवयित्रियों ने अपने समय की धार्मिक, आध्यात्मिक एवं मानवीय प्रवृतियों तथा उस समय की सामाजिक कुरीतियाँ, अन्धविश्वास व गलत रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का उद्घोष किया तथा समाज में चेतना जाग्रत की। संत कवयित्रियों के इस उद्घोष से मानवता की रक्षा में जो योगदान मिला है, उससे हम अवश्य लाभान्वित हुए हैं। संत कवयित्रियों की वाणी ने लोग मानस के चिंतन को नया आयाम दिया। कोई शुष्क हृदयहीन ही होगा जिन पर इन संत कवयित्रियों की वाणी का प्रभाव न पड़ा हो। मुझे इस सन्दर्भ में कवि एवं संत शिरोमणी कबीर दासजी का यह दोहा स्मरण हो आता है :-

हरिया जाणे रुंखड़ा, उस पाणी का नेह।
सूखा काठ न जांणई, कब हुंक बुठा मेह॥

आधुनिक युग में जहां ऋषि मुनियों के देश भारत में अध्यात्म की जगह भौतिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, वहां इन संत कवयित्रियों की वाणी को जन-जन में पहुँचा कर उनमें पुन: आध्यात्मिक प्रवृति एवं शाश्वत मानवमूल्यों को जाग्रत किया जा सकता है। दूरदर्शन, सिनेमा और केबल टी.वी. द्वारा प्रसारित भड़कीले कार्यक्रमों की तुलना में हमारा संत-साहित्य उपेक्षित होता जा रहा है। भारतीय सँस्कृति और शाश्वत सामाजिक मूल्यों को स्थापित करने में तथा अध्यात्म और नैतिकता की ज्योत जगाने में इन संत कवयित्रियों की वाणी निश्चय ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि नवमानवतावाद एवं विश्वकल्याण की स्थापना हेतु, इन संत कवयित्रियों की रचनाओं एवं वाणी का व्यापक प्रचार-प्रसार हो ताकि 21वीं सदी की ओर बढ़ते समाज में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा हो सकें।

संदर्भ सूची :-

1. काकाकालेलकर के शब्दों में—''सन्तवाणी किसी भी राष्ट्र की .... हो जाता है।
2. नामलीला (सोढ़ी नाथी) गुटका सं. 111 (काव्य), अ.स.पु. बीकानेर।
3. सहजोबाई की बानी - साध महिमा, दोहा सं. 9, पृ. 13, वेलवेडियट प्रेस, प्रयाग, सन् 1937
4. वही - गुरु महिमा, दोहा सं. 58, पृ. 11
5. सहजोबाई की बानी - नाम का अंग, दोहा सं. 31, पृ. 36
6. वही, दोहा सं. 37, पृ. 36
7. फूली बाई की साखियां - ग्रन्थांक 4863, सां.न. 7, रा.शो.सं. चौपासनी
8. सहजो बाई की बानी - नाम का अंग, दोहा सं. 2, पृ. 13
9. मीरा वृहत पदावली-भाग 1, संपा. स्व. श्री हरिनारायण जी पुरोहित, पद सं. 452, पृ. 218
10. वही, पद सं. 129, पृ. 63
11. वही, पद सं. 15, पृ. 8
12. मीराबाई का जीवनवृत एवं काव्य, डॉ. कल्याणसिंह शेखावत पृ.सं. 226
13. ------------------ वही -------------------- पृ. 152
14. मत्स्य की मीरा भक्तिमती समानबाई और उनका काव्य, संपा वासुदेव सिंह, पृ. 38

15. सहजोबाई की बानी - नन्हा महा उत्तम का अंग, दोहा सं. 3, 8 पृ. 27
16. कीर्तनमाला-गवरी बाई की बानी
17. सहजोबाई की बानी - साध लक्षण, पद सं. 21, पृ. 15
18. ---------- वही---------- दोहा सं. 22, पृ. 15
19. दयाबाई की बानी साध का अंग, दोहा सं. 4 पृ.सं. 9 वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् 1927
20. साखिया (सोढी नाथी), गुटका, सं. 11 अ.स.पु. बीकानेर
21. फूलीबाई की साखियां - ग्रन्थांक 4863, साखी नं. 22 रा.शो.सं.
22. ----- वही ----- - ग्रन्थांक 4863, सा.न. 14, 15, 16 रा.शो.सं. चौपासनी
23. भजन पुष्पावली - सुखीदेवी
24. सहजोबाई की बानी गुरु महिमा, दोहा सं. 45, 57, पृ. 10, 11
25. वही, दोहा सं. 62, पृ. 11
26. सहजो बाई की बानी - साध महिमा, दोहा सं. 10, पृ. 13
27. दयाबाई की बानी - (दया बोध), साध का अंग, दोहा सं. 8, 16, पृ. 9
28. सहजोबाई की बानी - दुष्ट लक्षण, पृ. 14
29. -------- वही -------- - निर्गुण सगुण सशंय निवारण भक्ति का अंग, दोहा सं. 13, पृ. 42
30. ----- वही ----- मिश्रित पद, पं. 54

राजस्थानी शोध संस्थान
चौपासनी जोधपुर

❑❑

रामसनेही संतों की वाणियाँ

— डॉ. पूर्णानन्दपूर्ण पंथी

सन्त श्री बीजलदासजी रामसनेही की वाणी-

साधो भाई! निरगुण पद निरवाना।
कर्ता-कर्म क्रिया नहीं पूजा, मैं तू मूल मिटाना॥ टेक॥

माया, जीव, ईश, ब्रह्म चारों, मह चहुं भेद महाना।
भोगे जीव, ईश फलदाता माया उपाधि कहाना॥ १॥

इन में सत्ता ब्रह्म की जानो, अन्वय ज्यों समझाना।
व्यतिरेक पुष्प ज्यों माला, सब घट में वरताना॥ २॥

ऐसे ब्रह्म विकारी जानो, सो निर्गुण नहीं माना।
इन द्रष्टाशुद्ध चेतन कहिये, गुणों अतीत निधाना॥ ३॥

तुरिये अतीत अगम अगोचर, लगे न वेद पुराना।[1]
साधन कर्म उपासना नाही, ज्ञान ध्यान भटकाना॥ ४॥

बोधबुद्धि मन थाकत वृत्ति, षट प्रमाण न जाना।
हेति नेति शब्द थके सब बीजल अलख अभाना॥ ५॥

भावार्थ : इस वाणी में महात्मा बीजलदासजी ने[2] गुणातीत ब्रह्म का विवेचन किया है। ब्रह्म कैसा है - उसमें कर्त्ता, भोक्तापन नहीं तथा क्रिया-कर्म व मैं तूं का भाव नहीं है। माया, जीव, ईश्वर और सगुण ब्रह्म ही अन्वय रूप से विराजमान है। इन चारों का ब्रह्म के साथ में व्यतिरेक (भेद) है। ब्रह्म में छह प्रमाणों की भी गति नहीं है। अपने आपको यथार्थ जानने के पश्चात् वेदों से-कोई प्रयोजन नहीं रहता। इत्यादि।

महात्मा श्री अचलरामजी की वाणी

तुरीये अतीत अनादि थाया, नहीं कोई गमा नहीं कोई[3] पाया॥ टेक॥

नहीं वो प्रकट नहीं वो गुप्ता, नहीं वो चुप नहीं वो वक्ता।
नहीं उसके बन्ध नहीं वो मुक्ता, नहीं वो जन्मे नहीं वो मरता॥ १॥

अप्रमाणी[4] है निरवाणी, जिसमें चारों वाणी न खाणी।
बोल अबोल कह्य नहीं जावे[5], लखन मखन में नहीं वो आवे॥ २॥

लखना बखना तुरिये तांई, तुरिये आगे कहा नहीं जाई।
कहना अकहना नहीं कोई साकी, शेश अशेष नहीं जहां बाकी॥ ३॥

वाच अरुलक्ष लगे नहीं कोई, तुरिये अतीत अनुभव है योई।
अचलाराम अचल निज सोई, अपना आप और नहि कोई॥ ४॥

भावार्थ : इस वाणी में महात्मा श्री अचलरामजी ने अपने स्वरूप को सबसे परे बताया है। अपना स्वरूप नहीं प्रकट है, नहीं छुपा हुआ है, बन्ध-मुक्त से परे है। उसमें चारों खाने, चारों वाणियाँ वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का भाव भी नहीं है। वह तो केवल अनुभव रूपी एक प्रमाण का ही विषय है।

सन्तश्री अचलरामजी की वाणी

चौथे पद का लक्ष बताया, समझ विचार निश्चत कर गाया॥ टिका॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों, तुरिये अवस्था गुरुगम चीनों।
जुदी-जुदी चारों बतलाऊं, अर्थ करे है ज्यों समझाऊं॥ १॥

चौदह इन्द्रिय अध्यात्म जाना, तिनके चौदह अधिदेव ठाना।
चौदह विषय अधिभूत विचारा, बयालीस तत्व जाग्रत् प्रसारा॥ २॥

जाग्रत् जीवनैन स्थानी, क्रिया शक्ति बैखरी बानी।
रजोगुण स्थूल भोग का चारा, विश्वजीव जाग्रत् को धारा॥ ३॥

जाग्रत् बरतत आलस आया, जाग्रत् पलट स्वप्न दरशाया।
जाग्रत् ज्यों सब दीखे व्यवहारा, सपने सपनी होय भरमे सारा॥ ४॥

सपने जीवकण्ठ में राचा, शक्ति ज्ञान मध्यमा वाचा।
सूक्ष्म भोग रजोगुण धर्मा, तैजस जीव स्वप्न में भरमा॥ ५॥

जाग्रत् स्वप्न नहीं जहां दोई, सुषुप्ति जानो तुम सोई।
त्रिपुटी का लेश न होई, जगत् प्रपञ्च भासे नहीं कोई॥ ६॥

सुषुप्ति में जीव हृदय ठहरानी, द्रव्यशक्ति पश्यन्ती वानी।
आनन्द भोग तमोगुण कहिये, प्राज्ञा जीव सुन्नता गहिये॥ ७॥

तीनों अवस्था भिन्न भिन्न विचारी, तुरिये चेतना आरं पारी।
ये तीनों तुरिये कर भासी, तुरिये द्रष्टा तिहूं प्रकाशी॥ ८॥

आदि अन्त मध्य सीपी मांई, कागज भोडल रूपो नांई।
यो तुरिये में नहीं पसारा, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति धारा॥ ९॥

मैं तूं नहीं कहूं क्या भाई, एक दोय की वहां गम नांई।
अचलराम चौथा पद सोई, अचल अखण्ड है निरमोई॥ १०॥

भावार्थ : इस वाणी में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का जीव, स्थान, शक्ति, वाणी, भोग और गुणों का भली प्रकार से विवेचन किया है।

सन्त श्री सुखरामजी की वाणी

साधो भाई सतरी संगत सुखदाई।
वेद सन्त अरु श्रुति स्मृति, आप श्रीमुख गाई॥ टेक॥

कई बार इन्द्र सुख भोग्या, फेर चौरासी पठाई।
आत्मज्ञान उदय नहीं जब लग, तब लग गोता खाई॥ १॥

आत्म ज्ञान उदय होवणकी, चार उपाय है भाई।
सम सन्तोष विचार ताय तल, कर्मा कमी रही नहीं काई॥ २॥

जो जन सतसंगत में आवें, पार ब्रह्म मिल जाई।
कह सुखराम भ्यां अब निरभै, सत संगत सुखपाई॥ ३॥

भावार्थ : इस वाणी में सत्संग की महिमा के साथ आत्मज्ञान प्राप्ति के चार उपाय बताये हैं, ये चार उपाय ही चार मोक्ष के द्वारपाल कहलाते हैं। इन चारों से मोक्षरूपी किले में प्रवेश के लिये मित्रता करना जरूरी है। प्रथम सम- मन को विषयों से रोकना, द्वितीय संतोष - यथालाभ में संतुष्ट रहना, तृतीय विचार - सत असत् का विवेक करना, चतुर्थ सत्संग - असत् का त्यागपूर्वक सत् का संग।[6]

श्री वनानाथजी महात्मा की वाणी

आज दिवाड़ो सत्गुरु देव को गावो मंगलाचार॥ टेक॥

सन्त द्वारे चालो सखी, सज सोलह श्रृंगार।
लघुता को लंगर पहरले, थिन अजूणो बार॥ १॥

पांच सखी भेली हुई, मिली पचीसों आन।
अर्ध ऊर्ध आसन किया, कर रही पवन छिपान॥ २॥

तन केरो दिवलो करु, बाती करु मन सार।
तैल सिंचाऊं प्रेम को, जगिया ब्रह्म विचार॥ ३॥

इला पिंगला शोध के, सुखमण किया निहार।
रिमझिम करती कामिनी, आई त्रिवेणी द्वार॥ ४॥

दसवें में दर्शभया, अनहद घुरिया निशान।
ज्योति झिलोमिलजग रही, यह साचा सहनान॥ ५॥

जुड़ी हताई हरनाम की, सन्त जन करत विलास।
बिच में विराजे गुरु आपणा, करोड़ भानु प्रकाश॥ ६॥

जियाराम गुरु भेटिया, भागा भ्रम अन्धार।
वनानाथ चरणा रह्या, नित प्रति करत दिदार॥ ७॥

भावार्थ : इस वाणी में बुद्धि के सोलह श्रृंगारों का संकेत किया है। सोलह श्रृंगार, आठ ज्ञान के साधन और आठ योग के साधन कहलाते हैं। आत्मा का करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश बताया है, जो पूरे विश्व में व्यापक है।

सन्त श्री माधोरामजी की वाणी

आत्मा कोशों परे रहाई।
पंचकोष को मिथ्या समझो, न्यारों है निज सांई॥ टेक॥

अन्न, प्राणमय, मनोविज्ञाना, आनन्द कोश कहाई।
माया कृत पदार्थ झूठा, उत्पत्ति प्रयल मांई॥ १॥

अन्न से उत्पन्न - अन्नमय कहिये, अन्त में भूमि समाई।
प्राण पंच कर्म इन्द्रियें मिलके, प्राणमय कोश लखाई॥ २॥

ज्ञान इन्द्रियें मन सहित ये, कोश मनोमय, थाई।
ज्ञान इन्द्रियें पंचबुद्धि मिल, कोश विज्ञान बताई॥ ३॥

प्रिय - मोद - प्रमोद मिल, आनन्द लहर उपजाई।
हुए मिटे नभ वारिद जैसे, क्षणिक विज्ञान सुनाई॥ ४॥

गुरु बलराम मिल्या निज साचा, निर्णय कर दरशाई।
माधोराम निज रूप लखाया, मग्न भया तां मांई॥ ५॥

भावार्थ : इस वाणी में पांच कोषों का समुचित प्रतिपादन किया है। आत्मा इन पांचों कोषों से परे है अर्थात् रहित है। कोषों के नाम— **अन्नमय कोश** : यह पृथ्वी रूप है, अत: अन्त में पृथ्वी में ही विलीन होता है। **प्राणमय कोश** : प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान तथा पंच कर्मेन्द्रिय मिलकर प्राणमय कोश कहलाता है। **मनोमय कोश** : ज्ञानेन्द्रिय और मन। **विज्ञानमय कोश** : ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि। **आनन्दमय कोश** : प्रियमोद और प्रमोद नामक वृत्तियाँ हैं।

1. इष्ट वस्तु दर्शन जन्यआनन्द को प्रियवृत्ति कहते हैं।
2. इष्ट वस्तु प्राप्त जन्यआनन्द को मोदवृत्ति कहते हैं।
3. इष्ट वस्तु भोग जन्यआनन्द को प्रमोदवृत्ति कहते हैं।

संदर्भ सूची :-

1. यावानर्थ उदपाने, सर्वत: संप्लुतोदके।
   तावान्सर्वेपुवेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानत:॥ गीता 2, 46
2. शब्दाकरशिरोमणि पृ. 261, सन्त बीजलदासजी।
3. केवलरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवल:। इति श्रुति:
4. अखिल प्रमाणागोचरं ब्रह्म।
5. यतो वाचो निवर्तते अप्राप्य मनसा सह। इति श्रुति:
6. वाणीप्रकाश पृ. 54, श्री सुखराम जी

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

❑❑

संतकवि वील्होजी और उनकी वाणी

— डॉ. कृष्णलाल बिश्नोई

भारत-भूमि अपनी प्राचीनता, आध्यात्मिकता, विशालता और विभिन्नता में एकता के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है। यहां अनेक साधु-संत, पीर-फकीर और देवी-देवता हुए हैं। यहां ऐसे बहुत से चमत्कारी और परोपकारी पुरुष हुए हैं, जिनकी पूजा यहाँ के लोग आज तक करते हैं और उन्हें भगवान् मानते हैं।

पानीपत का द्वितीय युद्ध 1556 ई. में लड़ा गया। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि अकबर ने हेमू को इस लड़ाई में हराकर दिल्ली का शासन प्राप्त किया था।[1] यह हेमू रेवाड़ी (हरियाणा) का रहने वाला था। जहां एक ओर रेवाड़ी का यह नौजवान योद्धा एक विशाल राज्य की कल्पना कर रहा था, वहीं रेवाड़ी में जन्मा एक और युवा संत मारवाड़ में मानव कल्याण के कार्य कर रहा था। इस युवा संत का नाम था- वील्होजी।

वील्होजी का जन्म 1532 ई. में रेवाड़ी (हरियाणा) में एक खाती (सुथार) के घर हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीचन्द्र और माता का नाम आनन्दाबाई था।[2] इनकी आँखें बचपन में ही चेचक से खराब हो गई थीं। एक बार गुजरात की ओर से वेदान्ती साधुओं की टोली इनके गांव में आई। वील्होजी के मां-बाप ने उन्हीं साधुओं को इन्हें सौंप दिया। वेदान्तियों के साथ रहने से उन्हें वील्हापुरी की उपाधि मिली थी। लेकिन विश्नोई समाज में ये वील्होजी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। साहबराम जी राहड़ ने तो अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'जम्भसार' में उन्हें वील्हदेव कहा है।[3] उनकी वाणी में भी हमें उनके, अनेक नाम पढ़ने को मिलते हैं, यथा- वील्ह, वील्हा, वील्हो, बील आदि।

वील्होजी वेदान्तियों के साथ घूमते-फिरते एक बार गांव हिमटसर (जिला बीकानेर) में पहुंचे। सुबह वे बाहर घूमने निकले तो उन्होंने जाम्भोजी के सबदों का पाठ सुना। एक स्त्री से पूछने पर उन्हें मालूम हुआ कि पास में तालवा गांव है, जहां जाम्भोजी का धाम है। यहाँ सुबह-सुबह होम होता है और साखी-सबदों का पाठ होता है। वील्होजी

ने अपने साथी वेदान्तियों को वहीं छोड़ा और वे जाम्भोजधाम मुकाम पहुँच गये।

जाम्भोजी (सन् 1451-1536 ई.) के अन्तर्ध्यान होने के आठ वर्ष बाद 1544 ई. में वील्होजी मुकाम आए थे। इसी समय उन्होंने 'गुरु तारि बाबा, बोह दुख सह्या सरण्य विण्य तेरी, करि-करि करम कुफेरा' नामक साखी जाम्भोजी को निवेदन करते हुए गाई थी।[4] इससे उनकी आँखों में पुनः ज्योति आ गई थी। मानो उनके ज्ञानचक्षु खुल गये थे। लोगों ने एक चमत्कार देखा। उन्हें बहुत अचम्भा हुआ। उन्हें जाम्भो जी की भविष्यवाणी याद आई। जाम्भोजी द्वारा बताई गई सब बातें लोगों को वील्होजी में नजर आई। उसी समय जाम्भोजी के शिष्य नाथोजी ने उन्हें 'पाहळ' देकर बिश्नोई धर्म में दीक्षित कर लिया था।

जाम्भोजी ने मानवतावादी धर्म चलाया था और जन-कल्याण के कार्य किये थे. यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि जीवों को बचाने, पेड़-पौधों को लगाने, नशे-पतों का छुड़ाने आदि जाम्भोजी द्वारा मानव-कल्याण के, शुरू किये गये कार्यों को संत वील्होजी ने जारी रखा।

वील्होजी के गुरु नाथोजी को[5] जाम्भोजी के सभी सबद कण्ठस्थ थे। उन सब शब्दों को वील्होजी ने एक ही दिन में मौखिक याद कर लिया था। गुरुमन्त्र लेने से उनका अज्ञान खत्म हुआ और उन्हें ज्ञान का प्रकाश मिला। उनकी पूरी उपाधि हटा दी गई। अब उनका नाम था वील्होजी। अब उन्हे सुगर और कुगर का भेद मालूम हो गया था। वे कह उठे—

सुगर ध्यायां सुख होय, कुगर ध्यायां दुख पायस।
सुगर भेद क्रम छेद, कुगर भेद पाप कुमायस॥

सुगर संग सुख रंग, कुगर संग साथ विगोवे।
सुगर उतारै पारि, कुगर बूडै अर बुडोवै॥

सुगर सेवै लाभै सुरगां, कुगर दुख दोरै तणौ।
वील्ह कहै जी पारिषु, सुगर कुगर अंतर घणौ।[6]

एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि सभी सबद नाथोजी को कंठस्थ थे। फिर उन्होंने अपने शिष्यों को लिखाये थे। देखिये—

"अनन्त सबद सतगुरु कहया, वरस चौरासी वाणा।
नाथै जी कै कंठ रहया, अता लिखाया वील्ह सुजाणा॥"[7]

परमानन्द जी बनियाळ के 1761 ई. के एक हस्तलिखित गुटके से यह पता चलता है कि सारा ज्ञान नाथोजी ने वील्होजी को दिया था और वील्होजी ने सबसे पहले 'कथा ग्यानचरी' कही थी।[8] इसके बाद उन्होंने कथा अवतारपात, कथा गुगळीयै की, कथा घड़ाबन्ध, कथा झोरड़ा की, कथा जैसलमेर की, कथा दूणापुर की, विसन छतीसी, बत्तीस आखड़ी आदि रचनाएं लिखी। उनके हरजस और साखियां तो राजस्थानी लोक-साहित्य में विभिन्न राग-रागनियों में गाये भी जाते हैं।[9] इस प्रकार उन्होंने राजस्थानी और हिन्दी भाषा में अनेक रचनाएं लिखी थी। लोक को विषय बनाकर उन्होंने अनेक कथा-काव्य की रचना भी की थी। 'कथा पूल्है जी की' में उनके द्वारा स्वर्ग का वर्णन देखिये-

दीठा सुरग सुरां का वासा, घर म्यन्दर दीठा सुख वासा।
अजर-अमर रतन आ काया, गुर परसादि देषि सुख पाया॥

हमें कवि वील्होजी की वाणी से जाम्भोजी के जन्म एवं निवास सम्बन्धी बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। कथा धड़ाबन्ध का यह छंद देखिये-

पन्त्रा सहस्त्र अठोतर, गुर आयो करि भाव।
कुपर पलटण परे करण, थापण निरत्य नियाव॥ ५०॥

कथा अवतारपात का यह छंद भी देखिये जिसे बिश्नोई समाज के लोग एक मंत्र के रूप में जपते हैं:-

धन्य जंगळि धन्य संभर, धन्य ए बाळ गुवाळ।
जांही संग रामत्य रम्यौ, लालण लील भुवाळ॥

हरी कंकहड़ी हरया वन, जित प्रभु कियो प्रवेस।
रूषां वळि रळि आवणी, जो रमतो बाळै भेस॥

परच्या पसु पंषेरवां, जां जीवां उतिम जात।
पवित्र किया जोत की, परची गुपत जमात॥

धन्य दीहाड़ो रीण धन्य, गुर परगट संसार।
वील्ह कहै जां औळख्यौ, ते उतरसी पार॥

'कथा जैसलमेर' की के एक छन्द से जाम्भोजी के समकालीन राजाओं का उनसे सम्बन्ध का भी पता चलता है। यह छंद इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण

है। इसमें इन ज्ञात राजाओं के अतिरिक्त भी अन्य राजाओं की ओर संकेत किया गया है, जो खोज का विषय है। देखिये—

दिल्ली सिकंदर साह, दे परचो परचायौ।
महमंद षान नागोरि, परच गुर पाए आयौ॥

दुद मेड़तीयो राव, आय गुर पाए विलगो।
रावळ जैसलमेर, परचतां सांसो भगो॥

सांतिळ संनमुषि आय, सुचील ता हुवौ सनानी।
सांग राण सुण्य सीष, जाय गुर कही स मानी॥

छव राज्यंदर के के अवर, आचारे औळषीयौ।
वील्ह कह मांगु पुन्ह, जांह मुगति नै हाथौं दीयौ॥२४॥

लोग बिना डरे और चमत्कार के कभी नहीं मानते हैं। कहा भी है— 'भय बिना प्रीति नाहीं।' इसलिए वील्होजी ने लोगों की आस्था धार्मिक नियमों में बनाये रखने के लिए जोधपुर के तत्कालीन नरेश की सहायता ली।[10] राजा ने उन्हें 'खूंटा-कोरड़ा' प्रदान किया था। इसका अभिप्राय है, राजा का पूरा हाथ और नियम न मानने वालों को दण्ड का भय। इस बात का एक उदाहरण- हमें आज बीकानेर जिले के गांव रासीसर में देखने को मिलता हैं। कहते हैं- जब वील्होजी इस गांव में दुष्टों को दण्ड देने आये तब उन्होंने एक खेजड़ी की सूखी लकड़ी का खूंटा गाड़ा था। वह खूंटा आज खेजड़ी का एक हरा वृक्ष के प्रतीक चिन्ह के रूप में बिश्नोई मंदिर में खड़ा है।

यह वात बहुत प्रसिद्ध हैं कि जाम्भोजी के अन्तर्ध्यान होने के बाद यह नवीन धर्म एक बार अध:पतन की ओर अग्रसर हो गया था। तब संतकवि वील्होजी ने अपनी वाणी एवं प्रभाव से इस धर्म को कायम रखा। उन्होंने धर्म-नियमों की पालनार्थ जगह-जगह अपने तम्ब लगाये। लोगों को धर्म-नियम बताये और [illegible] की अकाल में आर्थिक सहायता की। हरे वृक्ष न कांटने का लोगों को संदेश दिया। लोगों के अमल, तम्बाखू, भांग, मद, मांस आदि के नशे छुड़ाये। पानी छानने के लिए मुफ्त नातणा (कपड़े का छोटा टुकड़ा) दिया। उनकी बत्तीस आखड़ी का यह छन्द देखिये—

तीसां ऊपर दोय आषड़ी गुरु कही।
जो विश्नोई होय धरम पालै सही॥ ३३॥[11]

कवि वील्होजी ने 'मंझ अखरा दूहा अवतार का' में जाम्भोजी महाराज को देवजी कहकर सम्बोधित किया है—

आतम तूं आधार, सरबे तैंई सिरजीया।
दीय चुगौ दातार, दाता तुंही देवजी॥ १॥

उन्होंने जाम्भोजी और विष्णु भगवान् को एक ही माना है। उनकी 'विसन छत्तीसी' का यह छंद यहां द्रष्टव्य है:-

औउंकारे आदि गुर, निरंजण निराकार।
आकारे जुग जो गयो, आप रह्यौ निराकार॥

आप रह्यौ निराकार, साम्य सुनकार समायौ।
अलष न लषीयौ जाय, भेद कहीं विरलै पायौ॥

आदि विसन बोहरूप किया, जुगे जुग जवा।
वील्ह कहै जपो विसन, जो आपे तैं आपे हुवा॥ २॥[12]

गुरु महाराज जाम्भोजी ने जो सुगर वाणी कही है, हमें उसे ही सच मानकर अपने हृदय में धारण करना चाहिए। 'कथा ग्यानचरी' का यह छंद देखिये-

सांभल्य प्राणी सुगर वाणी, साच करी हिरदे सही।
गुरमुषि जाणी मति परवाणी, ग्यानचरी वील्ह जी कही॥ १३०॥

कवि वील्होजी के दोहे, सोरठे, कवित तो बड़े नीतिपरक और सटीक हैं। उन्होंने अपनी रचनाएं दोहा, चौपई, सोरठा, कुण्डलियां, कवित आदि छंदों में लिखी थी। उन्होंने उस समय में प्रचलित लोक-कथाओं, जन-श्रुतियों, प्रवादों और पौराणिक आख्यानों को कथा-काव्य के रूप में लिखा था, जो आज भी लोगों की जुबान पर हैं। बातों का तो उन्हें विशेष कवि माना गया है। एक कवि ने उनके विषय में कहा भी है-

"वातां वील्ह तेज कवि वाणी, सुरजन गीत धरम सुवांति।"

उनकी 'कथा गुगळियै की' से मालूम होता है कि वि.सं. 1542 में मरुभूमि में अकाल पड़ा था—

संमत कहावै पनरासयो, कुसमू सबळ बयाळोपयो।
जीवा जुण्य संताई भूख, गउवां मिनषां इधको दुष॥ २॥[13]

संतकवि वील्होजी ने अपने एक अन्य दोहे में अकाल का वर्णन् इस प्रकार किया है—

न को मांगै दूध घी, न को चौपड़ चाहि।
वील्ह कहै वीखै समै, चौपड़ अंन ही मांहि॥ २॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतकवि वील्होजी एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। उनके इन सभी कार्यों से राजस्थानी भाषा और साहित्य अधिक समृद्ध हुआ है। क्योंकि उनकी सारी वाणी मरुभाषा में है। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है- ***'कथा सच अखरी विगतावली।'*** सच्ची और खरी बातों की विगत। इस रचना में दैनिक बोलचाल की भापा को शुद्ध बोलने पर जोर दिया गया है। इसका महत्त्व केवल 'जाम्भाणी-साहित्य' में ही नही है, बल्कि इसका महत्त्व तो सारे राजस्थानी और हिन्दी साहित्य में है। भाषा, विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से भी यह रचना अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। कवि वील्होजी ने 16वीं सदी में भी भाषा को शुद्ध बोलने पर विचार किया था। ऐसा काम उनसे पहले और बाद में किसी अन्य कवि ने नहीं किया है। इससे पता चलता है कि वे कितने जागरूक थे। कुछ छंद देखिये—

दोपा चौपा पीया कहै, कूड़ साथि कुड़ीयारा वहै।
पाणी पीयो कहै विचारि, साचो आषर औ संसारि॥ ११॥

पंथ कित जायसी उं पुछाय, ओ पंथ जायसी उम गांव।
पंथ कित आवै नहीं जाय, कूड़ कह्य बोले बोलाय॥ १६॥[14]

विश्व में आज लोग बिगड़ते हुए पर्यावरण को देखकर चिंतित हैं और आज पेड़ों की रक्षार्थ चिपको आन्दोलन जोरों पर है, परन्तु इन पर सर्वप्रथम कार्य संतकवि वील्होजी ने ही किया था। विश्नोई धर्म में तो वन्य-जीव-संरक्षण और पर्यावरण- रक्षार्थ कई आवश्यक नियम हैं, यथा- थाट को अमर रखना अर्थात् भेड़-बकरियों को न मारना, हरे वृक्षों को न काटना और न काटने देना, बैल को बधिया न करना, पानी को छानकर पीना, प्रात:काल हवन करना आदि। हरे वृक्षों की रक्षार्थ तो बिश्नोइयों ने अपने प्राणों की आहुति दी है। कवि सुरजनजी ने अपने एक कविता में बताया है कि वील्होजी के समय में वृक्ष रक्षार्थ ऐसे आठ साक़े (बलिदान) हुए हैं[15] जिनमें में से तीन का वर्णन तो उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। वृक्ष रक्षार्थ सर्वप्रथम सन् 1610 में बिश्नोई स्त्रियां, करमा और गोरां ने अपने प्राणों की आहुति दी थी। साखी की ये मार्मिक पंक्तियाँ देखिये :-

करमणि षड़ी छै षेजड़ियां काजि, रैवाड़ी के चोहटै।
संवत सोळासै सैंसारि, समै छमछर इकसठै॥

इकसठै छमछर जेठ मासे, किसन पषे थावर दिने।
बीज कै दिन कियो पयाणों, सारियो सूधो मने॥

निरवाहि नांव नसीव मोटो, पाव दे बेड़ै चड़ी।
गुर परसादे वील्ह बोलै, करमणि अरगोरा षड़ी॥ ५ ॥[16]

अध्यात्म के दृष्टिकोण से संतकवि वील्होजी के हरजस विशेष महत्त्व रखते हैं। इन हरजसों में हरि के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का वर्णन् हुआ है। ये हरजस आज लोकजीवन की थाती हैं और विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं। कवि का सम्बन्ध मन की भावना और भक्ति से है। वे जाति-पाँति से दूर, राम और रहीम को एक मानने वाले थे। उनका यह हरजस विशेष उल्लेखनीय है :-

''राम रहीम विसन विस्मिल्ला, किसन करीम हमारै।
कुकरम जुलम गाय बकरी परि, रुस्य मीसल्य तुम्हारो॥ १ ॥

बाभण बांचै वेद पुराणां, काजी कुतब कुराणां।
पाथर पूजै मसीत पुकारै, हंरि तंत दहुं न जाण्यां॥ २ ॥

हिंदू हरि करि हारि न मानै, तुरक तांबसी लीणां।
मेरी कहै हमारी जाणै, दोऊ लड़ि विड़ि षीणां॥ ३ ॥

हिन्दू फिरि फिरि तीरथ धोकै, मुसलमान मदीना।
अल्लाह निरंजण मन दिल भीतरि, अंतर डेरा दीना॥ ४ ॥

हिन्दू कै मन पूरब मानै, पछिम मुसलमाना।
बीच-बीच वील्ह को सामी, सब दिल मांहि समाणां॥ ५ ॥[17]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वील्होजी एक संत तो थे ही परन्तु इसके साथ-साथ वे राजस्थानी-भाषा के एक बहुत बड़े कवि भी थे। उनकी वाणी में हमें आदि विष्णु, जाम्भोजी, राम, कृष्ण आदि का वर्णन मिलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने साधारण मनुष्य को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया था। जो काम उन्होंने राजस्थानी-भाषा और

सँस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए किया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनकी वाणी की जो उपयोगिता 16वीं श. में थी, आज उसकी उपयोगिता उससे भी अधिक है। सच्चे अर्थों में वील्होजी एक संतकवि थे।

महात्मा वील्होजी के सम्बन्ध में एक प्रवाद बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक बार मारवाड़ के शासक सूरसिंह (सन् 1535-1619) महात्मा वील्होजी से मिलने गये थे। उस समय एक चारण ने मौसम के विपरीत तीन परचे-बाजरे के सीट्टे, काकड़िया और मतीरिया माँगे थे। वील्होजी ने अपने सिद्धि-बल से वे तीनों चीजें उसी समय उन्हें उपलब्ध करवाई थीं। इससे राजा सूरसिंह बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उसी समय वील्होजी को ताम्रपत्र लिखकर दिये। इसी तरह बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं ने भी उन्हें धर्म-रक्षार्थ ताम्रपत्र प्रदान किये थे। इस प्रकार उन्होंने आजीवन लोगों की भलाई का कार्य किया था।

हम देखते हैं कि संत कवि वील्होजी एक बहुमुखी व्यक्तित्व और कृत्तित्व के धनी थे। उनकी महिमा बहुत ऊँची है। विश्नोई समाज में तो जाम्भोजी महाराज के बाद उनका ही स्थान सबसे ऊँचा है। महात्मा वील्होजी अपने अंतिम समय में जोधपुर से 50 कि.मी. दूर रामड़ावास गाँव में रहने लगे थे। यहीं पर ही उन्होंने वि.सं. 1673 (सन् 1616) की चैत्र सुदी एकादशी रविवार को अपना नश्वर शरीर छोड़ा था।[18] उस समय उन्हें अपने इष्टदेव जाम्भोजी के पवित्रधाम मुकाम से दूर रहने का बड़ा रंज था। अपने अंतिम समय में भी उन्होंने एक 22 दोहों की साखी की रचना की थी। उसी साखी (उमावड़ों) की दो पक्तियां द्रष्टव्य है—

बल्य जाउं जाम्भजी रै नांव नै, साधां मोमिणां रो प्राण अधार।
तूं जांहरै हिरदै वस्यौ, तेरा जन पुंहता पार॥ २॥[19]

हालांकि संतकवि वील्होजी का जन्म स्थल हरियाणा था, परन्तु उनका कर्म-स्थल मरुस्थल ही रहा। वे मरुधरा के जनकवि के रूप में प्रसिद्ध हुए और उनकी वाणी का प्रचार सारे देश में हुआ। आज उनकी वाणी विश्व के मानव मात्र के लिए उपयोगी है। उनके प्रसिद्ध शिष्य महात्मा सुरजनदास जी ने कहा है—

सुक्रत ग्यान सळेह, दीन पति पूरी दाषवै।
वीठल्दास वळेह, मिलै न सारी मुरधरा॥

संदर्भ सूची :-

1. भारत का सरल इतिहास - सुरजीत बुक डिपो, दिल्ली, 1968 ई, पृ. 103-104
2. श्री महर्षि स्वामी वील्हाजी का जीवन चरित्र- स्वामी ब्रह्मानन्द, प्रका. श्रीरामदास राजपूताना मारवाड़ निवासी, वि.स. 1970
3. श्रीजम्भसार - महात्मा साहबराम जी, वि.सं. 1978, प्रयाग, प्रकरण प्रथम, पृष्ठ प्रथम।
4. वील्होजी की वाणी - कृष्णलाल बिश्नोई (प्रकाशनाधीन) बीकानेर मूल और टीका (भूमिका)।
5. श्री जम्भदेव चरित्र भानु-स्वामी ब्रह्मानन्दजी, प्रका. चौधरी धर्मसिंह जी, इटावा, 1.9.1901 भूमिका पृष्ठ 2
6. वील्है जी का कवित- वील्होजी, ह.लि. प्रति क्रमांक 3259 रा.प्रा.वि. प्रतिष्ठान बीकानेर, लि.का. 1858
7. जाम्भोजी रा सबद श्री वामक - ह.लि. प्रति वि.सं. 1923 व्यक्तिगत संग्रह।
8. परमानन्द जी का पोथा- ह.लि. ग्रंथ वि.सं. 1818-19 स्वामी विवेकानन्द संग्रहालय मंडी आदमपुर (हरियाणा)।
9. वील्होजी की वाणी (मूल और टीका) कृष्णलाल बिश्नोई (प्रकाशनाधीन) सभी वाणियाँ सम्पादित एवं टीका सहित हैं।
10. श्री १०८ श्री जम्भेश्वर धर्म दिवाकर - रामदास, जोधपुर वि.सं. 1984, पृष्ठ 5-6
11. शब्दवाणी जम्भसागर-रामदास, प्रका-स्वामी ब्रह्मदास लाहोर, वि.सं. 1993
12. कक्का सैंतीसी-वील्होजी कृत, प्रका. रामदास, जोधपुर, वि.सं. 1979, पृष्ठ - प्रथम।
13. विविध बिश्नोई कथा-काव्य, लि.क. मिश्र श्रीराम ह.लि. प्रति, वि.सं. 1944, व्यक्तिगत संग्रह, पत्र 16-23
14. विश्वम्भरा वर्ष 24, अंक 3, 'कवि वील्ह विरचित सच अखरी विगतावली-कृष्णलाल बिश्नोई' हि.वि.भा.अनु.परि. बीकानेर।
15. सुरजनजी पूनिया के कवित्त-सम्पा-कृष्णलाल बिश्नोई, व्यक्तिगत संग्रह (अप्रकाशित)।
16. साखियाँ - वील्ह बिश्नोई, 20वीं श. साखी नं. 84, रा.प्रा.वि. प्रतिष्ठान, बीकानेर, क्रमा. 5823

17. (क) श्री १०८ स्वामी वील्होजी कृत भजन दीपावली प्रका. संत प्रेमदास जी/रामदास जी वि.सं. 1997, बीकानेर।
(ख) परमानन्द जी का पोथा (ह.लि.प्रति.) वि.सं. 1818-19, स्वामी विवेकानन्द संग्रहालय, मंडी आदमपुर (हरियाणा)।
18. जागती जोत, वर्ष 21, अंक 2, मई-जुलाई, 1992, 'संत कवि वील्होजी अर् वां री वाणी (कवि परिचयम) कृष्णलाल बिश्नोई' रा.भा.सा.सं.अ., बीकानेर।
19. वील्होजी की वाणी - कृष्णलाल बिश्नोई (प्रकाशनाधीन) बीकानेर (मूल एवं टीका)।

राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
गंगा बाल विद्यालय के पास
बीकानेर (राज.) 334001

❑❑

सन्त रामचरण एवं सन्त भीखणजी की धार्मिक चेतना

— डॉ. लोकेश्वर प्रसाद शर्मा

अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध विविध घटनाओं से परिपूर्ण एक अतिविशिष्ट काल है। राजस्थान की राजनीति के आकाश में मराठे एक धूमकेतु के समान उदित हो चुके थे। राजपूताना की सभी रियासतों की राजनीति तथा विशेषरूप से जयपुर, जोधपुर एवं मेवाड़ की राजनैतिक व्यवस्था को इनके आक्रमणों ने आक्रान्त कर रखा था। इसकी पराकाष्ठा 1750 ई. में हुई, जब जयपुर के तत्कालीन शासक ईश्वरीसिंह को मल्हार रावहोल्कर के आतंकस्वरूप विषपान करके आत्महत्या करनी पड़ी।[1] इधर 1756 ई. में जोधपुर के शासक विजयसिंह को एक अपमानजक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े[2]।

इस समय धर्म की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी। व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि के नाम पर धर्मभीरू जनता को ठगा जा रहा था।

सम्भवतः इसी क्रम में धार्मिक क्षेत्र में ईश्वर के साकार अथवा निराकार स्वरूप, मूर्तिपूजा, मन्दिर, प्रतिष्ठा, तीर्थ-यात्रा, नदियों-सरोवरों की तथाकथित पवित्रता से लेकर अनेकानेक धार्मिक, आडम्बरों आदि पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।[3] सामाजिक क्षेत्र में भी कई समस्याओं यथा-जातिगत ऊँच-नीच, सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता, नारी जाति की हीनदशा, निरर्थक लोकाचार, आदि की मीमांसा व सम-सामयिक उपयोगिता पर पुनर्चिन्तन आवश्यक हो गया। इस आत्मचिन्तन एवं विद्रोही भाव ने जहाँ नवीन उत्साह का निर्माण किया, वहीं समाज में खिन्नता, हीन-भावना एवं निराशा का वातावरण भी बनाया। मध्यकाल तथा विशेषकर 18वीं शताब्दी के भक्ति-आन्दोलन को इस सम्पूर्ण परिस्थिति ने एक महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया। इस आन्दोलन का मुख्य स्वर समष्टिवादी, मिश्रित एवं समन्वयपरक था।[4]

यह एक अद्भुत् सत्य था कि पूर्ववर्ती वैष्णव सन्तों के समान इस काल के राजस्थानी सन्तों ने ''परमतत्त्व'' को प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों पर सिद्ध करने या उसकी

व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उनका "ब्रह्म" स्वानुभव मनन, चिन्तन, तपस्या एवं साधना से प्रकट हुआ था, वह प्राप्त किया गया था।

वैष्णव सन्तों की सगुण भक्ति परम्परा का प्रतिनिधित्व राजस्थान में कई सन्तों ने किया, जिसमें भक्तिमयी मीराँ सबसे प्रमुख मानी जाती हैं। मीराँबाई ने सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्धि पायी व सगुण भक्ति की रसधार से पूरे भारतीय समाज को आप्लावित कर दिया। परन्तु पूर्व उल्लिखित कारणों से राजस्थान में निर्गुण भक्तों की एक अटूट शृंखला का निर्मित हुई, जो समाज के मूलाधार तक गहरी पैठ गई थी। निर्गुण भक्ति के अनेक सम्प्रदाय यहाँ पनपे जिन्होंने शान्तरस, वैराग्य, निर्वेद आदि की भावभूमि अपनाकर पूजा, सेवा या भक्ति की बजाय ज्ञान व आचरण को अधिक महत्व दिया तथा समता, निस्पृहता और सदाचार के मूल्यों की एक सुदृढ़ भित्ति तैयार की। निर्गुण भक्ति अथवा ज्ञानमार्ग की यह बेल कहीं बाहर से लाकर यहाँ नहीं लगाई गई, अपितु यहाँ की मिट्टी से ही उपजी थी।[5]

जिस प्रकार उत्तर भारत में नानक एवं कबीर आदि सन्तों ने धर्म में पनपे कठमुल्लापन का विरोध कर निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, उसी प्रकार राजस्थान में अनेक सन्तों ने इसी भावभूमि पर एक निराकार ईश्वर द्वारा बनायी इस सृष्टि को समता की दृष्टि से देखने का, लोकोपकार एवं अनासक्ति को ही धर्म के प्रमुख कर्त्तव्य के रूप में देखने का ज्ञानमार्गी उपदेश दिया। इन सन्तों के द्वारा प्रेरित पंथ या सम्प्रदाय आज राजस्थान की धार्मिक एवं साँस्कृतिक परम्पराओं की अनूठी पहचान बन गये हैं। इनका जो मूल स्वर है वह एक निराकार, समदर्शी एवं सर्वव्यापी ईश्वर की भक्ति का है जो वाणियाँ अथवा भजन गाये जाते हैं, वे निर्गुण ब्रह्म के गुणानुवाद के रूप में ज्ञान-मार्ग का उपदेश हैं।

इस आलेख के केन्द्र बिन्दु सन्त रामचरण इसी निर्गुण भक्ति परम्परा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं, जिन्होंने रामानन्द की परम्परा को निरन्तरता प्रदान की एवं 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थान में रूढ़िवादिता एवं धर्म के नाम पर ढकोसला तथा आडम्बर को एक सक्षम चुनौती प्रदान की। रामसनेही सम्प्रदाय के सन्त रामचरण ने जहाँ कबीर, दादू एवं अपने गुरु कृपारामजी आदि से मूल प्रेरणा प्राप्त की, वहीं राजस्थान के लगभग सभी क्षेत्रों में फैले जैन धर्म से भी लगता है, आप प्रभावित हुए थे। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, उनके समकालीन प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैन धर्म के स्थानकवासी पंथ में दीक्षित स्वामी भिक्षु अथवा सन्त भीखण जी का संदर्भ लेखक ने देने का प्रयत्न किया है। इन भीखणजी से फिर 1760 ई. में तेरापंथ जैन सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।

रामसनेही सम्प्रदाय : एक परिचय

मध्यकालीन राजस्थान के साँस्कृतिक-सामाजिक जीवन में जो सुधारवादी आन्दोलन निर्गुण सन्तों ने प्रारम्भ किया उसमें रामसनेही सम्प्रदाय का प्रमुख हाथ है। 18वीं शताब्दी में राजस्थान में इस सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र चार स्थानों रेण, शाहपुरा, सिंथल व खेड़ापा में क्रमशः दरियावजी, रामचरणजी, हरिरामदासजी तथा रामदासजी द्वारा स्थापित किए गए।[6] रामसनेही सन्तों ने राजस्थान और उसके बाहर रामभक्ति (निर्गुण) का व्यापक प्रचार किया। डॉ. आर.पी. व्यास के मतानुसार खेड़ापापीठ का रामसनेही सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व माना जाता है।[7] डॉ. जयसिंह नीरज आदि लेखकों के मत से रामसनेही सम्प्रदाय की चार नहीं अपितु तीन ही प्रमुख शाखाएं अथवा केन्द्र हैं. उनके विचार से प्रथम शाखा सिंथल, खेड़ापा, द्वितीय रेण, एवं तृतीय शाखा शाहपुरा है।[8] इस सम्प्रदाय में रामसनेही का शब्दार्थ राम का उपासक है पर वह राम दशरथ पुत्र राम न होकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म का परिचायक है।[9]

सन्त रामचरणजी : संक्षिप्त जीवनवृत्त

शाहपुरा रामसनेही सम्प्रदाय शाखा के आदि प्रवर्तक सन्त रामचरण का जन्म जयपुर राज्य के सोढ़ा ग्राम में (जहाँ उनकी ननिहाल थी माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार 1719 ई. को हुआ।[10] उनके पिता का नाम बखतराम एवं माता का नाम देऊजी था। बखतराम जी मालपुरा के पास के बनवाड़ी गांव के निवासी थे। इनका वंश विजयवर्गीय वैश्य कुल का था। जन्म के पश्चात् बालक का नामकरण रामकिशन अथवा रामकृष्ण किया गया।[11]

वय प्राप्त करते ही रामकिशन ने अपनी तीव्र बुद्धि का परिचय दिया तथा अपने पिता का कार्य सम्भाल लिया। इनकी विलक्षण बुद्धि एवं योग्यता की खबर जयपुर नरेश तक पहुँची। परिणामस्वरूप इन्हें जयपुर बुला लिया गया और कालान्तर में ये मन्त्री बना दिये गये। परन्तु महान् आत्माओं का जन्म इन सामान्य सांसारिक कार्यों के लिये नहीं होता, अतः एक जीवन की दिशा मोड़ने वाला स्वप्न इन्हें आया और ये मन्त्री पद छोड़कर मुक्त हो गये। जैन धर्म के श्वेताम्बर पंथ में प्रसिद्ध स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक लौंकाशाह (1415 ई.) के जीवन में यही घटित हुआ था।[12]

स्वप्न वाली घटना के समय रामकिशन की आयु 24 वर्ष की थी तथा वे अपने पिता की मृत्यु के समय जयपुर से बनवाड़ी आए हुए थे। स्वप्न में उन्हें दिखाई दिया कि वे नदी में बहे चले जा रहे हैं कोई सहायक नहींहैं। परन्तु इस संकट से उन्हें

एक साधु बचाते हैं तथा नदी से बाहर निकाल लेते हैं। स्वप्न में देखे इन्हीं महात्मा को रामकिशन सच्चा सद्‌गुरु समझते हैं व वैराग्य लेकर इनकी खोज में निकल पड़ते हैं।[13] लम्बे समय तक गुरु की खोज में स्थान-स्थान पर भटकने के बाद भाग्य से मेवाड़ के एक ग्राम दांतड़ा में इनकी साध पूरी हुई तथा सच्चे गुरु के रूप में स्वामी कृपारामजी महाराज के दर्शन रामकिशन को हुए। इनकी ओर आकर्षित होने का कारण यह था कि इन सन्त की सूरत स्वप्न वाले महात्मा से मिलती थी। रामकिशन ने इनके चरण पकड़ लिये व दीक्षा की प्रार्थना की। भाद्रपद शुक्ल 7, गुरुवार (1751 ई.) के दिन गुरु ने तारकमन्त्र से दीक्षा दी व इनका नाम रामचरण रख दिया।[14]

गुरु की आज्ञा लेकर ज्ञानार्जन हेतु गूदड़ वेश में राचरणजी ने सात वर्ष तक कठोर तपस्या की। परन्तु एक बार 1758 ई. के गलता जी के मेले में सहस्त्रों साधुओं के विवेकहीन व्यवहार, नशा करना, जीव-जन्तु की रक्षा के प्रति दुर्लक्ष्य आदि बातें देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ तथा कुछ नया करने की इच्छा अन्दर से जागृत हुई। ऐसा भी मत है कि, वे विरक्त वेश में राजस्थान को छोड़कर वृन्दावन की ओर चल दिये। परन्तु एक अज्ञात साधु ने इन्हें लौटने हेतु प्रेरित किया व लोककल्याण के कार्य द्वारा वास्तविक धर्म को प्राप्त करने का उपदेश दिया। अत: यह भीलवाड़ा पहुँचकर कठोर साधना में लग गये। दस वर्ष तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना की। सन्त रामचरण का मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं था, अत: भीलवाड़ा की जनता ने विरोध भी किया। इसीलिये रामचरण जी ने भीलवाड़ा छोड़ दिया। वे कुहाड़ा होते हुए अन्त में शाहपुरा पहुंचे। यहीं पर अपने जीवन का शेष समय बिताते हुए तथा राम-नाम का उपदेश देते हुए सन्त रामचरण वैशाख कृष्णा 5, गुरुवार 1798 ई. को स्वर्गवासी हुए।

सन्त रामचरणजी एवं सन्त भीखणजी :

मुनि बुद्धमल ने तेरापंथ के इतिहास में सर्वप्रथम रामचरणजी को सन्त भीखणजी का समकालीन एवं बालसखा के रूप में चित्रित किया है।[15] यह संदर्भ रामसनेही सम्प्रदाय के साहित्य में भी प्राप्त होता है। नवीनतम साक्ष्य स्वामी रामनिवास, रामद्वारा, बाड़मेर के द्वारा प्राप्त हुआ है। इस संदर्भ में कहा गया है कि- तेरापंथ के नवम् आचार्य श्री तुलसी से उनकी भेंट हुई तो उन्होंने बताया कि दोनों ही महान् पुरुष बचपन से ही मित्र थे। बाल्यावस्था से ही दोनों मित्र वैराग्य की बातें करते थे। यह सम्पर्क इन दोनों बालकों का सोढा ग्राम में ही हुआ, जहाँ ननिहाल होने के कारण रामकिशन आते थे और अपनी बुआ का ससुराल होने के कारण भीखण का यहाँ आना होता रहता

था। रामकिशन भीखण से साढ़े छः वर्ष बड़े थे, परन्तु एक से ही विचारों के कारण दोनों में मित्रता हुई एवं कालान्तर में प्रगाढ़ता बढ़ती गई। यहां तक कहा जाता है कि दोनों ने साथ-साथ तथा एक ही गुरू से दीक्षा लेने का निर्णय भी लिया था।[16]

मुनि मिश्रीलाल के अनुसार भीखणजी ने वचन को तोड़ते हुए अकेले ही पहले सन्यास ले लिया। इस घटना को सुनकर रामकिशन उलाहना देने के लिये सोजत जहाँ कि भीखण अपने गुरू के साथ ठहरे हुए थे, भी आये व अपनी नाराजगी व्यक्त की। परन्तु केवलरामजी स्वामी के अनुसार यह तथ्य सही नहीं है। क्योंकि रामसनेही सम्प्रदाय के रिकार्ड के अनुसार रामकिशनजी पहले दीक्षित हुए व भीखणजी बाद में। राम-किशन भाद्र सुदी 7, संवत् 1808 को तारकमन्त्र प्राप्त करते हैं, जबकि भीखण मार्गशीर्ष कृष्ण 12, संवत् 1808 को मुनि दीक्षा लेते हैं।[17]

सम्भवतः सन्त रामचरणजी के चिन्तन एवं व्यवहार पर जैन आचार-विचार का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कई तत्व इस दृष्टि से हमारे सामने उदाहरण स्वरूप आते हैं- यथा, जैन मुनियों के समान रामसनेही साधु भी रात्रि भोजन नहीं करते। पीने के पानी के बारे में भी ये साधु जैन मुनियों के समान सावधानी रखते हैं व बिना छना पानी नहीं पीते। चलते समय मुनियों के समान ही अतिरिक्त सावधानी रखकर चलते हैं, जिससे कोई जीव न मर जाय। भिक्षा द्वारा ही आहार प्राप्त करते हैं, आदि-आदि।[18]

साहित्य के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि जैन सम्पर्क का प्रभाव रामचरणजी पर था। प्रसिद्ध ग्रंथ 'स्वामी रामचरण जी की अणभैवाणी' में यह संदर्भ द्रष्टव्य है:-

''सोही तेरापंथ का, मेरा कहै न कोय।
मैं मेरी से लगि रह्यो, तो जगत पंत है सोय॥[18]

काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे तेरापंथ न पाय॥[19]

अपने साहित्य में रामचरणजी ने तेरापंथ शब्द को काम में लिया है। वहाँ उन्होंने अपनी ओर से तेरापंथ शब्द की जो व्याख्या की है, वह यह बतलाती है कि, वे इस शब्द की मूल व्युत्पत्ति से परिचित थे।[19] 'उपदेशरत्नकथाकोश' में संत रामचरण जी ने संत भीखण को स्नेह एवं आदरयुक्त भाव से याद किया है।[20]

संत भीखण के हृदय में तात्कालिक साधुओं के जिन शिथिलाचारों व मिथ्याचारों

ने विक्षोभ एवं निराशा का निर्माण किया उसी का परिणाम था कि वे कह उठे–

वैराग्य चढ्यो ने भेष बधियो, हाथ्यां रो भार गधा लदियो।
थक गया, बोझ दियो राल्यो, एहवा भेषधारी पंचम कालो॥

संभवतः इसी प्रकार के विचार संत रामचरण के मन में भी मिथ्याचार के विरुद्ध गलताजी के मेले में साधुओं के शिथिलाचार को देखकर उठे होंगे।

रामसनेही संतों की जीवनचर्या भी तेरापंथी जैन मुनियों की जीवनचर्या के पर्याप्त निकट है तथा कई बातें मेल खाती हैं। यथा–

1. मूर्तिपूजा में दोनों का ही विश्वास नहीं है।
2. मंदिरों में निवास नहीं करते।
3. भिक्षा माँगकर उदरपूर्ति तथा भोजन को संगृहीत नहीं करना।
4. रात्रि के समय भोजन ग्रहण नहीं करना।
5. दोनों ही साधु अपरिग्रह का अभ्यास करते हैं। वह कम से कम सामान अपने पास रखते हैं।
6. दोनों ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं व धन को हाथ नहीं लगाते।
7. धातु पात्र का प्रयोग दोनों पंथों के साधू नहीं करते।
8. दोनों ही पंथों में स्वतन्त्र शिष्य बनाने पर रोक थी। सब शिष्य गुरु के ही माने जाते थे।[21]

दोनों सम्प्रदायों का आधार भिन्न होते हुए भी उपर्युक्त साम्य यह सोचने को बाध्य करते हैं कि इन पंथों में अन्तर्प्रभाव अवश्य रहे हैं और उसका कारण दोनों मतों के प्रतिपादकों की निकटता ही हो सकती है।

शिक्षाएं :

संत रामचरण एवं संत भीखणजी ने, जो संयोग से एक समय ही हुए, एक सी विरागी मनःस्थिति वाले थे, समाज के एक ही वर्ग अर्थात् वैश्य वर्ग से थे, अपनी शिक्षाओं में कई समान बातें उन्होंने उपदेशों में कही हैं। रामचरणजी ने गुरु को अत्यधिक महत्व दिया व उन्हें ब्रह्मस्वरूप माना है। उनके अनुसार संसार रूपी सागर से गुरु ही पार उतार सकता है।[22] संत भीखणजी भी इसी मत के थे। उनके मतानुसार सद्गुरु

ही विनय करने पर मुक्ति की नींव अर्थात् आधार बताने की कृपा करता है। यथा–

विनय मूल धर्म जिन कह्यो, ते जाणे बिरला जीव।
ते सतगुरु रो विनय करे, त्यां दीधी मुक्ति री नींव।।[23]

सत्संग :

सभी सगुण–निर्गुण संतों के समान संत रामचरणजी ने भी सत्संग के महत्व को समझा व अपने उपदेशों में इसको पर्याप्त स्थान दिया। अच्छे सत्संग का सुन्दर उदाहरण खटीक की छुरी एवं पारस के पत्थर के स्पर्श द्वारा सोना बनने का दिया है।[24] जैनधर्म के मुनिजन अपने जैन सम्प्रदाय में ही विहार करते हैं, अतः स्वतन्त्र रूप से सत्संग के अवसर कम ही प्राप्त होते है, फिर भी भीखणजी ने सद्पुरुष, सद्गुरु के संग रहने व कुगुरु के संग न रहने पर बहुत विस्तार से लिखा है। यथा–

कुगुरु भड़भूजा सारखा, त्यांरी संगत हो खोटी भाड़ समान
भारी कर्मा जीव तिणखां सारखा, त्यांने झोंके हो खोटी सरधा में आंण।।[25]

आहार–संयम :

संत रामचरणजी के समकालीन सम्प्रदायों में आहार शुद्धि एवं आहार अपरिग्रह पर इतना अधिक जोर नहीं था जितना रामसनेही सम्प्रदाय में था। जैन समाज जैसा ही अनुशासन इनके पंथ में अपने आप आ गया था, क्योंकि रात्रि–भोजन वर्जित था, अतः दिन में एक समय ही भिक्षा व गोचरी ये दोनों ही पंथ के लोग करते थे तथा आज भी इसका पालन होता है।

भीखणजी आहार के लोभ से बचने के लिये कहते हैं :–

अति आहार थी दुःख हुवे, गळै रूप बरु आय।
प्रमाद निद्रा आलस हुवे, बळे अनेक रोग हुई जाय।।

जेहनी रसना बस नहीं, ते खावे सरस आहार।
व्रत भांग भागल हुवे, खोवे ब्रह्मव्रत सार।।[26]

नामस्मरण :

क्योंकि दोनों ही महान् सन्तों ने निराकार साधना का मार्ग चुना था, अतः उन्होंने आराध्य का नामस्मरण ही मुक्ति का आधार बताया है। जैसा कि पहले ही लिखा जा

चुका है कि संत रामचरण के आराध्य दशरथ पुत्र राम नहीं थे, अतः नामस्मरण पर अत्यधिक जोर दिया, यथा–

सुख का सागर राम है, दुःख का भंजनहार।
रामचरण तजिये नहीं, भजिये बारम्बार।।[27]

उधर भीखणजी ने इष्ट की आराधना पर सच्चे मन से ध्यांन लगाने पर जोर दिया व कहा–

इह लोके जस अति घणो, परलोके सुख पाय।
भाव सहित आराधिये, जनम मरण मिट जाय।।[28]

निष्कर्ष :

उपर्युक्त प्रमाणों, संदर्भों एवं समता के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामसनेही सम्प्रदाय एवं तेरापंथ जैन सम्प्रदाय दोनों ही का समय की माँग के अनुरूप राजस्थान में उद्‌भव हुआ। जब लगभग एक समान परिस्थितियों एवं एक सी प्रेरणा यथा-साधुओं एवं शेष समाज में से शिथिलाचार को समाप्त करना, में से पंथों का उदय हुआ तो स्वाभाविक है कि उनमें बहुत सी समानतायें होंगी। यह ऊपर दिये गये पदों व उदाहरणों में द्रष्टव्य है।

जहाँ तक वेदविहित मार्ग से प्रभावित वैष्णवमार्गी रामसनेही सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह बहुत कुछ रूढ़िवादी सगुण वैष्णव व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र हो चुका था। दूसरी और रामसनेही सम्प्रदाय की परंपरा भी रामचरणजी से पहले अधिक पुरातनता लिये हुए नहीं थी क्योंकि दरियावजी का समय सन् 1676–1758 ई. है, जबकि रामचरणजी का समय सन् 1719–1798 ई. है। ऐसी स्थिति में रामचरणजी ने ही बहुत सी मान्यताएं गढ़ी होंगी व निर्मित की होंगी। इसलिये उनके बालसखा का प्रभाव, भीखणजी से निरन्तर सम्पर्क के कारण जैनदर्शन की ओर उनका ध्यान आकर्षण और उसी क्रम में कुछ अच्छी बातों का अपने पंथ के साधु सन्तों के आचार-व्यवहार में सम्मिश्रण वे कर सके होंगे, यह संभावना दृष्टिगोचर होती है।

रामसनेही सम्प्रदाय का भीखणजी के पंथ पर भी प्रभाव पड़ा होगा यह संभावना है। एक गुरु का अनुशासन, मिथ्याचार का विरोध व जैन कालगणना के अनुसार "पंचम आरा"[29] का कठिन काल कहकर चलने वाले शिथिलाचार का विरोध आदि सुधारवादी चेतना भीखणजी ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रामचरणजी से पाई हो, इसकी पर्याप्त संभावना है।

संदर्भ सूची :-

1. गहलोत, सुखवीर सिंह, राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, 1969 पृ. 111, व्यास आर.पी. राजस्थान का बृहत् इतिहास, पृ. 143
2. वही, पृ. 112, वही, पृ. 154
3. शुक्ल, दिनेशचन्द्र, सिंह, ओंकारनारायण रार्जस्थान की भक्ति परम्परा एवं सँस्कृति, 1991, पृ. 117
4. वही, पृ. 118
5. नीरज, जयसिंह, शर्मा, भगवतीलाल- राजस्थान की साँस्कृतिक परम्पराएं, पृष्ठ 29
6. डॉ. पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, 1977, पृ. 217
7. व्यास, आर.पी.- राज. का वृहत् इतिहास, पृ. 434, जे.के. ओझा, पृ. 302
8. राज. की साँस्कृतिक परम्परायें - पृ. 32
9. वही, पृ. 33
10. स्वामी लालदास-रामचरणजी की परची पद्य-30, डॉ. पेमाराम, पृ. 224
11. स्वामी केवलराम- श्री रामसनेही सम्प्रदाय, पृ. 4
12. कोठारी, एस.आर. जैन भारती, जून 1989, पृ. 354 वे सिरोही क्षेत्र के अरहटवाड़ा के निवासी थे तथा अपनी योग्यता से अहमदाबाद के शासक मुहम्मदशाह के मंत्री बन गए। कालान्तर में बादशाह के पुत्र कुतुबशाह ने सिंहासन हेतु अपने पिता की हत्या कर दी, यह देखकर लौंकाशाह विरक्त हो गए।
13. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, 1891 ई., पृष्ठ 282
14. रामचरणजी की परची (ह.लि. ग्रन्थ) पद्य 31-32, शाहपुरा, श्री रामसनेही सम्प्रदाय, पृष्ठ 7-10
15. मुनि बुद्धमल, तेरापंथ का इतिहास, 1990 पृष्ठ 44
16. --------- वही ---------- 1990 पृष्ठ 43
17. केवलराम स्वामी : श्री रामसनेही सम्प्रदाय, पृ. 1-36
18. जैन भारती साप्ताहिक, वर्ष 9, अंक 19, पृ. 311-312 श्रमण सागरमल
19. तेरापंथ का इतिहास, पृ. 44
20. रामपुरिया श्रीचंद-आचार्य भिक्षु जीवन कथा और व्यक्तित्व, पृ. 22
21. श्रीरामसनेही सम्प्रदाय एवं तेरापंथ के इतिहास के आधार पर।
22. रामचरणजी की अणभै वाणी, छन्द 17
23. रामपुरिया श्रीचंद - आचार्य संत भीखणजी, 1948, पृ. 215
24. रामचरणजी की अणभै वाणी, पृ. 6

25. रामपुरिया श्रीचंद-आचार्य संत भीखणजी, पृ. 207
26. ------------ वही ---------- पृ. 198
27. रामचरणजी की अणभै वाणी, पृ. 8
28. आचार्य संत भीखणजी, पृ. 209
29. जैन काल गणना में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के रूप में दो काल बताए हुए हैं जहां अवसर्पिणी में समाज पतन की ओर गिरता जाता है वहाँ उत्सर्पिणी में उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। इस सम्पूर्ण क्रम को 6 आरों में बाँटा जाता है। आजकल पंचम आरा "दुषम दुखमा" अभी चल रहा है जो पतन .का काल हैं तथा कठिन समय है।

30-ए, गोल्फ लिंक रोड
अरविन्द नगर, वायुसेना
जोधपुर- 324 001

❑❑

राजस्थान के गैर सूफी मुसलमान संतकवि

— डॉ. मनमोहन स्वरूप माथुर

राजस्थान भारत का सर्वाधिक ऐतिहासिक एवं साँस्कृतिक प्रदेश रहा है। इसके गौरव का श्रेय यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के साथ ही यहाँ के राजा-महाराजाओं को भी जाता है। अपने राजसिक ठाठ के साथ इन्हें अपने धार्मिक अनुष्ठानों, मान्यताओं के संपादन का भी पूरा अहसास था। धार्मिक प्रवृत्तियों को ये सार्वभौमिक और सार्वजनिक मानते थे। इसीलिये अपनी राज्य सीमा में आये भक्तों एवं संतों का उन्होंने भरपूर सम्मान किया। उनके जीवनयापन के लिये जागीरें एवं नकद राशि दी तो उनके आवास-निवास हेतु मठ, मन्दिर, अस्थलों आदि का निर्माण भी करवाया। उनके धार्मिक आदर्शों को संरक्षित किया। बीकानेर राज्य में कसाईयों को वि.सं. 1907 में यह निर्देश दिया गया कि वे बकरे लेकर किसी भी विश्नोई गाँव से न निकले।[1] इसी प्रकार जोधपुर राज्य द्वारा विश्नोइयों को जमीन एवं लगान माफी सम्बन्धी रियायतों के भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।[2]

उदयपुर के महाराणा भीमसिंहजी और जवानसिंह जी ने भी विश्नोइयों की पूर्व परम्परानुसार ही मान-मर्यादा रखने और कर लगाने के परवानें दिये थे।[3] जयपुर के शासक सवाई प्रतापसिंह ने भी चरणदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक संत चरणदासजी को वि.सं. 1839 में कोलीवाड़ा गांव भेंट किया।[4] इसी वर्ष उन्होंने संत लालदासजी को भी एक गांव और 21 स्वर्ण मुद्राओं से सम्मानित किया।[5]

राजस्थान के संत संप्रदायों में दादू संप्रदाय सबसे बड़ा सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय को राजस्थान की प्रायः सभी रियासतों से संरक्षण मिला। उदयपुर के महाराणा भीमसिंहजी ने गांव सोभागपुरा में दस बीघा और ग्राम मदार में दस बीघा का अनुदान दादू पंथी साधुओं को दिया। जनानी ड्योढी की ओर से भी अनुदान दिया गया।[6] बीकानेर राज्य की ओर से वि.सं. 1887 में महाराणा रतनसिंह ने दादू पंथी रामदास को सहाणी गांव भेंट में दिया।[7] जोधपुर राज्य की ओर से भी इन्हें समय-समय पर भूमिदान एवं आर्थिक सहायता दी गई। जयपुर राज्य तो इस सम्प्रदाय को आज तक सहायता कर रहा है।

राज्य-व्यवस्था के संरक्षण के अतिरिक्त मध्यकालीन राजस्थान में प्रचलित लोक-देवताओं सम्बन्धी मान्यताओं ने भी यहां के सन्त-संप्रदायों और सन्तों के पोषण में सहयोग किया। राज्यसत्ता एवं जन-समुदाय की समन्वयवादी प्रवृत्ति ने ही मध्यकालीन राजस्थान में विभिन्न सन्तों और संत संप्रदायों को पल्लवित किया। गोगाजी, तेजाजी, पाबूजी, देवजी (बगड़ावत), मल्लीनाथजी, रामदेवजी, हरभूजी आदि लोकदेवता अथवा पीर कहे जाने वाले लोकनायकों के आदर्शों ने ही यहाँ के जन-समुदाय में असीम जनकल्याणकारी ईश्वरत्व के गुणों को प्रकाशित किया। गऊमाता, नाग देवतादि के मिथकों ने उनकी आस्था को सन्तों के कल्याणकारी आदर्शों के साथ संयुक्त कर दिया। इन जननायकों की कर्तव्यपरायणता एवं सत्य वचनों के आदर्शों से परिपूर्ण हो मध्यकालीन हिन्दू-मुसलमानों के विद्वेष को संतों की वाणियों द्वारा शान्त किया गया।[8]

इस प्रकार राज्य-व्यवस्था से संरक्षित और सामाजिक व्यवस्था की सहज स्वीकृति से मध्यकालीन राजस्थान में अनेक संत और उनके द्वारा प्रवर्तित संम्प्रदायों को प्रश्रय मिला। इनमें से प्रमुख सम्प्रदाय हैं :-

1. विश्नोई सम्प्रदाय
2. दादू सम्प्रदाय
3. लालदासी सम्प्रदाय
4. चरणदासी सम्प्रदाय
5. रामसनेही सम्प्रदाय
6. सूफी सम्प्रदाय आदि।

इनमें प्रथम पाँच सम्प्रदाय हिन्दू-निर्गुण भक्ति पद्धति (वैष्णव भक्ति) पर आधारित हैं, जबकि अन्तिम सम्प्रदाय बाह्य है और मुस्लिम इबादत पर आधृत है।. कहा जाता है कि यह सम्प्रदाय भारत में इस्लाम के प्रचार-प्रसार हेतु फारस से लाया गया। इबादत की दृष्टि से इसकी चार शाखाएं हैं- चिश्तिया, कादिरिया, सुहरावर्दिया और नक्शबंदिया। इन चारों ही शाखाओं का अस्तित्व राजस्थान में रहा है, जिनके प्रमुख केन्द्र अजमेर, नागौर, अलवर, पाली, मेड़ता, खाटू, डीडवाना आदि नगर थे।

राजस्थान में यहाँ के राजाओं द्वारा सभी को धार्मिक स्वतंत्रता, सभी धर्मों को सम्मान और संरक्षण की नीति से यहाँ सूफी सम्प्रदाय काफी फला-फूला। उसका प्रभाव भी रहा। किन्तु इस निरपेक्ष भावना ने मुसलमानों को सूफियों के अतिरिक्त उक्त वर्णित सम्प्रदायों की विचारधाराओं ने भी अपनी ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप अनेक

मुसलमान कवियों ने सम्प्रदायों से सम्बन्धित भक्ति साहित्य का सृजन किया। इनमें से कुछ एक का परिचय प्रस्तुत है :-

1. दादू :

संत कवियों की जाति के संबंध में विद्वान एकमत नहीं हैं। अपनी समन्वय साधना के कारण इन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन विशेषत: जाति के विषय में कुछ नहीं लिखा। प्रसंग में जहाँ-तहाँ इनके शिष्यों ने उनके विषय में कह दिया अथवा लिख दिया- उसी का प्रचलन हो गया। यही कठिनाई संत दादूदयाल के जाति निर्धारण के संदर्भ में है। प्राय: यह मान्यता प्रचलित है कि दादूदयाल का जन्म वि.सं. 1601 के लगभग अहमदाबाद में हुआ था और उनका पोषण लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण द्वारा किया गया।[9] इसीलिये उन्हें जाति से नागर ब्राह्मण कहा गया है। किन्तु सन्त दादू की जाति के संदर्भ में अनेक मत प्रचिलत हैं। कुछ विद्वान् इन्हें मोची[10], कुछ धुनिया[11] और अधिकांश उन्हें मुसलमान[12] मानते हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि मोची और धुनिया जातियाँ मुसलमानों में भी प्रचलित हैं। साथ ही प्राय: सन्त हरिजन (निम्न) जातियों से ही आये हैं अथवा भारतीय सन्त-मत से प्रभावित होकर भी अनेक सहृदय मुसलमानों ने सन्तों का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। अत: यदि दादूदयाल का जन्म मुसलमान जाति में हुआ हो और बाद में उनका पोषण लोदीराम नामक किसी नागर ब्राह्मण ने भी किया हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। उनके शिष्यों, समकालीन सन्तों आदि ने उन्हें असुर[13] और धुनिया[14] कह कर मुसलमान मानने के प्रमाण जुटाये हैं। इसी सत्य के साथ यह स्पष्ट है कि दादू सांभर (राजस्थान) में ही पैदा हुए थे। यहीं उन्होंने दादू सम्प्रदाय (पंथ) की स्थापना की। वि.सं. 1632 में उनके गरीबदास नामक पुत्र हुए।[15] तदुपरान्त मिस्किन दास और दो पुत्रियां (अब्बा, सब्बा या शोभा कुंवरी, रूपकुंवरी) हुई। अपने अन्तिम समय में दादू नरेना (जयपुर) आ गये और अब नरेना को ही दादू सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र माना जाने लगा।

वैसे तो दादू के अनेक शिष्य थे।[16] किन्तु उनमें से 52 शिष्यों की सूची दादू वाणी में मिलती है। इनमें से उनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे- रज्जबजी, बालकराम जी, सुंदरदासजी, जनगोपालजी, बखनाजी, हरिदासजी, चित्रदासजी। 'दादूजी की वाणी' इनकी प्रमुख रचना है। इसके अनुसार ब्रह्म परमेश्वर परब्रह्म, स्वयं-भू, परम प्रभाव रूप, माया से परे, क्रिया रहित, सुस्थिर, सदा एकरस है।[17] ईश्वर चाहे तो कीड़ी को कुंजर और कुंजर को कीड़ी, राई को पर्वत और पर्वत को राई, जल को थल और थल

को जल में बदल सकते हैं।[18] माया और परमात्मा के बीच अन्तर डालकर दोनों की पृथक् प्रतीति कराने वाली शक्ति ही माया है। जिसके विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन दादूजी ने अपनी साखियों में किया है।[19] इस प्रकार संतदादू की साधना निरंजन एवं निर्गुण ब्रह्म की प्रधानता लिये हुए है। उनका कथन है कि अमरत्व का परित्याग, संयम, नियम, हरि स्मरण, अन्तर्ध्यान आदि उपासना साधु-संगति के सच्चे साधन हैं। इन्हीं से ईश्वर की प्राप्ति संभव है।

दादू के बाद यह सम्प्रदाय अपनी खालसा, विरक्त, उत्तरादे, स्थानधारी और खाकी शाखाओं में विभक्त हो गया।

2. लालदास (वि.सं. 1597-1705) :

संत लालदास का जन्म श्रावण कृष्ण पंचमी 1597 में राजस्थान के अलवर जिले के धोली दूब[20] नामक ग्राम में हुआ था। जाति से ये दूलोत गोत्र के मेव मुसलमान थे।[21] इन्होंने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। लालदासी सम्प्रदाय से जाना जाता है। लालदासी सम्प्रदाय की विशद् व्याख्या हमें लालदास की वाणी में मिलती है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी रामनाम के जप तथा कीर्तन को सर्वाधिक महत्व देते हैं। यह राम ही उनका ब्रह्म है जो निराकार, सर्वव्यापक एवं सत्य स्वरूप है।[22] कर्मण्यता इस सम्प्रदाय की विशिष्टता है।

सन्त लालदास के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी है- लालूदास, बेगादास, भारुदास, निहालदास, हीरादास, ठाकरदास, ज्ञानदास, मलूकदास, मल्हड़दास, चन्दनदास, गरीबदास तथा धर्मदास इन सन्तों में अधिकांश मेव मुसलमान ही है।

3. रज्जब :

इनका पूरा नाम रज्जब अलीखां था। इनका जन्म सांगानेर (जयपुर) के एक सम्मानित पठान परिवार में हुआ था। संतदादू के ये पटु शिष्य थे। बाद में इनका सम्प्रदाय रज्जब पंथ से भी जाना जाने लगा। किन्तु इसे दादूपंथ से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इनकी दो रचनाएं कही गई हैं (1) सर्वंगी और (2) वाणी। प्रथम रचना में स्वयं की वाणियों के अलावा पूर्व सन्तों के वचन संगृहीत हैं, जबकि दूसरी रचना में रज्जब रचित साखियाँ और पद हैं।

दोनों ही रचनाओं में रज्जबजी का जन्म काल नहीं मिलता। साधु-संतों में प्रचलित मत एवं उनकी मृत्यु के आधार पर उनका जन्म वि.सं. 1624 के आस-पास निर्धारित

होता है।[23] कहा जाता है कि- रज्जबजी जब विवाह के लिये जा रहे थे, तो आमेर में दूल्हे के वेश में संतदादू से मिलें। उनके प्रवचन से वे इतने प्रभावित हुए कि वहीं उनके शिष्य बन कर वैराग्य ग्रहण कर लिया।

अपने गुरु दादू के प्रति उनका घनिष्ठ लगाव था। साधना उनके जीवन का प्रमुख अंग थी। इसीलिये उन्होंने सतगुरु को चुंबक के समान कहा है:-

सतगुरु चुम्बक रूप है, शिष्य सुई संसार।
अछल चलै उनके मिलैं, या में फेर न फार॥

4. गरीबदास :

गरीबदास संत दादू के ज्येष्ठ पुत्र थे। दादू जन्मपरची के अनुसार इनका जन्म वि.सं. 1932 में हुआ। कुछ विद्वान इन्हें दादू का औरस पुत्र[24] मानते हैं, तो कुछ पौष्य पुत्र।[25] किन्तु अन्तर्साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर ये दादू के पुत्र ही सिद्ध होते हैं। एक वर्ग गरीबदास को दादू का शिष्य भी मानता है। पुत्र होते हुए भी शिष्य बना जा सकता है इन दोनों ही सम्बन्धों के आधार पर गरीबदास की उत्कृष्टता संभव है। इसी उत्कृष्टता के कारण वे दादू के उत्तराधिकारी बने हो।

गरीबदास की वाणी का प्रकाशन स्वामी मंगलदास ने करवा दिया है। इस संग्रह में उनकी सभी रचनाएं संगृहीत हैं। इनके एक अन्य ग्रंथ 'राग संग्रह' का भी उल्लेख हुआ है, जिसमें गेय पद हैं।[26]

5. बखनाजी :

बखनाजी नरेणा के निवासी थे। ये मीरासी मुसलमान थे।[27] डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने भी इन्हें जाति से मुसलमान माना है।[28] संतदादू इनके स्वर माधुर्य पर विमुग्ध हो उन्हें 'निरंजनराम' का गुणानुवाद करने का उपदेश दिया। बखनाजी ने दादू की इंस आज्ञा का पालन किया और शिष्य बन गये। बखनाजी की साधना का भक्तमाल (संत राघवदास) में बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है—

गुरु भगता जन दास सीस सुठि सुमिरन सारौ।
विरह लेपेटे सबद लगत तन करत सुभारौ॥

हरिरस पद पिय मत्त रैनि रहै खुमारी।
परचै वाणी विरुद सुनत प्रभु बहुत पियारी॥

माया ममता मान मद, राघौ तन मन मारि छड़।
दादू दीन दयाल के है बखनौ बाजैत बड॥

बखनाजी की वाणी स्वामी मंगलदास द्वारा श्री लक्ष्मी राम ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित हो चुकी है। इनकी वाणियों के आधार पर बखनाजी राम के एक निष्ठ आराधक और सदैव नामस्मरण में लीन रहते थे। स्वामी और सेवक का द्वैत केवल नाम में स्वीकार करते थे, स्वरूप में नहीं—

दूध मिल्यौ ज्यूं नीर में, जल मिसरी इकरूप।
सेवग स्वामी नाम द्वै, बखना एक स्वरूप॥[29]

बखनाजी के जन्म काल के प्रति कोई निश्चित तिथि नहीं मिलती। इनकी वाणियों में आये संदर्भों के आधार पर इनका आविर्भावकाल वि.सं. 1640–1670 कहा जा सकता है।[30]

6. मसकिनदास :

ये दादूजी के छोटे पुत्र थे। दादूपंथी खालसा साधुओं, जिनका सम्बन्ध दादूजी की नरेणा वाली (असली) गद्दी के गुरुओं की शिष्य परम्परा से है— के आचार्य रूप में इनके बड़े भाई गरीबदासजी के पश्चात् गद्दी पर प्रतिष्ठित हुए. इनका रचनाकाल वि.सं. 1650 रहा। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'वाणी' नाम से हुआ है।[31]

7. वाजींदजी :

ये जाति से पठान मुसलमान थे। राघवदास कृत 'भक्तमाल' के अनुसार एक बार एक हिरणी का शिकार करते समय इन के मन में दया का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे हिसांत्मक कार्यों को छोड़कर ये सत्संग में लीन हो गये और वे संतदादू के शिष्य बन गये।[32] इन्होंने लगभग सोलह रचनाएं की।[33] कुछ लोग इन्हें पृथक रचनाएं न मान 'वाजींद जी की वाणी' के ही विविध अंग मानते हैं। इन रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वाजींदजी में कबीर की भाँति ईश्वर को प्राप्त करने की तड़प है। उसे प्राप्त करने को उनकी आत्मारूपी विरहिणी तड़प रही है। इस वक्त उसे मात्र प्रियतम रूपी ईश्वर की ही प्रतीक्षा है-

"लोही मांस शरीर में रती न छांड्यौ राढ़।
अब जो विरहा स्वान है चावन सूखै हाड़॥

कठिन बरष पुझावई मही तपत है देह।
बरषा चूक न चाहिये इक बालम अरु मेह।[34]

8. बालकराम :

राघवदास कृत भक्तमाल के अनुसार बालकराम दादू के नाती हैं,[35] अतः इस सम्बन्ध में से उनकी जाति मुसलमान कही जा सकती है और उन्हें हमारे आलोच्य संतों की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्वयं बालकराम ने दादू को 'मुसलमान' माना है,[36] अतः नाती होने के कारण वे स्वतः मुसलमान प्रमाणित हो जाते हैं।

बालकदास का रचनाकाल वि.सं. 1710 माना जा सकता है। उनकी वाणियों और पदों के अनुसार निराकार परब्रह्म के दरबार में जात-पाँत का कोई भेदभाव नहीं है। वह सभी के रोम-रोम में समाया हुआ है। ब्रह्म, सनकादिक, नारद भी नेति-नेति कहकर उसका स्मरण करते हैं।

9. दरियावजी :

इनके आधुनिक नाम दरियासाहब के आधार पर कई विद्वान इन्हें बिहारवासी दरिया साहब के साथ जोड़ते हैं। किन्तु दोनों सन्त भिन्न है। यह बात दूसरी कि दोनों समकालीन हैं। संतदरियावजी का जन्म जोधपुर राज्य के जैतारण में वि.सं. 1733 में हुआ। इन्होंने स्वयं को धुनिया[37] या पठान धुनिया[38] कहा है। इस अन्तर्साक्ष्य के उपरान्त भी डॉ. मोतीलाल मेनारिया उन्हें मुसलमान नहीं मानते। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि 'दरियावजी को मुसलमान लिखने की गलती सबसे पहले जोधपुर राज्य की सेंसस रिपोर्ट (सन् 1890 ई.) तैयार करने वालों ने की और उसी को सच मानकर लोगों ने इन्हें मुसलमान लिखना शुरू कर दिया है।[39]

दरियावजी की वाणियाँ प्रकाशित हो चुकी है। ये रामसनेही सम्प्रदाय की रैणशाखा से सम्बद्ध है। इनकी वाणियों के अनुसार सतगुरु ही भक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है तथा शिष्य में पड़े सँस्काररूपी बीज को अंकुरित कर उसे पल्लवित करता हैं। मन की चंचलता को वह दूर करता है, जिससे अचेतन जीव-चेतना प्राप्त कर राम की प्राप्ति करता है:-

"दरिया गुरु कृपा करि, शब्द लगाया एक।
लागत ही चेतन भया, नेत्तर खुला अनेक॥"

संतदरिया उस अलौकिक सत्ता को अपना इष्ट मानते हैं, जिसके ऊपर अन्य कोई नहीं है।[40] इसीलिये वे राम सुमिरन को महत्त्व देते हैं, क्योंकि वही राम इस मिट्टी के करवे से शरीर को मुक्ति दे सकता है—

दरिया काया कारवी ·मौसर है दिन चारि।
जब लग सांस शरीर में, तब लग राम समंरारि॥

(सुमिरन को अंग)

संत दरियावजी का यह राम निर्गुण, निराकार, निरंजन अनादि एवं अन्तर में स्थित परब्रह्म परमेश्वर है। ऐसे राम की प्राप्ति हेतु वे किसी भी बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं समझते। उसके दर्शन तो अन्तर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा हृदय प्रवेश में ही संभव है। उसकी नमाज तो मस्जिद की बजाय मन में ही पाठ्य है:-

दरिया दस दरवाज में, ता विच पढ़त निमाज।
र रो म मो इक रटत है, और सकल बेकाज।।

इसीलिये उनकी दृष्टि में मजहब मांत्र एक काल्पनिक वस्तु है। कल्पना के कारण ही हम हिन्दू-मुसलमान या राम, अल्ला की बात करते हैं:-

र रा तो रब्ब आप है म मा मोहम्मद जान।
दोय तरफ के मायने सब ही वेद कुरान॥

यह है गैर मुसलमान सूफी कवियों की अन्तर्भावना, जिसने इस्लाम की कट्टरता को कहीं कोई महत्त्व ही नहीं दिया। राम और मौहम्मद का समन्वय कर दिया है। मन की इस सात्विकता एवं पवित्रता के कारण ही राजस्थानियों की भक्ति साधना में इन संतों का अपना विशिष्ट स्थान बन सका है।

10. शेखबहावदी :

ये दादूपंथी संत राजस्थान के निवासी थे। रचनाओं और रचनाकाल का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु इनके द्वारा प्राप्त पदों का लिपिकाल वि.सं. 1771 है।[41] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शेख बहावदी का अस्तित्व वि.सं. 1700 से 1780 के बीच रहा है।

11. काजी मुहम्मद :

राजस्थान के प्रायः सभी ग्रंथालयों में 'काजी मुहम्मद रा पद' नाम से अनेक रचनाएं मिलती हैं। पदों की भाषा के आधार पर ये राजस्थान के संत सिद्ध होते हैं तथा इनका रचना काल 18वीं शताब्दी का उतरार्द्ध सिद्ध होता है। उपलब्ध पदों में परमतत्त्व के प्रति अनन्यता, सांसारिकता की कठिनाइयों का वर्णन मिलता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

बस्त लंषीड़ी ताहरी, रे मन बांणियां देषि सिंदाणी कोई।
साह सेती धड़ा बांधी आपणा, मति तुझ आवै थोडि॥

मेरा पीव रूपवंता सब लोगड़ा ताकै रे।
महमूंद बिचारा क्या करै, नैना में राखै रे।[42]

12. दीनदरवेश :

संत दीनदरवेश के निवास स्थान के विषय में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें बुन्देलखण्डी[43] मानते हैं तो कुछ पालनपुर (गुजरात)[44] का निवासी। किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ये कैलाशपुरी या एकलिंगजी (उंदयपुर) के निवासी सिद्ध होते हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि उनके गुरु का स्थान गिरनार है और स्वयं उदयपुर के एकलिंगजी के निवासी हैं—

"गुरु स्थान गिरनार, हौ उदैपुर देस एकलिंग वासी।"

उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार में इनका सम्मान था। भीमसिंहजी की मृत्यु के उपरान्त ये उदयपुर से कोटा चले गये। यहीं चंबल नदी में डूबने से उनकी मृत्यु वि.सं. 1890 में हुई।[45] दीनजी के अनुयायी दीनदरवेशी कहलाते हैं। संत दीनदरवेश के प्रमुख शिष्यों में बाबानबी, बाबाफजल, नूरुद्दीन, पीरुद्दीन, हुसेनखां आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन की फुटकर रचनाओं (कुंडलियों) से स्पष्ट होता है कि वे सहज प्रकृति के संत कवि थे। अभिमान, त्याग और हिन्दू-मुसलमानों की एकता में उन्हें अटूट विश्वास था। भारतीय आख्यान उनके आदर्श थे।[46]

मध्यकालीन किसी संप्रदाय विशेष से इनका कोई लगाव नहीं दिखता, किन्तु इनके शिष्यों की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि ये स्वयं दीनदरवेश पंथ के संस्थापक थे। दैन्य और विनम्रता ही इनके पंथ की विशिष्टता थी।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन राजस्थान के हलचल वाले जनजीवन में इन मुसलमानों ने सूफी-सन्तों की भाँति अपनी रचनाओं द्वारा मात्र इस्लाम का प्रचार नहीं किया। इस्लाम को मानते हुए भी पूर्णतः हिन्दू भक्ति पद्धति के अनुरूप अपनी वाणियों में ईश्वर, जीव, संसार की अभिव्यक्ति की। इनका काव्य मानवीयता के सच्चे स्वरूप को स्थापित करता है। इन संतों की रचनाएं इस दृष्टि से निःसन्देह आज भी प्रासङ्गिग है।

वे वर्तमान परिस्थितियों में जन-समाज को दिशा बोध देने में सक्षम हैं। सम्प्रदाय मुक्त और सम्प्रदाय युक्त दोनों ही प्रकार के इन गैरसूफी मुसलमान सन्त कवियों में मानवीयता की यह चरम सीमा देखी जा सकती है। इन मुसलमान सन्तों ने तो हिन्दू-मुसलमानों को जोड़ने की कोशिश की है। दीनदरवेश कहते हैं कि दोनों भिन्न धर्म नहीं हैं। वस्तुतः यह तो एक मूंग की दो फाडें (दालें) हैं—

हिन्दू कहै सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
एक मूंग दो फार हैं, कुण ज्यादा कुण कम्म॥

जातिगत समन्वय के साथ ही इन सन्तों ने अपने इष्ट का भी समन्वय किया है। राम और हरि दोनों ही ब्रह्म के नाम हैं। इस रूप में प्रत्यक्ष में उन्होंने निर्गुण और सगुण के भेद को पाटने का प्रयत्न किया है। कई बार एक ही साखी या पद में सगुण और निर्गुणवादी अनुभव होने लगता है। इस प्रकार इन सन्तों की वाणियों में आडम्बरहीन सीधे-सादे लोकधर्म की अभिव्यक्ति मिलती है। तद्‌युगीन सामाजिक विकृति के संदर्भ में नारी, अंधविश्वास के विरोध, रूढ़ियों के खण्डन से सम्बन्धित वाणियों में उनके प्रगतिशील विचारों से साक्षात्कार होता है। नारी के प्रति अन्य सन्त कवियों की तुलना में दरियावजी का प्रगतिशील विचार इस पंक्ति में दृष्टव्य है—

नारी जननी जगत री, पाल पोस दे पोष।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष॥

मुसलमानों का सौंदर्यप्रेम और कलाप्रेम प्रायः प्रसिद्ध रहा है। यह परम्परा गैर सूफी मुसलमान संत कवियों में भी लक्षित होती है। यह एक सत्य भी है कि कवि का सौंदर्य अप्रतिम होता है। इसी सहजता ने इन सन्तों की वाणियों में सहज सौंदर्यानुभूति प्रस्तुत की है। मध्यकालीन विध्वंसक परिस्थितियों में भी उन्होंने जोड़ने का कार्य किया है। यही जोड़ना सौंदर्य का निर्माण है। ईश्वर के प्रति अटूट आस्था और उससे मिलने की इच्छा ने ही इनके काव्य में इस सौंदर्यानुभूति का निर्माण किया है।

वैसे तो प्रत्येक सन्त कवियों की साखियाँ या सबद विंरह रो अंग, सुमिरन रो अंग, जीव रो अंग आदि शीर्षकों से संकलित मिलते हैं, किन्तु लालदासजी की वाणियाँ (सबद और साखियाँ) रागों के आधार पर संगृहीत हैं- साखी कल्याण, साखी मारु, राग काफी, राग होली आदि। इस प्रकार का शीर्षक निर्धारण उनकी संगीत प्रियता का भी परिचय देता है।

संक्षेप में इन संत कवियों की विचारधारा के समन्वय ने भावात्मक एकीकरण को प्रोत्साहित किया। इनकी वाणियाँ वर्तमान परिवेश के निराकरण में भी सहयोगी हो सकती हैं।

संदर्भ सूची :-

1. डॉ. हीरालाल माहेश्वरी जांभोजी, प्रथम भाग, पृ. 133
2. जोधपुर - रेकॉर्ड्स : (क) सनद परवाना ब़ही संख्या 1, पृ. 3, महाराजा अजीतसिंह जी संवत् 1764 पोस सुदि 1
   (ख) सनद परवाना बही संख्या 25, पृ. 280, मिगसर सुदि 1, संवत् 1838
   (ग) खास रुक्का-परवाना बही सं. 1, पृ. 130, महाराजा मानसिंह का, संवत् 1860 पोस सुदि चवदस।
3. (क) परवाना महाराणा भीमसिंह जी का संवत् 1874 असाढ़ बदी 2
   (ख) परवाना महाराणा जवानसिंह जी का संवत् 1885 मिगसर बदी 13- डॉ. हीरालाल माहेश्वरी जांभोजी, प्रथम भाग, पृ. 131
4. जयपुर रेकॉर्ड्स : कोलीवाड़ा तथा रामगढ़ परगना सवाई जयपुर, परवाना संवत् 1850 माघ बदी 14
5. अलवर रेकॉड्स : बस्ता सं. 207, ग्रं. 1, पृ. 9 गुरु भक्ति प्रकाश (हस्त लि. ग्रंथ), पृ. 115, संवत् 1852, जयपुर।
6. उदयपुर रेकॉर्ड्स : उदयपुर बहियात (बख्शी खाना) नं. 221, पृ. 81
7. बीकानेर रेकॉर्ड्स : जकात बही, बीकानेर, संवत् 1895, पृ. 17, 38
8. (क) सं. नरोत्तमदास स्वामी-बांकीदास रीख्यात, पृ. 167
   (ख) डॉ. जी.एन. शर्मा-सोशल लाइफ इन मिडाईवल राजस्थान, पेज 107
9. दादू जी का जीवन चरित्र (हस्तलिखित ग्रंथ) क्रमांक 31519, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
10. सुधाकर द्विवेदी-दादूदयाल का सबद (भूमिका), पृ. 2

11. (क) डॉ. पीताम्बर दत्त बडत्थवाल-द निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दू पायट्री, पेज 258
(ख) डॉ. ताराचंद - द इनफ्ल्यूएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पेज 182
12. (क) क्षिति मोहन सेन-दादू उपक्रमणिका, पृ. 17
(ख) डॉ. मोतीलाल मेनारिया-राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 183
13. कलि कबीर कुल असुर, असुर कुल प्रगटे दादू।
भगत विभीषण भये, असुर कुल बलि प्रहलादू॥
------- वही ------ पृ. 182
14. धुन्या धू ज्यों परघटे, सुन्या शेष महेश।
दून्या में दादू कहे, मुन्यां मन प्रवेश॥
रज्जबवाणी
15. सांभर आये समय पचीसा, गरीबदास जन्मे बत्तीसा दादू जन्म परची (ह.ग्रं.) क्रमांक 26635, प्रा.वि.प्र. जोधपुर।
16. स्वामी मंगलदास-दादूवाणी, जयपुर।
17. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ह.लि.ग्रं. 22535-दादूजी की वाणी (पिव पिछाण को अंग, साखी 22)
18. वही, ग्रं. 30298, समर्थाई को अंग, साखी 2-4
19. स्वामी मंगलदास-दादूवाणी माया को अंग।
20. भरत खण्ड जहं उतम ठांव, धोली दूब नाना को गांव।
पिता बसे सासरे सुखवास, जा घर जन्म लियो लालदास॥
-डॉ. रामपत यादव-लोकांचल और साहित्यान्वेषण पृ. 18
21. जाति कहन को एहिए मेव, लकड़ी वेचैं कोई लेव।
नित अलवरगढ़ बेचन जांय, उद्यम करिकर उदर भरांय॥
(क) लालदास जी की वाणी, पृ. 6
(ख) अलवर रेकॉर्ड्स : बस्ता नं. 12
22. (क) लालजी तीन लोक जग जीव में, कोई नहीं सरदार।
करनी सूं छोटे चले, एक ब्रह्म तत्व सार॥
(ख) लालजी सबन बडेरा नाम है सो तुम लीना ढूंढ।
ओर बड़े जितने हुए मार गये सब मूंड॥
(ग) लालजी मत छोड़े सत शूरमा, सत छोड़े मत जाय।
सत की बांदी लक्ष्मी, बहुरी मिलेगी आय॥

23. सीताराम लालस-राजस्थानी सबद कोस, भाग प्रथम, पृ.
24. जनगोपाल-श्री दादूजन्म लीला परची, नवम विश्राम
25. वियोगी हरि-संत सुधासार, पृ. 502
26. प्र. सभा, वाराणसी-हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का पंद्रहवा त्रैमासिक विवरण, द्वितीय परिशिष्ट सं. 64, पृ. 137
27. वियोगी हरि-संत सुधासार, पृ. 533, सन् 1953
28. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 281, संस्क. 1978 ई.
29. वियोगी हरि-संत सुधासार, पृ. 537
30. डॉ. मोतीलाल मेनारिया-राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 281
31. डॉ. उदयशंकर श्रीवास्तव-मध्ययुगीन हिन्दी के सूफी इतर मुसलमान कवि, पृ. 109
32. डॉ. मोतीलाल मेनारिया-राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 294
33. डॉ. मोतीलाल मेनारिया-राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ. 294
34. नागरी प्रचारिणी सभा-हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण, द्वितीय परि., 652-53, संख्या-327वीं।
35. करै हंस ज्युं अंस, सार असार नियारे।
    आन देव को त्याग, एक पर ब्रह्म संभारे॥
    किये कवित षटतु की, बहुरि मनहर अर इंदव।
    कुंडलिया पुनि साखि, भक्ति विमुखन को निंदव॥
    राघो गुरु पख में निपुन, सतगुरु सुन्दर नाम।
    दादू दीनदयाल के, नाती बालक राम॥
36. कलि कबीर कुल असुर, असुर कुल प्रगटे दादू।
    भगत विभीषण भये, असुर कुल बलि प्रहलादू॥
    डॉ. मोतीलाल मेनारिया- राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 182
37. जो धुनिया तौ भी मैं राम तुम्हारा।
    अधम कमीन जाति मति हीना तुम तौ हौ सिरताज हमारा॥
    दरिया साहब (मारवाड़) की बानी और जीवन चरित्र-
    वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ. 47
38. मुरधर देस भरत खण्ड मांई, जैतारण एक गांव कहाई।
    जात पठाण रहत दोय भाई, फतेह मानसां नाम कहाई॥
    दरियाव महाराज के जन्म चरण की परची, 60 ग्रं. रैण।
39. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 303

40. जन दरिया कहै साहिब सोई।
ता पर और न दूजा कोई॥
(दरियावाणी पद)।

41. हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण, पृ. 631 (का.ना.प्र. सभा, काशी)।
42. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जयपुर ग्रं. 74 (94), पत्र 393-95
43. मिश्रबंधु-बैनी प्रवीन काल।
44. कमलधारीसिंह कमलेश-मुसलमानों की हिन्दी सेवा, पृ. 182
45. डॉ. मोतीलाल मेनारिया-राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 212
46. राजा रावन मरि गये, गये कुम्भ करना।
इन्द्रजीत भी उठि गये, हरना केस हरना॥
हरना केस हरना, बाण सहसा बोलाए।
ऐसे कोटि अनत, सभी राक्षस सीधाए॥
कहै दीन दरवेश प्रगट तुम देखौ परखा।
मानव केतिक मान रहा नहिं रावन सरखा॥
-कमलधारी सिंह 'कमलेश'- मुसलमानों की हिन्दी सेवा, पृ. 183

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजस्थानी विभाग
जयनारायण व्यास विश्व विद्यालय, जोधपुर

❑❑

हिन्दी के निर्गुण सन्तों की भक्ति-साधना

— डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

भारत में भक्ति के विकास को विद्वानों ने वैदिक साहित्य से ही आरम्भ माना है। आचार्य डॉ. मुंशीराम शर्मा का पक्ष यही था। दूसरे विद्वानों के मतानुसार वैदिक-काल में कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञपरक उपासना ही प्रचलित थी। कर्म के स्थान पर परब्रह्म के प्रति अन्त:परक उपासना उपनिषद्-काल में विकसित हुई। किन्तु चित्तपरक होते हुए भी उसका स्वरूप मुख्यत: ज्ञानमय ही रहा। भावपरक भक्ति का स्वरूप बौद्ध, जैन तथा भागवत धर्म में बहुत कुछ एक साथ दिखलाई दिया। भागवत धर्म में वैदिक परम्परा ही विकसित हुई। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत धर्म की भक्ति का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें भक्ति की अपेक्षा 'भक्तियोग' पर बल दिया गया है और ज्ञान तथा भाव में लगभग समानता-सी दिखाते हुए ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। भाव-प्रधान प्रेमपरक भक्ति की प्रतिष्ठा वस्तुत: शाण्डिल्य तथा नारद के भक्तिसूत्रों में हुई और भक्ति का वास्तविक प्रचार-प्रसार गुप्तकाल में दीख पड़ा।

श्रीमद्भागवत पुराण तथा दक्षिण के आलवार सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'दिव्यप्रबन्ध' में वैष्णव उपासना वाली भावप्रधान भक्ति प्रकट हुई, जिसमें विष्णु के दो अवतार-राम और कृष्ण उपास्य माने गये। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द' उक्ति के अनुसार दक्षिण के आचार्यों द्वारा प्रवर्तित इस भक्ति का उत्तर भारत में प्रचार स्वामी रामानन्द के द्वारा हुआ। उन्होंने उत्तर में रामभक्ति का प्रवर्तन किया, जिसकी अलग-अलग निर्गुण तथा सगुण नामक दो शाखाएं फूटीं और हिन्दी में रामभक्ति का प्रवाह प्रवाहित हो उठा। दूसरी ओर श्री वल्लाभाचार्य ने कृष्णभक्ति की सगुणधारा को प्रवाहित किया। इस प्रकार दक्षिण से उत्तर तक जाति-पाँति का भेद भुलाकर सार्वजनिक भक्ति का एक ऐसा प्रबल आन्दोलन उभरा जिसमें निर्गुण-सगुण और ज्ञान तथा भक्ति का कभी पृथक् और कभी सम्मिलित रूप व्यक्त हुआ तथा सदियों तक अपना प्रभाव बनाये रखा। हिन्दी में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल के आसपास तक यह भक्ति आन्दोलन नाना शाखाओं और सम्प्रदायों में विभाजित होकर विकसित होता हुआ अपनी प्रबलता बनाये रहा और कालान्तर में धीमा होकर, बने

रहते हुए भी, रूढ़ और शान्त हो गया। सामान्यतः सभी भक्तों के लिए 'सन्त' शब्द भी यद्यपि व्यवहृत हुआ, तथापि मुख्यतः इस शब्द का उपयोग निर्गुणोपासक भक्तों के लिए हिन्दी में रूढ़-सा ही है।

भक्ति-विकास की दीर्घकालिक यात्रा में भक्ति के स्वरूप तथा भेद-निरुपण में पर्याप्त अन्तर आता गया, जिससे उसकी किसी एक सर्वमान्य परिभाषा को निरूपित नहीं किया जा सकता। यदि 'श्रीमद्भगवद्गीता' भक्ति को 'अव्यभिचारिणी' कह कर श्रीकृष्ण के प्रति अंचचल अथवा स्थिर और अडिग मानसिकता के रूप में भक्ति की एकनिष्ठता पर बल देती है। 'महाभारत' उसके ऐकान्तिक रूप और अनन्यता को महत्त्व देता है तो 'विवेकचूड़ामणिकार' श्री शंकराचार्य स्वरूपानुसन्धान को और 'भक्तिरसायनकार' श्री मधुसूदन सरस्वती भगवान् से तद्रूपता और उसके ध्यान में चित्तद्रुति को भक्ति का लक्षण बताते हैं। पाराशर के मत से वह पूजादि में अनुराग होना है तो दूसरे मीमांसक उसे मन का उल्लासविशेष कहते हैं। विभिन्न मतों के बीच विद्वानों ने मुख्यतः दो परिभाषाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। एक है शाण्डिल्य-कथित परिभाषा 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' जिसके अनुसार ईश्वर में परा-अनुरक्ति ही भक्ति है। दूसरी है नारद-कथित 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'। उनके अनुसार भक्ति परम प्रेमरूप है। परानुरक्ति तथा परमेप्रेमरूप शब्दान्तर से लगभग एक ही बात है। वैष्णव भक्तों ने इसी परमप्रेमरूपा भक्ति को स्वीकार किया है। यदि निर्गुण के आराधक कबीरदास स्पष्टतः नारदी भक्ति को 'भगति नारदी मगन सरीरा। इहि विधि भवतरित कहै कबीरा॥ कहकर उसमें अपनी निष्ठा प्रकट करते हैं तो दूसरी और सगुणोपासक गोस्वामी तुलसीदास ***'सखा परम परमारथ येहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥'*** *रा.मा., 2163* कह कर इसी परमप्रेमरूपा भक्ति की स्वीकृति पर मुहर लगाते हैं।

हिन्दी में भक्ति का यह प्रवाह त्रिधार होकर बहा। भारतीय मूल की निर्गुण तथा सगुणधारा के अतिरिक्त तीसरी धारा विदेश से आयी और भारत में पनपी और विकसित हुई, सूफियों की प्रेममार्गी भक्ति-धारा। स्वयं निर्गुण और सगुण भक्ति-धारा भी अलग-अलग अनेक उपधाराओं में विभक्त हो कर बहती चलीं और इन सभीने मिलकर मध्यकाल में एक वृहद् आन्दोलन को जन्म दिया जिसने न केवल पराजित और हतदर्प हिन्दू जाति को आत्मशक्ति और पुनर्जीवन प्रदान किया, बल्कि मूल मानवीय मूल्यों पर बल देकर दो भिन्न जातियों और स्वयं हिन्दू जाति के भिन्न समुदायों तथा वर्गीय भेदों को मिटाकर एक-साथ मेल-मिलाप से रहना भी सिखाया। इस दिशा में गुरु रामानन्द का दिखाया हुआ मार्ग जितना कार्यसाधक सिद्ध हुआ और उसने निर्गुण तथा सगुण की रामभक्ति-धारा को प्रशस्त पथ दिया उतना ही कृष्णभक्ति के साधकों की भूमिका भी

कार्यकारी सिद्ध हुई और इतनी और इस तरह हुई कि उस प्रवाह में मुसलमान भक्तों और भक्तिनों की जमात भी शामिल हो कर उसी रंग में रंग गयी। इसी तरह सूफियों ने भारतीय घटनाओं और चरित्रों को आधार बना कर जो काव्यधारा प्रवाहित की और जिस तरह आध्यात्मिक प्रेम को अपने कथनों में संजोया, उससे उन्होंने भी भारतीय सँस्कृति और साहित्य के इतिहास में तथा तत्कालीन जनता के बीच अपना स्थान बना लिया।

अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटी इस भक्ति की प्रवाहिनी में हिन्दी की निर्गुण भक्ति धारा का अपना विशिष्ट स्थान है। इस निर्गुणधारा की ही दो शाखाएं हिन्दी में क्रमशः ज्ञानाश्रयी और सूफ़ियों की प्रेमाश्रयी शाखा नाम से प्रचलित हुई। ज्ञानाश्रयी शाखा में हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए स्थान रहने के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इसे 'सामान्य भक्तिमार्ग' की संज्ञा भी दी है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि आचार्य शुक्ल 'भक्ति को धर्म की भावात्मक अनुभूति' मानते हैं और धर्म की पूर्ण सजीव दशा में कर्म, ज्ञान और भक्ति, धर्म-प्रवाह की तीनों धाराओं में सामंजस्य आवश्यक बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लंगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना, हृदय-विहीन क्या; निष्प्राण रहता है।[1]

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में अथवा विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के लगभग मध्यभाग तक, हिन्दू धर्म अपनी इसी विकलांग दशा में पहुँच चुका था। इसके लिए जितनी उत्तरदायी राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं, उनती ही उत्तरदायी धार्मिक परिस्थितियाँ भी रहीं। बाहरी आक्रमणकारी शक्तियों ने यहाँ जो विनाश-लीला रची और यहाँ के धार्मिक जीवन को, देवस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करके आघात पहुँचाया, वह तो इस विकलांगता को जन्म देने में एक कारण रहा ही, देश की आन्तरिक धार्मिक परिस्थिति भी उसे बढ़ाने में पीछे न रही। देश में पूरब से पच्छिम तक विस्तृत प्रदेश में फैंले वज्रयानी सिद्धों और कापालिकों तथा नाथपंथी जोगियों में से पहले दो के द्वारा फैलाए गये तंत्र-जाल, वामाचार और अन्तर्मुखी साधना ने तथा नाथपंथियों के द्वारा प्रचारित हठयोग-साधना आदि की साम्प्रदायिक शिक्षा ने जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से जन-सामान्य के चित्त को हटाकर गुह्य, रहस्य और सिद्धि के रहस्यमय लोक की ओर मोड़ दिया था। उसके कारण सामान्य जनता की धर्मभावना दबती गयी और उसका

हृदय धर्म से दूर हटता चला गया। आचार्य शुक्ल ने विचारत: इनके लक्ष्य और कुप्रभाव का अपने इतिहास में वर्णन किया है और बड़े स्पष्ट शब्दों में बताया है कि जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विघायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गये थे। उनकी बानी तो 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' लेकर उठी थी। अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे। भक्ति, प्रेम आदि हृदय के प्रकृत भावों का उनकी अन्तर्साधना में कोई स्थान न था।[2]

इस प्रकार यही नहीं कि भारत में धर्मभाव का ह्रास केवल मुसलमानों के आने के कारण हुआ बल्कि उक्त दशा का 'सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आये उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था।[3] मुसलमानों के आगमन ने राजनीतिक स्तर पर उस ह्रास की गति और स्थिति को और भी तीव्र और प्रबल कर दिया। आश्चर्य नहीं कि 'इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'[4]

इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है, जैसा कि शुक्लजी के कथन से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निकाल दिया है, कि भारत में मुसलमान न आये होते तो शुक्लजी के विचार से भारत में भक्ति का प्रचार-प्रसार ही न हुआ होता। इस प्रसंग में शुक्लजी के कथन में बारह आना या चार आना सच्चाई खोजने की आवश्यकता भी इसलिए नहीं है कि स्वयं शुक्लजी भक्ति के प्रसार के पीछे अन्यान्य कारण-स्थितियों से भी परिचित रहे हैं। उन कारण-स्थितियों में एक तो उन्होंने वज्रयानी बौद्ध तांत्रिकों और सिद्धों के अतिरिक्त नाथपंथी योगियों की साधना को स्वीकार किया ही है, दूसरे उन्होंने इस व्यवस्था का प्रभाव 'सामान्य जन-समुदाय' पर माना है और स्पष्टत: कहा है कि शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई असर न था। वे इधर-उधर पड़े अपना कार्य करते जा रहे थे। पण्डितों के शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खण्डन-मण्डन के ग्रन्थ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्त की थी। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यों की परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चली चल रही थी जिससे परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।[5]

इस परम्परागत भक्तिमार्ग के विषय में अपने इस कथन के कुछ पूर्व ही शुक्ल जी यह भी कह चुके थे कि धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती,

कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।[6] शुक्लजी को इस दबती, उभरती किसी तरह चली आ रही परम्परा के विषय में यह भी ज्ञान था कि भक्ति का यह सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था। हुआ केवल इतना ही कि जो यह सोता यों भी उत्तर भारत में धीरे-धीरे फैलता ही, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।[7] इसी भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आयी उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगायी। .... महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त सं. १३२८-१४०८ नामदेव ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण पंथ' के नाम से चलाया।[8]

सीधे साधना से हटकर इस भक्ति-मार्ग के आविर्भाव और विकास की चर्चा में अनपेक्षित विस्तार में केवल इसलिए जाना पड़ा कि यह भ्रम-जाल कट सके कि शुक्ल जी को भक्ति के सीधे और अनिवार्य विकास की संभावनाओं का पता नहीं था और उन्होंने उसे केवल निराशा की देन मान लिया था। यह तो शुक्लजी के खण्डनकर्त्ता भी मानते हैं कि चार आना ही सही निराशा भी उसमें कारणभूत थी, पर इतना और ध्यान रखना चाहिए कि निराशा-जनित यह भक्ति-प्रसार भी खंजड़ी और मंजीरे बजाकर, भगवान् के सामने या उसकी याद में आंसू बहाने के रूप में नहीं हुआ था। हम इसे आत्मविश्वास, आत्मबल और संगठन-शक्ति को जगाने वाले और मानवता-धर्म का प्रसार करने वाले हेतु के रूप में देखते हैं।

नामदेव द्वारा 'सूत्रपात' किये जाने और कबीरदास द्वारा 'विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में' चलाये जाने वाले इस 'निर्गुण पन्थ' को भक्ति-मार्ग मानकर भी इसे ज्ञानाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित किया गया है, जबकि सूफियों की निर्गुण भक्ति को प्रेममार्गी कहा गया है। भक्ति तो स्वयं ही परमप्रेमरूपा कही गयी है, तब फिर इस विभेद का अर्थ क्या है? भक्ति को ज्ञानाश्रयी कहने का क्या अभिप्राय है? अभिप्राय इतना ही है कि भक्ति तो केवल रागात्मिका वृत्ति से इष्ट के प्रति परमप्रेमाभिव्यक्ति के रूप में भी हो सकती है, पर जो साधक शास्त्रोक्त पद्धति, अन्धविश्वास और आप्त कथनों को आधार बनाकर भगवदाराधन में प्रवृत्त नहीं होते और अनुभव-प्रामाण्य तथा तर्कबल से ज्ञान-प्राप्ति को साधन बनाकर भक्ति करते हैं वे साध्य की दृष्टि से प्रेमपथ के ही पथिक हो कर भी साधन की दृष्टि से ज्ञान को अपनाने के कारण ज्ञानाश्रयी कहलाते हैं। ज्ञान उनके लिए भक्ति का साधन मात्र है। कबीरदासादि सूफी-साधकेतर

भक्त इसी प्रकार के ज्ञानाश्रयी निर्गुण-पंथी भक्त थे। हिन्दी में इनके लिए 'सन्त' शब्द भी प्रचलित हैं। इनमें कबीरदास के अतिरिक्त मुख्यत: रैदास, गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास छोटे, चरणदास, रज्जब, पलटूदास, निश्चलदास, गरीबदास, दरियासाहेब, बिहारवाले, मोहनशाह, तथा शिवनारायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में इन सन्तों के अनेक सम्प्रदाय या पन्थ और उनकी शाखा-उपशाखाओं का विस्तार सदियों तक होता रहा।

प्रसंगत: यहाँ यह निर्देश करना उचित होगा कि आचार्य शुक्ल द्वारा निर्गुण ज्ञानाश्रयी भक्तिधारा नामकरण के विषय में सन्त साहित्य : औपनिषदिक विचारधारा के परिवेश में शोधप्रबन्ध के लेखक डॉ. राधेश्याम दूबे ने प्रबन्ध के क्रमश: तृतीय तथा सप्तम परिच्छेद में इस धारा को 'निर्गुण' तथा 'ज्ञानाश्रयी' कहे जाने पर आपत्ति उठायी है। सारांशत: उनका कथन है कि प्राय: आधुनिक विद्वान् इस बात की ओर संकेत करते हुए दिखायी पड़ते हैं कि शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत निर्गुण-धारा का विभाजन उस धारा के सम्पूर्ण साहित्य को देखते हुए संगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि सन्त निर्गुण-निराकार एवं सगुण-निराकार दोनों का इतना ही नहीं, इन सबसे अतीत परब्रह्म का भी विवेचन करते हैं, किन्तु भक्ति तो सगुण-निराकार की ही करते हैं।[9]

प्रबन्ध के तीसरे परिच्छेद में डॉ. दूबे ने अन्यान्य बातों के बीच इस प्रसंग में यह बताया है कि उपनिषदों में विवेचित निर्विशेष-सविशेष अथवा निर्गुण-सगुण ब्रह्म के दो भाव हैं अर्थात् उनके दो रूप नहीं हैं। अत: निर्गुण-सगुण में भावगत अन्तर है, वस्तुगत नहीं। सन्तों ने भी ब्रह्म के दोनों पक्षों की अलग-अलग व्याख्या नहीं की है। दोनों प्रकार की विशेषताओं से संयुक्त उनके निर्गुण ब्रह्म में भी गुण विद्यमान हैं। प्रमाण है कबीरदास की यह पंक्ति गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छांड़ि क्यूँ बहिये। लेकिन दूबेजी के ही कथानुसार कबीरदास की पंक्ति निर्गुण ब्रह्म कथो रे भाई तो स्पष्टरूप से अन्तत: यही सिद्ध करती है कि उन्होंने निर्गुण का ही उपदेश किया है। दूबेजी के ही अनुसार सन्तों के द्वारा विवेचित राम, गोविन्द, मुकुन्द, कृष्ण आदि अवतार से सम्बन्धित राम अथवा कृष्ण नहीं है, प्रत्युत निर्गुण, निराकार परब्रह्म ही हैं।[10]

ऐसी स्थिति में अन्तिम लक्ष्य अथवा मूल उद्दिष्ट को ध्यान में रखते हुए प्राधान्येन यदि निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय ही कहा जाय तो विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि इसे सगुण-भक्तिधारा कहे तो वैसा कहने से मूल लक्ष्य का संकेत नहीं मिलता, जो कि मिलना चाहिए। सगुण-निराकार कहने से भी निर्गुण उसकी परिधि में नहीं आता।

निर्गुण–सगुण–निराकार नाम दें तो व्यर्थ का भेद–जंजाल फैलता है, क्योंकि उसी ढंग पर फिर अगुन–सगुन को एक मानने वाले गोस्वामी जी जैसे साकारोपासक भक्तों की भक्ति को निर्गुण–सगुण साकार भक्ति कहना पड़ेगा और उनमें निर्गुण लक्ष्यभूत न होने से निर्गुण को आरम्भ में न रख कर सगुण–साकार–निर्गुण जैसा कुछ कहना होगा, जिससे गोस्वामी जी के साथ न्याय नहीं हो पायेगा। अतएव हम इसी पक्ष के हैं कि सन्तों की अपनी उक्तियों और मूल भावना को ध्यान में रखते हुए उनकी भक्ति को निर्गुण–भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही ठीक है।

डॉ. दूबे ने सप्तम परिच्छेद में ही आगे कहा है कि ऐसी स्थिति में जबकि सूफियों ने भी अपने उपास्य को सगुण–निराकार रूप में चित्रित किया है तो इन दोनों को निर्गुण–गुणरहित धारा के अन्तर्गत रखने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। अतः हिन्दी के भक्ति कालीन भक्ति–साहित्य को साकार धारा एवं निराकार धारा के ही अन्तर्गत विभाजित किया जाना चाहिए। इस निराकार धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नामक विभाजन भी उचित नहीं है, क्योंकि सन्तों में, जैसा प्रतिपादन किया जा चुका है, भक्ति अथवा प्रेम का ही प्रामुख्य है, ज्ञान अथवा योग का नहीं। अतः सन्तों को ज्ञानाश्रयी कवि न कह कर सन्त ही कहना अधिक उचित होगा।[11]

इस विषय में यहाँ हमें इतना ही कहना है कि यदि केवल साकार और निराकार का भेद ही स्वीकार किया जायगा तो निर्गुण के लिए कोई जगह ही न रह जायगी और ***'निरगुन राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई'*** आदि कहने वाले कबीरदास जैसे भक्तों को सगुणोपासक मात्र तो कहना ही पड़ेगा, उनकी साध्य परमतत्व से सम्बन्धित निर्गुण, सर्ववाद और सोपाधिकता को पुष्ट करने वाली उक्तियों की भी नाहक उपेक्षा करनी पड़ेगी। इसी प्रकार सन्तों में भक्ति और प्रेम को प्रमुख मानते हुए इस बात की अनदेखी भी नहीं की जानी चाहिए कि ज्ञान और योग दोनों उनमें भक्ति के साधन बन कर ही आये हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कर्म को एकबारगी निकाल फेंकने का काम तो नाथपन्थियों द्वारा ही हो गया था, ज्ञानदेव के प्रभाव से सीधे–सादे सगुण भक्तिमार्ग पर चले जा रहे नामदेव द्वारा गृहीत सर्वव्यापक निर्गुणब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मान कर अन्तर्मुख साधना करने की प्रवृति कबीर तक भी चली आयी और उनमें योग का भी सम्मिश्रण हो गया। इस प्रकार सन्तों में ज्ञान और योग भक्ति के साधन होकर उभरे। इसीलिए इन्हें ज्ञानमार्गी कहा गया है। सगुण और निर्गुण के इस भेद में हिन्दी साहित्य में जहां और बहुत–सी बातें सम्मिलित हैं, जो इन दोनों का परस्पर भेद प्रदर्शित करती हैं, वहाँ प्रमुखता इस बात की है कि निर्गुणवादी ब्रह्म को सर्वव्यापक मानकर भी अन्तर्साधना को ही स्वीकार करता है

और अद्वैत का विश्वासी है जबकि सगुणवादी उसे केवल परिमित देश-काल में बाहरी जगत् में व्यक्त मान कर उसकी उपासना करता है। सन्तों ने चूंकि सगुण की भी अन्तर्साधना ही की है, अतएव उन्हें निगुर्णधारा के अन्तर्गत माना गया है। अन्यथा निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में निर्गुण-सगुण की स्वीकृति तो बनी ही रही है। प्रमुखता की दृष्टि से हिन्दी में निर्गुण शब्द अपने में निराकार का और सगुण शब्द अपने में साकार का अथवा क्रमशः निर्विशेष और विशिष्ट का बोधक बन गया है।

हिन्दी के विद्वानों ने निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा में, विशेषतः कबीरदास में, अनेक साधना-मार्गों का प्रभाव लक्षित कराया है। उदाहरणतया- आचार्य शुक्ल का कथन है कि : जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक और तो स्वामी रामानन्दजी के शिष्य हो कर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के सँस्कार प्राप्त किये। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिये। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे सन्तों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है।[12]

शुक्लजी की इस स्थापना को बाद में डॉ. पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. मुंशीराम शर्मा, डॉ. रामचन्द्र तिवारी आदि विद्वानों ने शब्दान्तर से दुहराया है। यह अवश्य है कि इनमें से कुछ ने उसे सीधे प्रभाव के रूप में स्वीकार न करके कबीर के अपने विवेक-जनित संग्रह-त्याग को विशेष महत्त्व दिया है। यह भी है कि कबीर में आकर जो थोड़ा-बहुत तात्त्विक अन्तर हो गया है, इन विद्वानों ने उसे भी लक्षित करा दिया है। सारतः डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने आचार्य द्विवेदी के वाक्य को उद्धृत करते हुए अपनी और से इस प्रसंग में जो कहा है उसमें डॉ. बड्थ्वाल तथा आचार्य शुक्ल सहित अन्य विद्वानों के कथनों का संकेत ही निहित है, जिसे उन्होंने पाद-टिप्पणी में स्पष्ट भी कर दिया है।

'कहा गया है कि' कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। यह योग का क्षेत्र बौद्ध-सिद्धों की ऊँची-नीची साधना-भूमि को पाटकर बनाया गया था जो भाव के अभाव में सूखकर कड़ा पड़ गया था। दक्षिण से वैष्णव भक्ति का जो सरस प्रवाह उमड़कर उत्तर-भारत में प्रवाहित

हुआ उससे यह भूमि न केवल रस-सिक्त हो गयी वरन् इसमें रामानन्द के रूप में एक अँखुआ भी फूट पड़ा। इस्लाम के साथ आये हुए सूफियों के प्रेम-जल से सिंचित हो कर यह अँखुआ कबीर रूपी लता के रूप में पल्लवित हुआ।[13]

इस उद्धरण में पहला वाक्य द्विवेदी जी का है और रामानन्द वाली बात को डॉ. बड्थवाल के शोध प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' की भूमिका के निर्देश पर ग्रहण किया गया है। सूफी-प्रभाव के विषय में डॉ. तिवारी ने अपनी तीसरी पाद-टिप्पणी में अनेक विद्वानों की स्वीकृति का उल्लेख करते हुए पं. चन्द्रबली पाण्डेय के ग्रन्थ "तसव्वुफ और सूफीमत" के आधार पर यह भी सूचित किया है कि पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने तो कबीर, दादू, यारी, दरिया आदि सन्तों को 'आजाद सूफी' माना है।

जहाँ तक उक्त मतों से कबीरदास या सन्तों के वैचारिक या अभिव्यक्तिपरक अन्तर का प्रश्न है, वह प्रभाव के अभाव का सूचक नहीं है। प्रभाव रहते भी व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र अथवा मौलिक चिन्तन और अभिव्यक्ति की भिन्नता संभव है। अतएव वह यहाँ विचारणीय नहीं है। यहाँ जो बात लक्षित की जानी है वह यह है कि उक्त प्रभाव को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने किस दृष्टि से आंका अथवा उसके क्या कारण स्वीकार किये हैं। इसके विस्तार में न जाकर यहाँ नमूने के तौर पर केवल परवर्ती तीन मत दिये जा रहे हैं। पहला है डॉ. मुंशीराम शर्मा का, दूसरा डॉ. रामचन्द्र तिवारी का और तीसरा डॉ. राधेश्याम दूबे का।

डॉ. शर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध 'भक्ति का विकास' में कबीरदास के मानसिक निर्माण की चर्चा करते हुए उनकी साधना-दशा तथा सिद्ध-दशा की उक्तियों में अन्तर का अनुमान किया है और अन्ततः कबीर की स्वतन्त्र प्रतिभा के द्वारा इन सब मतों के अस्वीकार कर दिये जाने और अपना ही मार्ग निकाले जाने का संकेत किया है। उनका कथन हैं कि, कबीर के मानसिक विकास पर अपने समय के वैष्णव तथा सूफी दोनों सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। नाथ पन्थ के हठयोग का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। अतः इस पन्थ की साधना-पद्धति से भी वे प्रभावित हुए थे, पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे इनमें से किसी का भी साथ न दे सके। अपनी प्रतिभा से उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक जिन निश्चित मन्तव्यों की घोषणा की हैं उनमें भगवद्भक्ति आडम्बरविहीन सदाचारपूर्ण जीवन तथा कथनी और करनी की एकता प्रमुख हैं।[14] लेकिन कबीर की रचना में प्रेम की उत्कटता को देखते हुए वे उसे स्पष्टतः न तो सूफी प्रभाव मानते हैं और न ही वैष्णव प्रभाव। वे कहते हैं 'प्रेमप्रवाह को सूफियों की देन कहिए या वैष्णव प्रेमाभक्ति की कबीर की

रचनाओं में वह अत्यन्त गम्भीर रूप लिये हुए हैं।'[15]

डॉ. शर्मा के इस कथन को उनके अनिश्चय का सूचक न मान कर इस अर्थ में ग्रहण करना ही उचित होगा कि कबीर में वे दोनों का सम्मिश्रण मानते हैं। परन्तु थोड़ा आगे चलकर वे पुन: कबीर की भक्ति को वैष्णव भक्ति ही भी कहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शर्माजी किसी न किसी रूप में प्रभाव तो सूफी सम्प्रदाय का भी मानते हैं पर प्रधानता वैष्णव भक्ति को ही देते हैं। उनका कथन है: वस्तुत: कबीर के जीवन में वैष्णव सम्प्रदाय की सदाचार-संवलित प्रेमभक्ति और भगवान् वैष्णवभक्ति है। प्रमाणस्वरूप वे बारबा. हरि और राम का नाम तो लेते ही हैं। 'वैष्णवभक्ति से प्रभावित होकर कबीर ने आरती भी लिखी है। दोनों आरतियों में वह सामग्री वर्तमान है, जिसे वैष्णव-भक्त आरती के समय रखते हैं, जैसे, पत्र, पुष्प, दीपक, धूप, घण्टा आदि। कबीर ने केवल उसके स्थूल रूप को सूक्ष्म मानसिक रूप प्रदान कर दिया है। इसी प्रकार कर्म-विपाक का जो रूप वैष्णवों को मान्य है, वही कबीर को भी। वे इस विषय में सूफियों के इस्लामी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं।[16]

डॉ. शर्मा ने कबीर की जिस भक्ति को वैष्णवभक्ति कहा है, आचार्य शुक्ल उसे वैसा नहीं मानते और उसे सूफियों की ही देन मानते हैं, यह दोनों विद्वानों के कथनों में बड़ा गम्भीर अन्तर है। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट कहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर 'राम-नाम' रामानन्द जी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानन्द के 'राम' से भिन्न हो गये। अत: कबीर को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं ले सकते।[17]

डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने वैष्णव भक्ति और कबीर उपशीर्षक के अन्तर्गत स्वयं कबीर की स्वीकृति के अतिरिक्त कई विद्वानों के मतों के आधार पर कबीर की भक्ति के वैष्णवी होने की बात कही है और, जैसा कि उन्होंने उद्धृत भी किया है, स्वयं शुक्लजी भी कबीर का वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद से प्रभावित होना मानते हैं, किन्तु वे इस बात में शुक्ल जी से सहमत दिखायी देते हैं कि भक्ति का सम्बन्ध सगुण से है, कबीर में निर्गुण के प्रति जिस रागात्मिका भक्ति की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है वह सूफी प्रभाव से ही आयी है। इसकी पुष्टि वे अन्य तर्कों से भी करते हैं। यथा :-

'नारदी भक्ति' और 'रामानन्दी भक्ति' में स्वीकृति मधुर-भावना का प्रभाव स्वीकार कर लेने पर भी कबीर की भक्ति उनके मेल में नहीं रखी जा सकती। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त सगुणाश्रयी हैं। कबीर का उत्कट प्रेम निरपेक्ष के प्रति है। इसके अतिरिक्त

कबीर ने जिस रूप में अपनी विरहानुभूति व्यक्त की है, वह सूफियों के अधिक निकट हैं।[18]

प्रेमाभक्ति में विरह को यह महत्त्व रामानन्द की परम्परा में नहीं दिया गया हैं। ऐसा लगता है कि कबीर ने वैष्णवभक्ति से अहिंसा, समर्पण-प्रपन्नता और अन्यता की भावना ग्रहण की थी। किन्तु अव्यक्त के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और तन-मन दाहक विरह सूफियों से ही ग्रहण किया था, नहीं तो वे विरह को सुलितान न बनाते। जायसी ने स्वयं कबीर का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है :-

ना - नारद तब रोह पुकारा, एक जोलाहे सौं मैं हारा।
प्रेम तंतु निति ताना तनई, जप तप साधि सैकरा भरई॥

कबीर का यह 'प्रेम-तन्तु' जायसी के अनुकूल न होता तो वे उसकी प्रशंसा न करते। कबीर की भक्ति में नारद-भक्तिसूत्र में निरूपित ग्यारह प्रकार की आसक्तियां भी मिल जाती हैं। किन्तु 'नारदी भक्ति' में यह आसक्तियाँ सगुण भगवान् के प्रति दिखायी गयी हैं जबकि कबीर का स्वामी 'अलख' और 'अरूप' है। यों तो भगवान् के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में इस प्रकार की आसक्तियाँ कहीं भी स्वयमेव आ सकती हैं। ध्यान रखना होगा कि कबीर ने वैष्णवों को भी पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है। वे कहते हैं—

वैष्णव हुआ तो क्या भया माला मेली चारि।
बाहर कंचनवा रहा भीतरि भरी भंगारि॥

प्रकट है कि वैष्णव भक्तों में भी उन्हें कपटाचारी दृष्टिगत हुए थे, और उनका भी उन्होंने विरोध किया था।[19]

दीर्घ उद्धरण के लिए हम क्षमा चाहते हैं परन्तु यह एक पक्ष ऐसा था जिसकी स्पष्टता के लिए यह जरूरी हुआ। डॉ. तिवारी का पक्ष यह है कि कबीर में अव्यक्त के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और तन-मन दाहक विरह सूफियों की देन है। उनकी यह दाहकता वाली बात जँचती है और इसके आधार पर सूफियों का प्रभाव माना जा सकता है। किन्तु जायसी के अनुकूल होने से उसका सूफी प्रभाव होना सिद्ध नहीं होता। उनकी प्रशंसा से भी नहीं। अनुकूलता तो कई बार हो सकती है पर अनुकूल कथन से स्रोत भिन्न हो सकते हैं अथवा उक्ति की गंभीरता और हृदय की सच्चाई का अनुभव करके भी प्रशंसा की जा सकती है, जरूरी नहीं है कि जिसकी प्रशंसा की जाय वह स्वपक्षीय ही हो। ईसी प्रकार कबीर द्वारा वैष्णवों के कपटाचार का विरोध करना भी इस बात

का सूचक नहीं हो सकता कि कबीर ने उनसे कुछ लिया ही नहीं। या कि वे विरोधी शिविर के रहे होंगे। इससे तो इतना ही सूचित होता है कि कबीर को वैष्णवों में भी कुछ बुराइयाँ दीख पड़ी तो उन्होंने उनको भी खुले आम कहने में संकोच नहीं किया। हम अपने पितृकुल का कुछ बातों में विरोधी कर सकते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि हम उसके अंग नहीं हैं। फिर भी, तिवारी जी की विरह की दाहकता वाली बात में पर्याप्त बल है।

तिवारीजी ने स्वयं सूफियों के प्रेमतत्त्व और इस्लामी एकेश्वरवाद से कबीर के विचारों की भिन्नता भी प्रदर्शित की है और यह या इस प्रकार की भिन्नता अन्य विद्वान् भी प्रदर्शित करते रहे हैं। अतएव भिन्नता जब तक सम्पूर्णतया न हो तब तक किसी पक्ष विशेष का निश्चय कर पाना आसान नहीं है और कथयिता के ग्रहण-त्याग की विवेकसम्मत अनेक संभावनाएं बनी ही रहती हैं। कबीर के विषय में भी कदाचित् यही सच है कि उन्होंने श्रुत-परम्परा से जहाँ से जो ठीक लगा ले लिया अतएव मूलतः रामानन्द की शिष्यता और 'नारदी भक्ति' से वैष्णव भावापन्न हो कर भी कबीर की अनन्यता ने प्रगाढ़ता में उस स्थिति को भी सहज ही पा लिया अथवा ग्रहण कर लिया जो सूफियों की अपनी विशेषता थी। हम समझते हैं, जैसा कि डॉ. तिवारी ने कहा है, 'सत्य तो यह है कि कबीरदास ने अपने पूर्ववर्ती सभी धार्मिकमतों, साधनाओं एवं दार्शनिक पद्धतियों को व्यावहारिकस्तर पर रूढ़िग्रस्त, आडम्बरपूर्ण एवं लक्ष्यभ्रष्ट मान कर अस्वीकार कर दिया था। .... कबीर के लिए राम और उनकी भक्ति के अतिरिक्त शेष सब मिथ्या है।[20]

जहाँ तक निर्गुण के प्रति रागात्मिका भक्ति का प्रश्न है, आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा ही हो सकती है, लालसा या राग नहीं। इस प्रकार शुक्लजी का निर्गुण-भक्ति का विरोध वस्तुतः अव्यक्त के प्रति लालसा या प्रेम का विरोध है। इस विरोध को उन्होंने रहस्यवाद के प्रसंग में भी उतना ही बनाये रखा है। 'अव्यक्त' शब्द के प्रयोग से जान पड़ता है कि शुक्लजी का 'निर्गुण' अपने में निराकार को भी सेमेट हुए है और मुख्यतः उनका विरोध उसी को लेकर है।

कुछ विद्वानों ने, यथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामचन्द्र तिवारी तथा डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने, निर्गुण के प्रति भक्ति की रागात्मिका दशा का भी समर्थन किया है।

द्विवेदीजी का कथन है कि 'कबीर निस्सन्देह ऐसे भगवान् को मानते थे, जो द्वन्द्वातीत है, पक्षातीत है, द्वैताद्वैत-विलक्षण है, त्रिगुण रहित है, अपरम्पार पुरुषोत्तम है,

अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवान् को ऐसा नहीं मानता? जो लोग शास्त्र-ज्ञान का दावा करते हैं और फिर भी कबीर की भक्ति, अद्वैत-भावना और निर्गुण-प्रेम को परस्पर विरोधी समझते हैं उनका उद्देश्य क्या है ये वही जानें। हम तो दृढ़ता के साथ कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भक्ति और भगवद्‌भावना में न तो युक्ति से विरोध है न शास्त्र से। कहीं जो विरोध दिखता है तो उसका ऐतिहासिक कारण है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योगमार्ग की ओर झुके हुए थे। उनके कुल में और कुलगुरु-परम्परा में वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बाद में उनका समागम रामानन्द से हुआ। यह बात कुछ असम्भव नहीं कि रामानन्द के प्रभाव में आने के पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत से पद लिखे हों। जिनमें योग-सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्तिरस का लेश भी न हो।[21]

हमारा निवेदन है कि द्विवेदी जी का यह समाधान आश्वस्तिकर नहीं है। एक तो यह अनुमानाश्रित है, प्रमाणाधारित नहीं, दूसरे, प्रश्न योग के पदों और उनकी अक्खड़ता का नहीं है, प्रश्न है निर्गुण के प्रति प्रेमाभक्ति दिखाने का। तीसरे, योग के पदों और रामानन्द के प्रभाव में आने के बाद के पदों वाली बात भी एक तो कबीर के रामानन्द की शिष्यता में जाने और उनसे राम-नाम का मन्त्र पाने की लोकप्रचलित कथा से विरोध दिखता है और दूसरे, यह तर्क सूरदास के विषय में प्रचलित उस कथा के जुगाड़ करने जैसा है जिसके अनुसार सूरदास पहले निर्गुण भक्ति के पद लिखा करते थे किन्तु वल्लभाचार्य से भेंट होने पर उनके कहने से सगुण-पद लिखने लगे और अन्ततः यह भी कहाँ निश्चित है कि उनके कुल और कुलगुरु-परम्परा में कौन-सा मार्ग प्रतिष्ठित था? ऐसी स्थिति में द्विवेदी जी का यह मत हमें मान्य नहीं है।

डॉ. तिवारी ने इस समस्या का समाधान कुछ दूसरे ही प्रकार से किया है। उनका कथन है- ठीक है, किन्तु जिज्ञासा से तृप्ति होने पर अर्थात् सत्य के स्वरूप को अपनी अनुभूतियों से ग्रहण कर लेने पर क्या होगा? क्या हम उसके वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उस पर रीझ नहीं सकते? कबीर ने अपने उपास्य परमतत्व को पहचानने के बाद राग का आधार बनाया था। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भगवान् का तरण-तारण रूप तो तभी तक मान्य है, जब तक तत्वबोध नहीं होता। तत्त्वबोध होने पर तो सर्वत्र राम ही दिखलायी पड़ते हैं।[22]

डॉ. तिवारी इस कथन को स्पष्ट करते हुए यही यह भी कहते हैं कि इस प्रकार कबीर की भक्ति, मन की एक विशेष स्थिति मात्र है, जिसमें साध्य के स्वरूप को पहचान कर उसके प्रति मन को निरन्तर एकनिष्ठ निरत रखने की चेष्टा ही साधक

या भक्त का परम कर्त्तव्य है। इस स्थिति-विशेष को स्थायित्व देने के लिए किसी प्रत्यक्ष प्रतीक की आवश्यकता नहीं। बाह्य विधि-विधान भी इस स्वरूप-ज्ञान के लिए उपादेय नहीं है।[23]

तिवारी जी कबीर की इस ज्ञानमूलक भक्ति के स्वरूप-निर्माण में महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय तथा कश्मीर के शैव सम्प्रदाय दोनों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव भी मानते हैं और शैवमत के प्रभाव के समर्थन में पं. परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन उद्धृत करते हैं: इस प्रकार अद्वैतभाव में द्वैतभाव की कल्पना और निर्गुणभाव में सगुणभाव का काल्पनिक आरोप इस मत की विशेषता थी, जिसे आगे चलकर सन्तों ने भी किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया।[24]

वारकरी पन्थ भक्ति प्रधान है किन्तु ज्ञानमय अद्वैतवाद को स्वीकार करके चलता है। महाराष्ट्र-सन्त ज्ञानेश्वरकृत 'ज्ञानेश्वरी' इस सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान और भक्ति का अद्‌भुत समन्वय किया गया है। इस सम्प्रदाय में भक्ति साध्य भी है और साधन भी। इसी प्रकार परमात्मा यों तो व्यापक, निर्गुण तथा निराकार है पर वह सगुण-साकार भी है। सगुण-साधना के माध्यम से ही उस निर्गुण-स्वरूप के रहस्य को समझा जा सकता है। उसी के लिए नामस्मरण, भक्ति आदि की आवश्यकता है। उसी सगुणोपासना से क्योंकि परमात्मा के विषय में ज्ञान की प्राप्ति होती है अतएव इस सम्प्रदाय में भक्ति और ज्ञान में परस्पर कोई विरोध नहीं है। किन्तु इससे कबीरादि की निर्गुण भक्ति के प्रेमस्वरूप का तभी समर्थन किया जा सकता है जब उनकी सगुण-साकारोपासना को स्वीकृति मिले। अन्यथा निर्गुण के प्रति जिस विरह-विह्वलता तथा दाहकतापरक प्रीति का कबीर में दर्शन होता है, वह संदेह से परे नहीं सिद्ध होती। अष्टछापियों का पूरा भ्रमरगीत-प्रसंग उस निर्गुण-निराकार की भक्ति का ही तो निषेध करता है। कोई बहुत ही पहुँचा हुआ साधक हो तो और बात है कि वह कभी ऐसी विह्वलता का अनुभव करे। कबीर ऐसे हों भी तो सन्तों की इतनी बड़ी जमात में सभी वैसे नहीं रहे होंगे और यह क्रम, अन्य बहुत-सी बातों की तरह, रूढ़ि मात्र बन गया होगा।

सगुण-साकार से निर्गुण के प्रति प्रेमाभक्ति की दूरी को देखकर ही शुक्ल जी ने कबीर की निर्गुण भक्ति को विदेशी बताते हुए उसे सूफी-प्रभाव माना था। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी शुक्लजी के इस विचार को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए प्रश्न उपस्थित करते हैं: भक्ति एक रागात्मिका वृत्ति है जो साहचर्य अथवा रूप-दर्शन से ही प्रसूत होती है। निर्गुण ब्रह्म में दोनों ही संभव नहीं हैं। सर्वव्यापक होने से जो साहचर्य होता है,

वह निरर्थक है, क्योंकि ऐसा साहचर्य तो सभी के साथ है पर उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। रहा रूप-दर्शन, वह संभव ही नहीं है। सूफियों के यहाँ तो जगत् और जागतिक रूप प्रेम-जागरण के माध्यम मान लिये गये हैं, पर कबीर का दर्शन तो जगत् और जागतिक विषयों को त्याज्य तथा विराग-जनक मानता है। अतः सूफियों के यहाँ से लिया गया हो, कैसे संभव है?[25]

डॉ. त्रिपाठी की आपत्ति कुछ अर्थों में सही है, पर कबीर ने, हमारी समझ से, जो भी और जितना भी प्रभाव कहीं से ग्रहण किया है वह न तो सम्पूर्णता में गृहीत रहा होगा और न दार्शनिक विवेक के साथ ही लिया गया होगा। कबीर अपनी फक्कड़ दशा में अपने आस-पास फैली और सन्तों-साधुओं में प्रचलित उक्तियों और कथनों से जितना जो अपनी सहज गति में पाते रहे होंगे और जो उनकी भावुकता के अधिक अनुकूल पड़ता होगा, उस भाव या विचार को उन्होंने अपने काम का बना लिया होगा। अतएव सूफियों का निर्गुण प्रेम तो उनके साथ रहा शेष जैसे अन्य सम्प्रदायों का उनकी बुद्धि से छन कर बह गया, सूफियों के विचार के साथ भी वैसा ही हुआ। इसलिए कबीर में, और उसी तरह प्रायः अन्य सन्तों की वाणियों में, अनेक मतों की कुछ-न-कुछ बातें समाहृत दिख पड़ती हैं।

ये समाहृत बातें तात्कालिक ढंग से सूफियों से आयी हुई हो सकती हैं, किन्तु जैसा कि डॉ. ताराचन्द आदि विद्वानों का कथन है स्वयं सूफीमत अन्यान्य धर्म-मतों का समन्वय है, जिसमें जैसे कुरान-शरीफ, मुहम्मद साहब का जीवन, ईसाइयत और नव-अफलातूनीवाद का सम्मिलित प्रभाव है वैसे ही हिन्दू तथा बौद्ध धर्म से भी इसमें अनेक विचार ग्रहण किये गये हैं। उसमें प्राचीन फारसी धर्म से भी इसमें अनेक विचार ग्रहण किये गये हैं। उसमें प्राचीन फारसी धर्म का भी योगदान है।[26] अतएव घूम-फिर कर बात यहाँ पहुँचती है कि सूफियों के इस प्रभाव की भूमि भी वस्तुतः भारतीय ही है। भारतीय इसलिए कि सूफी-दर्शन में भारतीय औपनिषदिक दर्शन, अद्वैत वेदान्त और योग-साधना मिली-जुली है। योग-साधना में प्रेम-पद्धति का मिश्रण सूफियों का अपना है। सन्तों में वह प्रेमाभक्ति उनके अपने ही कथनों के अनुसार नारदी तो है पर निर्गुण के प्रति निवेदित होने के कारण सूफीवाद से प्रभावित है।

डॉ. आशा गुप्ता ने निर्गुण के प्रति प्रेमाभक्ति को सूफीमत के प्रभाव के रूप में न देखकर उसका दूसरा ही समाधान उपस्थित किया है। निर्गुण के एक तत्व उसके व्यापकत्व का उल्लेख कर देने के बाद वे अनुभूति के माध्यम से उसके साक्षात्कार को दूसरे तत्व के रूप में प्रस्तुत करती हैं और उसके लिए उपनिषदों के कथनों का

प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करती हैं और उस निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अथवा उसके दर्शन हेतु मुख्यत: आत्मसमर्पण पर और उसके अतिरिक्त क्रमश: रूढ़ियों के प्रति अविश्वास, गुरु का महत्त्व तथा नामस्मरण पर बल देती हुई निष्कर्ष रूप में कहती हैं :-

'उपर्युक्त सभी तत्वों का निष्कर्ष यह है कि निर्गुण विचारधारा को मानने वाला साधक पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी होकर अग्रसर होता है। अन्तिम स्थिति पर ब्रह्मानन्द को पा लेने के अनन्तर अभिव्यक्ति का रूप देने के लिए उसे किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। वह उसे प्रतीकों के द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है। प्रतीक साकार स्थूल न लेकर अपेक्षाकृत सूक्ष्म लिया जाता है। जैसे, पुष्प की गंध, या पत्नी का पति के प्रति प्रेम, या बादल में बिजली की कौंध, या अग्नि की ऊष्मता आदि।'[27]

दूसरी ओर अन्यत्र पूर्वोक्त सूफी प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी पं. परशुराम चतुर्वेदी सन्त-साहित्य की परख पुस्तक में इन सन्तों को 'ज्ञानाश्रयी' की अपेक्षा 'अनुभवाश्रयी' कहना अधिक उचित मानते हैं और दक्षिण के आडवार वैष्णव और नायनमार वैष्णव भक्तों तथा बौद्धसिद्धों और जैन मुनियों के कथनों के उदाहरण देकर उन सबकी रचनाओं के अन्तर्गत वर्ण्य-विषय और कभी-कभी वर्णन-शैली की समानता को लक्षित कराते हुए इनकी सर्वातिशायी, निरपेक्ष और अन्तर्यामी परमेश्वर के प्रति 'भाव भगति' और 'प्रेमाभक्ति' को भी रेखांकित करते हैं।[28] इस पक्ष के उद्घाटन में उन्होंने श्री गोविन्दाचार्य का यह कथन भी उद्धृत किया है:- 'इन द्रविड़ सन्तों- शैवों तथा वैष्णवों दोनों के ज्ञान एवं सहजबोध की अपूर्वता इस बात में लक्षित होती है कि वह इनकी सर्वातिशायी, निरपेक्ष, अन्तर्यामी और आत्मीय व्यक्ति भी मानते हुए काम करती है। ऐसे परमेश्वर को ये लोग 'भाव-भगति' और प्रेमाभक्ति के द्वारा उपलब्ध भी करना चाहते हैं।[29]

सारांश यह कि हिन्दी निर्गुण भक्ति साहित्य में कबीर के पूर्व से चली आई तथा उनकी समकालिक प्रचलित अनेक साधना-धाराओं का समावेश हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सन्तों की अपनी कही जा सकने वाली कोई विचारणा ही नहीं है, जो कुछ है सब दूसरों से प्राप्त, ली हुई, खिचड़ी है। उन्होंने अपने अनुभव-ज्ञान से जिस सत्य को प्राप्त किया, जिसे सही समझा और जो खरा लगा, उसे उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ कहा। इसमें दूसरों का मेल भी कहीं-कहीं बैठता चला तो उन्होंने उससे परहेज नहीं किया। आखिर वे एक सर्वानुमत मार्ग निकालना भी तो चाहते थे। इसी स्वानुभव और आत्म-साक्षात्कार के कारण इन सन्तों के भी अनेक मतवाद चल निकले जिनमें परस्पर कुछ-न-कुछ भेद होता चला गया। उदाहरण के लिए सन्त शिवनारायण

की भक्ति प्रीतिमूलक थी, किन्तु उसमें कान्ताभाव के साथ-साथ दास्य-भाव भी सम्मिलित हो गया। इसी प्रकार वे एक और प्रब्रह्म को अपना साध्य मानते हैं, दूसरी और उसके अवतारों को भी स्वीकार करते हैं।[30] इसी प्रकार सांईदाता सम्प्रदाय की प्रेम-साधना में सूफी प्रेम-साधना का रंग कुछ अधिक गाढ़ा है। डॉ. राधिकाप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार अन्य सन्त कवियों पर सूफी प्रभाव सामान्यतः विरहानुभूति की तीव्रता के रूप में देखा जाता है जबकि आलोच्य की साधना मे मिलनोपरान्त वियोग की स्थिति आती ही नहीं। वहाँ विरह की स्थिति पूर्वराग-दशा में भी कम ही दिखायी पड़ती है।[31]

अन्त में इतना और कि निर्गुण भक्ति-साधना के अन्तर्गत वैधी और रागानुगा भक्ति के अनेक भेदोपभेद आदि का निरुपण भी विद्वानों ने विस्तार से अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। वह भी पठनीय है और इस शीर्षक के अन्तर्गत ही उसका भी विचार किया जाना चाहिए। किन्तु हम यहां उसकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। हमारा लक्ष्य केवल भक्ति-साधना से जुड़ी मूल समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना रहा है। सजग पाठक अनेक मतभेदों के बीच से अपने विवेक के अनुसार अपना मार्ग स्वयं निश्चित करेंगे।

संदर्भ सूची :-

(1) हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ. 52, (2) वही, पृ. 53, (3) वही, (4) वही, पृ. 52, (5) वही, पृ. 53,-54, (6) वही, पृ. 53, (7) वही, पृ. 54, (8) वही, पृ. 55, (9) सन्त-साहित्य, पृ. 223, (10) वही, पृ. 133, (11) वही, पृ. 223, (12) हि.सा. का इ. पृ. 60, (13) मध्ययुगीन काव्य-साधना, पृ. 40, (14) भक्ति का विकास, पृ. 425, (15) वही, पृ. 428, (16) वही, पृ. 430, (17) हि.सा.का.इ. पृ. 66, (18) म.का.सा., पृ. 55, (19) वही, पृ. 56-57, (20) वही, पृ. 64, (21) कबीर, पृ. 151, (22) शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य, पृ. 20, (23) वही, पृ. 21, (24) वही, पृ. 25, (25) आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका, पृ. 257, (26) इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ. 63-64, (27) सगुण एवं निर्गुण हिन्दी-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 12-14, (28) सन्त-साहित्य की परख, पृ. 9-10, (29) ए मेटाफिजिन्द ऑफ मिस्टिसिज्म-गोविन्दाचार्य (मैसूर), 1923, पृ. 423, (30) शिव स. और उसका सा. ह. 218-220, (31) सांईदाता सम्प्रदाय और उसका साहित्य, पृ. 58 (भूमिका)।

'कलापी', 162/5 ब-1 स
डी.पी. रोड़, औंध, पुणे - 411007 (महाराष्ट्र)

□□

राजस्थान के सन्त-साहित्य में मूल्यबोध

— स्वामी (डॉ.) ओम् आनन्द सरस्वती

1. **प्रस्तावना :**

राजस्थान के सन्त-साहित्य में मूल्यों के प्रति सजगता का बोध बहुआयामी है। वस्तुत: राजस्थान के सन्तों ने युगबोध और समय की आवश्यकता के अनुसार प्राचीन मूल्यों का समर्थन, परिष्करण अथवा पुनर्प्रतिष्ठापन तो किया ही, साथ ही नए मूल्यों को सम्प्रेषित करने में भी वे हिचकिचाए नहीं।

यह निर्विवादत: स्वीकार किया जाता है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात् मूल्यों के विघटन की व्यापक पृष्ठभूमि तैयार हुई, सिकन्दर के आक्रमण के बाद इस विघटन-प्रक्रिया में थोड़ी तेजी आई और इस्लाम की प्रतिष्ठा के साथ ही सन्तों ने विघटन के खिलाफ बाँध बाँधना शुरू कर दिया। इसमें राजस्थान के सन्त-साहित्य का भी अप्रतिम साथ है।

राजस्थान के सन्त-साहित्य का निर्माण प्राय: ऐसे साधुओं ने किया, जो बहुश्रुत और अनुभव-सम्पन्न रहे हैं। इसीलिए उनका मूल्यबोध सार्वदेशिक हो गया है।

2. **कतिपय प्रतिपत्तियाँ :**

मूल्यबोध से सम्बन्धित कई बातें ऐसी हैं, जिनके विश्लेषण या विवेचन का इस संक्षिप्त आलेख में अवकाश नहीं है। उन्हें स्वयंसिद्ध प्रतिपत्ति मानकर चलाया गया है, यथा :

(i) हिन्दी में 'सन्त' शब्द को कुछ समीक्षक निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों के लिए रूढ़ मानते हैं, किन्तु प्रस्तुत आलेख में ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी सूफी, सगुण भक्ति के राम अथवा कृष्ण काव्यधारा के भक्त आदि के लिए 'सन्त' शब्द व्यापकार्थ में प्रयुक्त है।

(ii) राजस्थान के जैन-मुनियों से लेकर विभिन्न सम्प्रदायों के सभी भक्तों को यहाँ

'सन्त' स्वीकारा गया है, चाहे वे जैन-साधक हों, क्षत्रिय हों, चारण हों, मुसलमान हों या अन्य।

(iii) किसी कालविशेष का ध्यान न रखकर राजस्थान की गत एक हजार वर्ष की सन्त-परम्परा को परिदृश्य में रखा गया है, चाहे वह आदिकाल (1045-1560) का दलपतजैन हो, पूर्व मध्यकाल (1560-1700) का माधौदास अथवा रज्जब हो, उत्तर मध्यकाल (1700-1900) का नागरीदास या हितवृन्दावनदास हो, या आधुनिक काल (1900-2050) का दाता महाराज या प्रतापकुँवरि हो।

(iv) यहाँ दादू जैसे नर-सन्त अथवा गवरीबाई जैसी नारी-सन्त सभी को 'सन्त' शब्द से अभिहित किया गया है।

3. 'मूल्य' और मूल्यबोध :

'मूल्य' एक धारणा है, जिसका सम्बन्ध केवल मानव से है। वस्तुतः मूल्य ही विचार की वह इकाई है, जिसको आधार बनाकर मानव अपना जीवन जी सकता है और उस जीने को सार्थक बना सकता है। इसलिए मनुष्य और उसकी संवेदनाओं के बिना 'मूल्य' की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मनुष्य में 'मूल्य' का 'बोध' होना, या मूल्य की चेतना का जागृत होना, अथवा मूल्य का एहसास होना ही 'मूल्यबोध' है। वैसे तो मूल्यबोध वैयक्तिक प्रतीति है, याने वह व्यक्ति के मन में परितोष, आनन्द, आपूर्ति, प्रेरणा, विवेक और सार्थकता की अनुभूति या संवेदना जागृत करने में सहायक होती है, किन्तु व्यक्ति से व्यक्ति तक होती हुई यह व्यष्टि-प्रतीति ही समष्टि या 'समग्र' में विद्युत्-तरंगों की तरह उर्जा प्रदान करती रहती है। इस अर्थ में मूल्यबोध सामाजिक सन्दर्भ से भी सम्बद्ध हो जाता है।

4. प्रासंगिकता :

राजस्थान के सन्त-साहित्य में समर्थित मूल्यों की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाना उचित नहीं है। संतों का मूल्यबोध आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना वह उनके समय में था, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर कहना चाहिए कि सन्त-साहित्य के अधिकांश मूल्य आज के चरित्र-संकट और अन्तर्विरोधों के युग में और अधिक समीचीन लगते हैं।

उदाहरण के लिए सन्त-मीराँ को लेवें, इसमें अति प्राचीनकाल का यजुर्वेद का 'भद्र भाव' या गीता का 'निष्काम' भाव जहाँ मिलता है, वहाँ आधुनिक युग के अनेक

मूल्य दृष्टिगत किए जा सकते हैं। एक ओर राजा राममोहन राय द्वारा निषेधित 'सती-प्रथा' की उदात्त भूमिका उसमें प्राप्त है, तो दूसरी ओर महर्षि दयानन्द द्वारा निर्देशित आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य का उसमें प्रतिष्ठापन मिलता है। एक ओर उसमें स्वामी विवेकानन्द का 'कर्मयोग' और श्री अरविन्द का 'समत्वयोग' का संचरण मिलता है, तो दूसरी ओर महात्मा गांधी के 'सादा जीवन और उच्च विचार' जैसा जीवनदर्शन भी उसमें उपलब्ध है। एक ओर जहर के प्याले को पीने की उसकी अभिव्यक्ति मृत्युबोध को साकार करती है, तो दूसरी ओर राजनीतिज्ञ शासकों को अशिव रूपी जहर सम्प्रेषित न करने का संकेत करती है। मीराँ ने जनतांत्रिक और लोकमानसिकता की नाड़ी भी वर्षों पूर्व ही पहचान ली थी। सत्संग जैसे श्रेष्ठ भाव को स्वीकारने और पर्दा-प्रथा जैसी बुराई को त्यागने का सन्देश भी उसने युगों-पूर्व दे दिया था। नारी-जागृति और नारी-गौरव आज विश्व की प्रमुख सोच बनी हुई है। मीराँ ने नारी की सामाजिक चेतना से सम्बद्ध कई मूल्यबोध पहले ही सम्प्रेषित कर दिए थे।

5. अध्यात्मवादी मूल्यबोध :

प्राय: सभी सन्त ऊर्ध्वमुखी चेतना से सम्पृक्त रहे हैं। राजस्थान के सन्त-साहित्य में भी ऊर्ध्वगामी याने अध्यात्मवादी स्वरों की प्रखरता है। प्राय: सभी सन्तों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, रहस्यानुभूति, असारता आदि के सम्बन्ध में एक जैसे विचार अभिव्यक्ति किए हैं। ब्रह्म या ईश्वर के सम्बन्ध में उनका मूल्यबोध उसकी सर्वव्यापकता और अखण्डता से सम्बद्ध है। परमशक्ति तो एक ही है, फिर उसे हिन्दू और मुसलमानों ने अलग-अलग क्यों बाँट रखा है? सन्त दादू ने तो स्पष्ट कहा है :-

"हिन्दू तुरक न जाणौं दोइ।
साँई सबिनि का सोई है रे और न दूजा देखौ कोई।"

इसी तरह जीव या जीवात्मा को ब्रह्म का ही एक रूप माना गया है। राजस्थान के सन्तों ने कर्मों का फल भोगने वाले आत्म को जीव बतलाया है। जीव में भाव बड़ा उग्र होता है। 'स्व' से 'समग्र' की ओर प्रयाण अथवा 'स्व' और 'समग्र' का योग ही अस्तित्व की विराटता के अनुभव का कारण बनता है।

जगत् को मिथ्या बताकर सन्त-साहित्य में इसे सराय के समान कहा गया है। उदयपुर अंचल के सरदारगढ़ की सन्त भूरीबाई ने "जतरो कुछ देखाय है, यो सब है नाहिं" कहकर जगत् की असारता का संकेत किया है। इसीलिए 'इन्फ्लूएंट सोसायटी'

के अमेरिकन नागरिक या तो 'हरे रामा हरे कृष्णा' की संगत में या भारत के साधुओं के सानिध्य में भौतिक समृद्धि की 'एण्टी-क्लाइमेक्स' करते हैं।

माया का दार्शनिक विवेचन वेदान्तियों ने कुछ भी किया हो, किन्तु राजस्थान के सन्त-साहित्य में ब्रह्म या सत्य पर आवरण डालने वाली वस्तु का नाम माया है। सन्त रज्जब ने तो स्पष्ट कहा है :-

"माया बाध्यूं मन वधै
खोल्यूं खुलता जाइ।"

सन्तदादू ने भी कहा है कि 'माया मोह न बंधियै, तजियै संसारा।' मेवात के सन्तचरणदास ने 'साधो भरमा यह संसारा' कहकर संसार को भ्रमपूर्ण माना है। मूल्यबोध यह है कि संसार में अधिक रूचि लेने से माया घेर लेती है, और फिर ईमानदार, बेईमान, न्यायी, अन्यायी, सद् असत्, शाह चोर बनते चले जाते हैं।

6. वैराग्यवादी मूल्यबोध :

सन्त-साहित्य की आधार-भूमि वैराग्य है। इसलिए देह की नश्वरता, अहंकार, सम्पत्ति की व्यर्थता, नारी की निन्दा आदि के स्वर इस साहित्य में प्राप्त होते हैं।

सन्तजसनाथ ने क्षण-भंगुर जीवन में मोह छोड़ने की बात कही है। वस्तुतः देह या जीवन की नश्वरता का यदि हमें बोध होता रहे तो अनेक दुष्कर्मों से हम बच सकते हैं। इसी तरह मानवीय अस्तित्व का सबसे बड़ा बन्धन स्व-मोह है। 'स्व' की गहराई में जाकर 'अहम्' बनता है और यही 'अहंकार' मनुष्य का सबसे बड़ा बन्धन है। इसे छोड़ने का बोध सन्तों को है।

सम्पत्ति की व्यर्थता से यह आशय निकलता है कि सम्पत्ति से भयंकर रूप से जुड़ जाने के कारण वर्ग-विषमता, शोषण, विलासिता जैसे दोष समाज में फैलते हैं।

नारी के सम्बन्ध में सन्तों के विचार अनेक लोगों को उचित नहीं लगते। सन्त दादू के शिष्य छोटे सुन्दरदास ने कहा है- **'सुन्दर कहत नारी नरक को कुण्ड यह।'** वस्तुतः नारी-निन्दा जैसे मूल्यबोध को भी हमने गलत परिप्रेक्ष्य में समझा है। सन्तों का तात्पर्य यह है कि नारी के प्रति अत्यधिक लगाव से अनेक परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं। अतः हमें मर्यादा और संयम अपनाने चाहिए।

सन्तों के वैराग्यवादी मूल्य जीवन-विमुख करने वाले नहीं हैं, बल्कि सच्चा और

अच्छा जीवन जीने की प्रेरणा देनेवाला बोध है। जाम्भोजी ने मानव-जीवन को अमूल्य माना है, इसीलिए इसे क्षणिक सुखों के पीछे न गंवाकर इसको सार्थक बनाना चाहिए।

7. आस्थावादी मूल्यबोध :

आज के युग में आस्था और संकल्प का भयंकर अकाल पड़ गया है। संत-साहित्य में गुरु-कृपा, आस्था, भक्ति, उपासना, आत्मसंतोष, प्रेम-स्नेह जैसे आस्थावादी मूल्यों का समर्थन किया गया है। सन्तरज्जब के शब्दों में कहें तो 'प्रेम प्रीत हित नेह को, रज्जब दुविधा नाहिं।' राजस्थान के सन्त-साहित्य में प्रेम आदि को उदात्त भाव के स्तर पर ग्रहण किया है। एकनिष्ठता जैसा आस्थावादी मूल्य मीराँ के 'गिरधर रंग राची' या 'दूसरो न कोई' जैसे अनेक पदों में प्राप्त होता है। आज के सन्दर्भ में कुछ लोग इसे महत्त्वहीन भले ही कह दें, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में 'दल-बदलुओं' के और सामाजिक क्षेत्र में तलाक की अदालती अर्जी देनेवालों के परिप्रेक्ष्य में भी इस मूल्य की प्रासंगिकता नहीं देखनी चाहिए क्या?

8. सुधारवादी मूल्यबोध :

सुधार के लिए यह आवश्यक है कि जिसे सुधारना हो, उसकी निन्दा या भर्त्सना की जाए। इसलिए राजस्थान के सन्त-साहित्य में अनेक बाह्य आचारों, मूर्तिपूजा, तथ्यहीन तीर्थाटन, मिथ्या आडम्बर, जाति-पांति की व्यर्थता, कपट आदि की खुलकर आलोचना प्राप्त होती है। सन्त दादू ने स्पष्ट कहा है :

"दादू जिन कांकर पत्थर सेविया,
सो अपना मूल गंवाइ।"

जाति-पाँति के उन्मूलन में भी राजस्थान के सन्त-साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सन्तों ने जिस प्रकार नीची जातियों को भक्ति का अधिकार दिया, उसी प्रकार समाज भी इस मूल्यबोध के प्रति सजग रहता तो आज 'आरक्षण' के पक्ष-विपक्ष में लोगबाग यों न झुलसते।

इसी तरह कथनी और करनी का आज जो स्वरूप दृष्टिगत होता है, उसके सुधार की ओर भी संतों ने संकेत दिए हैं। मन, वचन और कर्म की समानता पर बल देते हुए बाबा रामदेव कहते हैं :-'करतूत काचा, विमल वाचा, कैसी तिरणी वै तिरै।'

सामाजिक और धार्मिक जीवन में बनावटीपन को सुधारने के लिए संत-साहित्य में अनेक मूल्यबोध प्राप्त हैं।

9. उपदेशवादी मूल्यबोध :

जिसप्रकार सुधार के लिए कटु आलोचना या डाँट-फटकार की आवश्यकता होती है, उसीप्रकार किसी मूल्य के बोधात्मक प्रचार-प्रसार के लिए उपदेश भी जरूरी होता है। राजस्थान के सन्त-साहित्य में लोककल्याण के लिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, असूया, ब्रह्मचर्य, श्रम, परोपकार, सत्संग, सर्वधर्म-समभाव आदि के उपदेश प्राप्त होते हैं।

सत्य एक सनातन मूल्य है। सत्य का व्यवहार करने से स्वार्थ और परमार्थ दोनों में ही सफलता प्राप्त होती है। मनुष्य के अन्तर्निहित सत्य को देखने की तीन विधियाँ मानी गई हैं : कर्म, ज्ञान और भक्ति। ये तीनों विधियाँ साधन ही हैं, साध्य नहीं। ये शरीर, बुद्धि व मन की स्थितियाँ मात्र हैं। जब मन मर जाता है, याने चेतना अन्मन हो जाती है, तब जो शेष रहता है वही सत्य है, वही अस्तित्व है, वही अमृत है। इसलिए सन्त-साहित्य में सत्य जैसे मूल्य पर बहुत जोर दिया गया है।

सत्य के स्तर पर अनिन्दा को अपनाना और दूसरे की आलोचना सुनना आज बड़ा कठिन हो गया है। सन्तदादू ने तो कहा है कि "निन्दक का हमें उपकार मानना चाहिए। परमात्मा उसे दीर्घायु करे, क्योंकि वह परोपकारी होता है और स्वयं मैला होकर हमें उजला करता है।" पर आज इस मूल्य का बोध साधारण समिति, पंचायत या नगरपालिका से लेकर विधानसभा या संसद तक कितना है? यह समाचार पत्रों के दैनिक पाठक खूब जानते हैं।

सन्तपीपा ने सदाचार जैसे मूल्य पर बहुत उपदेशात्मक उक्तियाँ कही हैं। सन्त रामदेव ने पुरुषार्थ को महत्त्व देकर अकर्मण्यता का विरोध किया है। सन्त सहजोबाई ने जीवन में आत्मसंतोष अपनाने पर जोर दिया है। सन्त जम्भोजी मानते हैं कि अहंकार को जब तक नष्ट नहीं किया जाएगा, तब तक जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं होगी। सामाजिक दृष्टि से स्त्री के पतिव्रत-धर्म का बड़ा महत्त्व माना गया है :-

"पतिव्रता के एक है, दूजा नाहीं आन।
विभिचारणि के दोइ हैं, पर घर एक समान।।"

– (सन्त दादू)

सत्संग जैसे मूल्य का बोध प्रायः हर सन्त को है। आज टी.वी. और उसके कई तरह के भाइयों के सत्संग (?) से नई पौध रूपी पीढ़ी का जो हाल हो रहा है, उससे कौन प्रबुद्ध परिचित नहीं है?

10. समन्वयवादी मूल्यबोध :

समन्वय एक ऐसा दर्शन है, जहाँ भेदभाव के कुटिल कांटों का शमन किया जा सकता है। राजस्थान के सन्त-साहित्य में यह मूल्यबोध ऊँच-नीच, जाति-पाँति, हिन्दू-मुस्लिम, सगुण-निर्गुण, गरीब-अमीर, राम-रहीम, ज्ञान-कर्म, भूप-रंक आदि के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि में देखा जा सकता है। संतलालदास ने इस दृष्टि पर बहुत जोर दिया है :

"लाल जी ऊँच-नीच हर के नहीं, हर प्रीत नाव सुं पाय।
सबरी जात की भीलनी, फल झूठे खाय आय।"

संत सहजोबाई ने 'सहजो दृष्टि न आवई, कहा रंक कहा भूप' कहकर समन्वय को ही अपनाया है। इसी तरह ज्ञान और कर्म का समन्वय न कर पाने के कारण आज आदमी के एक चेहरे के भीतर न जाने कितने चेहरे छुपे हुए मिलते हैं।

राजस्थान के सन्त-साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा राम-रहीम का समन्वय भी विश्व के इतिहास में अपने ढंग का अनूठा है। पिछली पाँच शताब्दियों तक इस प्रदेश के मुसलमान और हिन्दू जिस तरह हिल-मिल कर रह सके, वह इस प्रदेश के सन्त-साहित्य की ही देन है।

11. निष्कर्ष :

राजस्थान के सन्त-साहित्य का मूल्यबोध मानवतावादी है। मानवतावाद के तीन तत्त्व प्रमुख कहे जा सकते हैं :-स्वतंत्रता, समानता और विश्वबन्धुत्व। सन्त-साहित्य में इन तीनों का समर्थन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए समानता में अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान के जैन साधुओं, साध्वियों, यतियों, मुनियों आदि के साहित्य में अहिंसा का प्रखर मूल्यबोध मिलता है। युग ने उसे भुलाने की चेष्टा की तो आज पंजाब में ही नहीं, बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में भी निरपराध लोगों को हिंसा के रक्त में नहलाया जा रहा है। इसी तरह राजस्थान के सन्त-साहित्य में सकाम भक्ति को निम्न स्तर का माना गया है। वहाँ निष्काम भाव प्रमुख है।

राजस्थान के सन्त-साहित्य का केन्द्रीय मूल्यबोध शील और सदाचार पर टिका है। अक्खड़-फक्कड़ और मनमौजी सन्तों ने भारतीय मनीषा का सारतत्त्व हमें प्रदान

किया है। किन्तु, जीवन में इसे आचरित करना उतना ही कठिन है, जितना सन्त ईसरदास ने कहा है :-

"केहरी केस, भभंग मणि, सरणाई सुहडांह।
सती पयोहर, क्रिपण धन, पड़सी हाथ मुवांह॥"

सन्दर्भ :

1. जाम्भोजी की सबदवाणी- डॉ. हीरालाल माहेश्वरी।
2. हरिरस (बारहठ ईसरदास)- आचार्य बदरी प्रसाद साकरिया।
3. बाबा रामदेव- डॉ. सोनाराम विश्नोई।
4. लालदासजी की वाणी- डॉ. रामपत यादव।
5. महात्मा भूरीबाई- लक्ष्मीलाल जोशी।
6. दयाबाई की बानी- वेलवेडियर प्रेस।
7. सुन्दर-ग्रंथावली- पुरोहित हरिनारायण शर्मा।
8. सन्त सुधासार (बृहत्)- वियोगी हरि।
9. मीरां-बृहत्पदावली (भाग-2)- डॉ. कल्याण सिंह शेखावत।
10. राजस्थानी संत-साहित्य- डॉ. पुरुषोत्तमलाल मेनारिया।
11. सन्त-काव्य- परशुराम चतुर्वेदी।
12. हरिदास वाणी- मंगलदास स्वामी।
13. दादू की वाणी- मंगलदास स्वामी।
14. सिद्ध चरित्र- सूर्यशंकर पारीक।
15. नागरीदास ग्रंथावली- फैयाज अली खां।
16. राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोकदेवता- डॉ. दिनेशचन्द्र शुक्ल।
17. रज्जबजी की वाणी- ज्ञानसागर प्रेस।

मैनेजिंग ट्रस्टी, ग्राम सेवा आश्रम न्यास
पद्मिनी आर्य कन्या गुरुकुल, प्रतापनगर, चित्तौड़गढ़

❑❑

राजस्थान के प्रमुख लोकदेवता

— डॉ. सर्वेश कुमार शर्मा

मध्यकालीन साँस्कृतिक संक्रमण काल में अनेक महापुरूषों ने धर्मरक्षण और समाज कल्याण में महती भूमिका का निर्वहन किया। इनके अप्रतिम योगदान के समक्ष श्रद्धावनत जनमानस ने इन्हें देवतुल्य पूज्यत्व एवं श्रद्धा प्रदान करके युग-युगान्तर तक इनकी स्मृति एवं इनके सिद्धान्तों-कार्यों के प्रति अपनी आस्था को अक्षुण्ण बना दिया।

राजस्थान के संदर्भ में ऐसे लोकदेवताओं के संबंध में एक उक्ति प्रचलित है :-

''पाबू हड़बू रामदे मांगलिया मेहा।
पांचू पीर पधारज्यों गोगादे जेहा॥''

उपर्युक्त प्रमुख लोकदेवताओं के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में अनेक प्रकार से विवरण प्राप्त होते हैं :-

गोगाजी :

गोगाजी के माता-पिता का नाम वाछल एवं जेवर था।[1] इनके पिता वर्तमान में चूरू जिले में ददेरवा के शासक थे।[2] गोगाजी का समय गोरखनाथ के समकालीन अर्थात् 10वीं शती ई. में माना जाता है।[3]

गोगाजी के मौसेरे भाइयों अर्जन-सुर्जन ने सम्पत्ति विवादवश मुसलमानों की मदद से इनकी गायों को घेर लिया। प्रतिरोध स्वरूप भयंकर युद्ध के अन्तर्गत अर्जन-सुर्जन के साथ गोगाजी भी वीरगति को प्राप्त हुए और पत्नी मेनल सती हो गई।[4]

गोगाजी की स्मृति में भाद्रपद कृष्णा नवमीं (गोगा नवमीं)[5] को गोगामेड़ी में (श्री गंगानगर) में उत्सव मनाया जाता है। गोरक्षण के लिए प्राणों की आहुति देने वाले गोगाजी की सर्प के प्रतीकरूप में पूजा की जाती है।

इनका पाषाणोत्कीर्ण सर्प मूर्तियुक्त स्थान प्रायः ग्रामों में खेजड़ी के वृक्ष के नीचे होता है। मारवाड़ में कहावत भी है कि :-

"गाँव-गाँव खेजड़ी ने
गाँव-गाँव गो-गो।" 6

बहुप्रचलित विश्वासानुसार इनकी शरण लेने पर सर्प ग्रसित व्यक्ति पर विष का प्रभाव नहीं पड़ता। यह भी मान्यता है कि जाहरपीर कहकर गोगाजी की पूजा करने से सर्पदंश का विष प्रभावहीन हो जाता है।[7]

गोगामेड़ी में लगने वाले मेले में हिन्दू-मुस्लिम श्रद्धालु क्रमशः नागराज और गोगापीर के रूप में इनकी पूजा करते हैं। इनको खीर-लापसी और चूरमा का भोग चढ़ाया जाता है।[8]

तेजाजी :

तेजाजी का जन्म माघ शुक्ल चतुदर्शी 1074 ई. को खड़नाल (नागौर) ताहड़जी-रामकुँवरी के यहाँ हुआ था। गोगाजी की भाँति इन्होंने भी अपना जीवन गोरक्षा में समर्पित कर दिया। मेर लोगों से लाछागूजरी की गायें छुड़ाने के समय वे अत्यधिक घायल हो गये। उपरान्त सर्पदंश के कारण सुरसरा (किशनगढ़) में इनका स्वर्गवास हुआ तथा इनकी पत्नी पेमल इनके साथ सती हो गई।[9]

इनकी निधन तिथी भाद्रपद शुक्ल दशमी के अवसर पर पञ्चमी से पूर्णिमा तक पर्बतसर (नागौर) में विशाल पशु मेला लगता है। तेजाजी भी गोगाजी की तरह नागों के देवता के रूप में पूज्य हैं।[10] इनके विषय में मान्यता है कि यदि सर्पदंशित व्यक्ति के दायें पैर में तेजाजी की ताँत (डोरी) बाँध दी जाय तो विष अपना प्रभाव नहीं डालता।[11]

पाबूजी :

पाबूजी का जन्म 1239 ई. में धाँधल जी राठौड़ के यहाँ हुआ था।[12] ये बचपन से ही अत्यन्त पराक्रमी थे। इनका विवाह अमरकोट के सूरजमल सोढ़ा की कन्या के साथ हुआ था। विवाह के तुरन्त बाद ही इनके प्रतिद्वन्दी बहनोई जायल (नागौर) नरेश जींदराव खींची ने पूर्व वैर के कारण[13] देवल चारणी की गायों को घेर लिया। देवल की प्रार्थना पर घोर संघर्ष में 1276 ई. में पाबूजी ने वीरगति प्राप्त की तथा इनकी सोढ़ीरानी सती हो गई।[14]

इनके मुख्य स्थान कोलू (फलौदी) में प्रति वर्ष मेला लगता है।[15] इनकी ऊँटों के देवता के रूप में पूजा की जाती है।[16] विश्वास किया जाता है कि मनौती से ऊँटों की बीमारी दूर हो जाती है। उनके स्वस्थ होने पर भोपे-भोपियों द्वारा 'पाबूजी की पड़' गायी जाती है।[17] ये वीर ही नहीं अपितु अछूतोद्धारक भी थे। इन्होंने थोरी जाति के सात भाइयों को शरण देने के साथ-साथ प्रधान सरदारों में स्थान देकर उठने-बैठने और खाने-पीने में भी अपने साथ रखा।[18] धाँधल राठौड़ों के अलावा[19] थोरी ही आज उनके प्रमुख अनुयायी हैं। जो "पाबूजी के पड़" गाने के अतिरिक्त सारंगी पर इनका यशगान करते हैं।[20] किंवदन्ती के अनुसार पाबूजी भक्तों को भविष्य की घटनाओं से अवगत कराने के साथ परदेश में विपत्ति पड़ने पर सुरक्षा प्रदान करते हैं।[21] इन्हें लक्ष्मण जी का अवतार माना जाता है।[22]

रामदेवजी (1352 से 85 ई.) :

बाबा रामदेव जी का जन्म तँवरवंशीय अजमालजी एवं मेणादे के यहाँ हुआ था।[23] बचपन में ही पराक्रम का परिचय देते हुए इन्होंने पोकरण में भैरव नामक क्रूर व्यक्ति का दमन कर अराजकता तथा आंतक को खत्म किया।[24] इनका विवाह अमरकोट के दलजी सोढ़ा की कन्या नेतलदे से हुआ था।[25] कालान्तर में अपनी भतीजी को दहेज में भेंट कर देने पर इन्होंने रामदेवरा (रूणेचा) गाँव बसाया और वहीं भाद्रपद शुक्ल एकादशी 1458 ई. को जीवित समाधि ले ली।[26] इनके मुख्य स्थान रामदेवरा में प्रतिवर्ष भाद्रपद मास में प्रदेश का सबसे विशाल मेला आयोजित होता है।

हिन्दू जहाँ इन्हें श्री कृष्ण का अवतार मानकर आराधना करते हैं, वहीं मुसलमान "रामसा पीर" के रूप में पूजते हैं। मेले के दिनो लाखों श्रद्धालु चूरमा-मिठाई, दूध, नारियल और धूप का प्रसाद चढ़ाते हैं।[27]

रामदेवजी वीर होने के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे। इन्होंने मूर्तिपूजा[28] और तीर्थयात्रा[29] में अनास्था प्रकट करने के साथ-साथ जाति-प्रथा का भी कड़ा विरोध किया।[30]

रामदेवजी के प्रतीक चिन्ह के रूप में गाँवों में प्रायः किसी वृक्ष के नीचे चबूतरे पर खुले ताक में 'पगलिये' (चरण चिन्ह) किये हुए मिलते हैं। वृक्ष पर उनके 'पगलियों' से युक्त श्वेत ध्वजा फहलाई जाती है। यह पूजा स्थल 'थान' कहलाता है। रामदेव जी का फूल लोग गले में पहनते हैं।[31]

हड़बूजी :

हड़बूजी मूडैल (नागौर) के महाराज साँखला के पुत्र और राव जोधाजी (जोधपुर) के समकालीन थे।[32] पिता के निधनोपरान्त वे हरमजमाल (फलौदी) में रहने लगे। यहाँ रामदेवजी की प्रेरणा से इन्होंने अस्त्र-शस्त्र त्यागकर उनके गुरु बालीनाथजी से दीक्षा ग्रहण की।[33] अनुश्रुति के अनुसार राव जोधा को मेवाड़ के अधिकार से मण्डौर को मुक्त कराने के प्रयासों के समय इन्होंने आशीष के साथ-साथ एक कटार भी दी थी। तदुपरान्त कृतकार्य होने पर जोधाजी ने हड़बूजी को बैंगटी गाँव अर्पण कर अपनी भक्ति एवं कृतज्ञता ज्ञापित की।[34]

इन्हें बहुत बड़ा शकुनी वचन सिद्ध और चमत्कारी महापुरुष माना जाता था।[35] इनका प्रमुख स्थान बैंगटी (फलौदी) में है। मनौती पूर्ण होने पर श्रद्धालु यहाँ इनके मंदिर में संस्थापित 'हड़बूजी की गाड़ी' की पूजा करते हैं। इनके पुजारी साँखला राजपूत होते हैं।

हड़बूजी योग दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व योद्धा थे।[36] बाद में भी ये उपदेश तथा आशीर्वाद देने के अलावा उचित पात्र की भाले से सहायता करते थे।[37] इनके यहाँ सदैव सदावर्त बँटता था।[38]

उपसंहार :

सारांशतः लोकदेवताओं की परम्परा के अन्तर्गत मध्यकालीन धार्मिक प्रवृत्तियों का पूर्वरूप व्यक्त होता है। जिसके मुख्य आधार साधनागत, सरलता, सहजता एवं जातिगत भेद-प्रभेदों की अमान्यता थे।

कृतज्ञ समाज ने त्यागी सिद्धों एवं आत्म बलिदानी योद्धाओं को 'देवत्व' से विभूषित कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा एवं आस्था का भाव व्यक्त किया। यद्यपि इनकी उपासना बुद्धिजीवियों के अनुसार अंध-विश्वास पर आश्रित हैं तथापि इनके प्रति दृढ़निष्ठा ने असंख्य जनसाधारण को सन्मार्ग ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया है। इनके प्रति विश्वास का सर्वाधिक महत्व यह है कि प्रदेश की अधिकांश जनता ने धर्मसम्बन्धी दार्शनिक शास्त्रार्थ में पड़े बिना एकता, ध्यान और नैतिक जीवन में तत्वों को हृदयंगम करने में सफलता प्राप्त की है। इनके अनुयायियों में अद्यावधि ऐसे सिद्ध पुरुष दृष्टिगत होते हैं, जो निरक्षर होने पर भी स्तुत्य आत्मबोध एवं प्रगाढ़ ईश्वर प्रेम से संयुक्त है।

इस परम्परा का महत्त्व उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त मेलों के अवसर पर विशाल

जनसमुदाय के एकत्रीकरण से उद्‌भूत प्रेम, उल्लास, समन्वय तथा भ्रातृत्व भाव की स्थापना और गीतों के अतिरिक्त पड़-पवाड़ों एवं जागरण के आयोजन द्वारा दैनिक जीवन की मधुरता तथा सरसता की अभिवृद्धि से भी प्रकट हो जाता है। प्रदेश के सामान्य लोकजीवन के अन्तर्गत आज भी 'गोगा राखड़ी', 'तेजा टेर', 'पाबूजी की पड़', 'बड़गावत का गायन' रामदेवजी के जुम्मे आदि का विशिष्ट महत्त्व प्रदर्शित होता है।

इसे प्रदेश की मिश्रित सँस्कृति का उपयुक्त प्रतीक भी कहा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत विविध लोकदेवों द्वारा प्राय: कर्मकाण्ड तथा विभेद रहित निर्गुणात्मक सँस्कृति को मान्य किया गया, जबकि उनके अनुयायी वर्ग की उपासना अथवा आस्था का स्वर सगुण सँस्कृति के निकटवर्ती प्रतीत होता है।

सन्दर्भ सूची :

1. गोगाजी चहुवांण की निसाणीं (ह.लि.) क्र. 19, अ.सं.ला., बीकानेर।
2. -------------- वही ----------------।
3. चतुर्वेदी, परशुराम-उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ. 56
4. कविमेह-गोगाजी का रसावला (ह.लि.) क्र. 23451, प्रा.वि.प्र. जोधपुर तथा मिश्रण, सूर्यमल्ल-वंश भास्कर, तृतीय राशि मयूख, 34
5. लोक भाषा में इस तिथि को 'गोगानम' कहा जाता है।
6. मिश्रण, सूर्यमल्ल-वंश भास्कर, तृतीय राशि, मयूख, 35
7. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, पृ. 14, 1891 ई.।
8. श्यामलदास- वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृ. 10
9. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राजमारवाड़ पृ. 61, 1891 ई.।
10. एडम्स-दि वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स 1900 ई., पृ. 138
11. राजपूताना डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स-अजमेर मेरवाड़ा, भा.। ए., 1904 ई., पृ. 34
12. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द-जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 163
13. जायल के काछेला चारण के पास कालमी नामक उत्तम घोड़ी थी। जींदराव की मांग पर काछेला ने वह घोड़ी उसे नहीं दी परन्तु पाबूजी के मांगने पर भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर सहायता देने की शर्त के साथ काछेला ने वह घोड़ी उन्हें दे दी। इस कारण जींदराव काछेला चारण से रुष्ट हो गया और ईर्ष्यावश पाबूजी से भी मन ही मन वैर मानने लगा।
14. नैणसी री ख्यात-द्वितीय भा, पृ. 180
15. पं. रेऊ, विश्वेश्वरनाथ-मारवाड़ का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 45, पाद-टिप्पणी।

16. सिंह, विश्वनाथ-कूंपावत राठौड़ों का इतिहास, पृ. 9, पाद-टिप्पणी।
17. मिश्र, श्रीलाल-पाबूजी के पवाड़ों में राजस्थानी जीवन, मरूभारती, वर्ष 6, अंक 1, पृ. 53
18. पारीक सूर्यकरण-राजस्थानी वार्ता, पृ. 181, नैणसी री ख्यात 2, पृ. 172
19. कोलू खासरा धांधलोत रो हाल-जो.रे. बस्ता नं. 76, ग्रंथांक 3 रा.अ. बीकानेर।
20. चोयल, शिवसिंह-राजस्थानी लोकगीत, भाग 2, पृ. 3
21. जोधपुरं रेकॉर्ड्स-पाबूजी रा दूहा, ग्रं. 5, बस्ता नं. 72, रा.अ.बी.।
22. कविया, रामनाथ-पाबूजी के सोरठे।
23. एक मान्यता अनुसार इनका जन्म 1352 ई. और निधन 1385 ई. को संभवतः हुआ था। द्रष्टव्य-विश्नोई, सोनाराम-बाबा रामदेव सम्बन्धी लोक-साहित्य, पृ. 9 व 37 रामसा पीर री ख्यात, बस्ता नं. 26, ग्रं. 3, जोधपुर रेकॉर्ड्स, रा.अ.बी.।
24. मारवाड़ रा परगनां री विगत, द्वितीय भाग, पृ. 291
25. पूनमचन्द-रामदेवजी का ब्यावला, पृ. 36
26. तंवरां री ख्यात, बस्ता नं. 101, ग्रं. 13, जो.रे.राज.अ. बीकानेर.
27. रामदेवजी रो छन्द (ह.लि.) क्र. 3976, रा.शो.स. चौपासनी।
28. रामदेवजी की वाणी, पद्य 14, पृ. 100
29. वही, पद्य 27, पृ. 106
30. वही, पृ. 100
31. मरूभूमि के चार धर्मवीर जूंझार, पृ. 12
32. जोधपुर री ख्यात, भाग एक, पृ. 42
33. नैणसी री ख्यात, प्रथम भाग, पृ. .243
34. मारवाड़ रा परगनां री विगत, प्रथम भाग 34
35. ओझा, गौ.ही. जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 25
36. सांखला हरभू का हाल (ह.लि.) बस्ता नं. 44, ग्रं. 1 जो.रे.रा.अ. बीकानेर।
37. -------------- वही ----------------।
38. -------------- वही ----------------।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
भरतपुर

❑❑

सन्त जाम्भोजी की सबदवाणी

— डॉ. मंगलाराम विश्नोई

जाम्भोजी का जीवन परिचय :

जाम्भोजी का जन्म वि.सं. 1508 में भादों वदी अष्टमी को माता हांसा देवी की कोख से हुआ। बचपन में जाम्भोजी सात वर्ष तक मौन रहे। सत्ताईस वर्ष तक इन्होंने गौएं चराई और जीवन की शेष आयु धर्म और परोपकार के उपदेश देने में बिताई। वि.सं. 1542 को जाम्भोजी ने जाति-पांति से रहित सत्वगुणी पुरूषों को अपने 'विष्णोई' धर्म में दीक्षित किया। अपने जीवन के आधे से अधिक भाग को इन्होंने लोगों की जिज्ञासित बातों के समाधान में व्यतीत किया। यह जिज्ञासित प्रश्नोत्तर ही सबदवाणी के नाम से प्रसिद्ध हैं। जाम्बोजी की सबदवाणी सर्वव्यापक और सनातनधर्मोपहित है।

गुरुमहिमा :

सन्त जाम्भोजी का मानना है कि व्यक्ति को हितोपदेशक गुरु की पहचान अवश्य करनी चाहिये और अपना अज्ञानमूलक कार्य छोड़कर सद्गुरु के कथनानुसार कार्य करना चाहिये, क्योंकि गुरु के मुख से वास्तविक धर्म की व्याख्या होती है। सच्चा गुरु स्वभावत वैदिक शास्त्रों में वर्णित धर्म को प्रिय शब्दों के द्वारा युक्तिपूर्वक शिष्यों को बतलाता है तथा स्वयं भी आचरण करता है। जो परमात्मा संसार रूपी बर्तन को अपने हाथ से बनाता है, उस परमात्मा को सच्चा गुरु आत्मज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करवा देता है, क्योंकि बिना गुरु की कृपा के परमात्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती, कारण कि परमात्मा प्रत्यक्षीकरण का मार्ग अत्यन्त कठिन है और वाणी उसके विषय में निरूत्तर है। वह परमात्मा अपने आप सदा सन्तुष्ट तथा शान्त स्वभाव से रहता है और अपनी अनन्त एवं अपार शक्ति से पृथ्वी के प्राणियों का पोषण करता है। जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे बर्तन को अग्नि में पकाने से वह शुद्ध और शक्तिशाली हो जाता है उसी प्रकार अनेक जन्मों के पापों से अशुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति भी हवन, जाप, प्राणायाम आदि के द्वारा शुद्ध तथा शक्तिशाली अन्तःकरण वाला होकर परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण कर सकता

है। जिस प्रकार छाछ में से घी को निकालना असम्भव हो उसी प्रकार रजोगुणी और तमोगुणी भक्ति से आत्मज्ञान होना असम्भव है। सत्वगुण का प्राधान्य बनाने के लिए श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक गुरु की शरण में जाना चाहिये। जिस प्रकार तलवार से किसी भी वस्तु को काटा जा सकता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी गुरु-प्रदत्त ज्ञानरूपी तीक्ष्ण-धार से मोह रूपी जंजीर को तोड़ा जा सकता है। जिस प्रकार तपे हुए लोहे के ऊपर पानी डालने से वह पानी भस्म हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी तपे हुए लोहे से मोहरूपी पानी भस्म हो जाता है। यह शरीर परिवर्तनशील और विकारयुक्त है। इसके विकार सत्गुरु ही तोड़ सकते हैं और उस सद्गुरु की कृपा होने पर सरलता से उस परमतत्व को पहचाना जा सकता है।

परमात्मा की सृष्टि :

जाम्भोजी परमात्मा को अनादि एवं अनन्त मानते हैं। वे कहते हैं कि :

जद पवण न होता पाणी न होता, न होता घर गैणारूं।
चन्द न होता सूर न होता न होता गंगदर तारूं।
गऊ न गोरू माया जाल न होता, न होता हेत पियारूं।
माय न बाप न बहण न भाई साख न सैंण न होता, न होता पख पखारूं।
लख चौरासी जीया जूंणी न होती, न होती बणी अठारां भारूं।
सप्त पताल फूंणीन्दा न होता, न होता सागर खारूं।
अजिया सजिया जीया जूंणी न होती, न होती कुड़ी भरतारूं।
अर्थ न गर्थ न गर्व न होता, न होता तेजी तुरंग तुखारूं।
हाट पटण बाजार न होता, न होता राजद्वारूं।
चाव न चहन न कोह का बाण न होता, तद होता एक निरंजन शम्भू के होता धन्धू कारूं।
बात कदो की पूछै लोई, जुग छत्तीस विचारूं।
ताहे पैरे रे और छत्तीसूं, पहला अन्त न पारूं।
म्हे तद पण होता अब पाण आछै, बल-बल होयसां, कह कद-कद का करूं विचारूं।

(सबदवाणी-4)

अर्थात् जब पृथ्वी, जल आदि पांच तत्व, हिमालय आदि पर्वत नहीं थे। आकाश में चन्द्रमा, सूर्य तथा तारागण नहीं थे। गायें, ग्वाले और माया का जालरूपी परस्पर मोह का भाव नहीं था। माता-पिता, भाई-बहिन, सम्बन्धी तथा मित्र नहीं थे। शुक्लादि

पक्ष एवं सोमादि वार नहीं थे। चौरासीलाख जीवों की योनियां नहीं थी। नाना प्रकार की वनस्पति नहीं थी। अतल, वितल, तलातल, रसातल, महातल तथा पाताल-ये सात लोक तथा शेषनाग नहीं थे। समुद्र खारा नहीं था। पत्थर इत्यादि जड़-योनि एवं मनुष्य इत्यादि चेतन-योनि भी नहीं थीं। स्त्री-पुरूष का व्यवहार नहीं था। धन-सम्पत्ति एवं अभिमान इत्यादि विकार नहीं थे। बड़े वेग से चलने वाले घोड़े एवं सर्दी-गर्मी इत्यादि नहीं थीं। दुकान, नगर और राजभवन इत्यादि नहीं थे। राजागण के पास बाण, तलवार आदि युद्ध सामग्री नहीं थी। उस समय मात्र आकार-विकार रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा था और परमात्मा के अतिरिक्त धुंए के सदृश अलौकिक दृश्य था। तभी से परमात्मा ने छत्तीस युगों की रचना की है। परमात्मा इस सृष्टि के आदिकाल में भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। सन्त जाम्भोजी भी ब्रह्मवेत्ता होने के कारण सर्वकालिक एवं सर्वव्यापक थे।

जप्य पदार्थ :

सन्त जाम्भोजी ने 'निरालम्भशम्भू' के जाप को उत्तम बतलाया है। वे कहते हैं :-

जपी तपी तक पीर ऋषेश्वर, कांय जपीजै तेपण जाया जीयूं।
खेचर भूचर षत्रपाला, परगट गुप्ता, कांय जपीजै तेपण जाया जीयूं।
बासग शेष, गुणिन्दा फुणिन्दा, कांय जपीजै तेपण जाया जीयूं।
चौंसट जोगन बावन बीरूं कांय जपीजै तेपण जाया जीयूं।
जपां तो एक निरालम्भ शम्भू, जिहिं के माय न पीयूं।
न तन रक्तु न तन धातु, न तन ताव न सीयूं।
सर्व सिरजत मरत बिवरजत, तासन मूल जो लेणा कीयो।

(सबदवाणी-5)

अर्थात् जप नित्य एवं अविनाशी पदार्थ का करना चाहिये। सन्यासी, तपस्वी, ध्यान करने वाले सिद्ध और मन्त्रवेत्ता इत्यादि पदार्थ जप्य नहीं है। आकाश तथा भूमि पर विचरने वाले भूत, प्रेत, भोमिया, दानव इत्यादि जो कभी प्रकट तथा गुप्त रूप से विचरते हैं, वे भी जप करने योग्य नहीं हैं। सर्पों के राजा वासुकि तथा नागों का राजा शेषनाग जो कि अत्यधिक गुणवाले एवं फनों वाले हैं, वे भी जप योग्य नहीं हैं। चौंसठ जोगनी, बावनवीर एवं भैरूं इत्यादि भी जप्य नहीं हैं, क्योंकि ये समस्त पदार्थ उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले एवं तमोगुण वाले हैं। अतः जप तो उस निरालम्भ स्वयंभू का करना

चाहिए, जिसके न तो किसी से माता-पिता के रूप में सांसारिक सम्बन्ध हैं, न ही उसके शरीर में रुधिर, वीर्य, गर्मी, शीत इत्यादि सांसारिक विकार हैं। वह स्वयंभू संसार के समस्त जीवों का कारण, जन्म-मरण से रहित, नित्य, एकरस एवं सभी का मूल है। वह क्रियारहित, चिह्नरहित, हाथ-पैर इत्यादि अव्यवों से रहित, जन्म-मृत्यु रहित एवं स्वतः प्रादुर्भूत है। वही सभी के द्वारा जप्य है।

निषिद्ध कर्म :

सन्त जाम्भोजी ने कुछ लौकिक कर्मों के निषेध को उद्घाटित करते हुए कहा है कि :

कांय दह दिश दिल पसरायो।
सोम अमावश आदितवारी कांय काटी बनरायो।
गहण गहन्ते, बहण बहन्ते, निर्जल ग्यारस मूल बहन्ते।
कांय रे मुरखां तें, पालंग सेज निहाल बिछाई।
जा दिन तेरे होम न जाप न तप न क्रिया, जाण के भागी कपिला गाई।
कूड़ तणो जे कतरब कियो, याते लाव न सायों।
भूला प्राणी आल बखांणी, न जंप्यो सुररायो।
छन्दे कहां तो बहुता भावे, खरतर को पतियायो।
हिव की बेलां हिव न जाग्यो, शंक रह्यो कदरायों।

(सबदवाणी-7)

अर्थात् (1) आसक्ति भाव से मन को दशों दिशाओ में नहीं भटकने देना चाहिये। (2) सोमवती अमावस्या और आदित्यवारी अमावस्या को वृक्ष, पौधे इत्यादि वनस्पति नहीं काटनी चाहिये। (3) सूर्य और चन्द्र ग्रहण के समय, देवनदी गंगा आदि के पवित्र तटों पर, निर्जला एकादशी एवं मूल नक्षत्र में स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिये। (4) व्यक्ति को अपने घर में प्रतिदिन हवन, जप, तप, शौच, स्नानादि पवित्र कार्यों में भूल नहीं करनी चाहिये। (5) मनुष्य शरीर की सार्थकता को समझते हुए प्रत्येक व्यक्ति को झूठे कार्यों में अपनी आयु को व्यतीत नहीं करनी चाहिये, क्योंकि झूठे कार्यों या व्यर्थ की बातों से मूढ़मति मानव ही प्रसन्न होते हैं, क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने मूल लक्ष्य से विचलित रहते हैं। (6) बाल्यावस्था में भी व्यक्ति को भय, शंका, काम, क्रोध इत्यादि के वंशीभूत होकर हरिभजन से विमुक्त नहीं होना चाहिये।

अहिंसा :

सन्त जाम्भोजी ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को समान रूप से अहिंसा का उपदेश दिया है। मुसलमानों को अहिंसा का उपदेश देते हुए वे कहते हैं कि कोई भी आत्मकल्याण चाहने वाला पुरूष गाय, भेड़, बकरी इत्यादि जीवों को हत्या रूप धर्मविरूद्ध एवं नीच कर्म नहीं करता और न ही किसी धर्मात्मा या आप्त पुरूष ने इन जीवों को मारने की आज्ञा दी है। अरे नीच यवनों! जिस समय कांटा भी यदि मनुष्य को देह में लग जाता है तो उस समय असह्य वेदना शरीर में होती है। इस पर यदि तुम जैसे लोग किसी जीव के सिर को शरीर से अलग करते हो तो उस समय उस जीव को कितना कष्ट होता होगा? अत: उस जीव की वेदना का अनुमान करके किसी देहधारी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिये।

विष्णुमंत्र की महिमा :

सन्त जाम्भोजी विष्णुमन्त्र के जप को अत्यधिक महत्त्व देते थे। उनका मानना था कि जिस दिन मनुष्य होम, जप या सुकृत नहीं करता, वह दिन मानों उसके व्यर्थ गया। बाल्यावस्था में चंचलता के कारण एवं वृद्धावस्था में असमर्थता मानकर जिसने विष्णु जप न किया, उसने मानव जीवन पाकर भी कुछ नहीं किया।

हरिकृपा :

जाम्भोजी ने संसार के समस्त कार्यों और धर्मों का संचालक हरि (भगवान्) को माना है। उन्होंने कहा है कि हरिकृपा से असम्भव कार्य भी संभव हो जाते हैं। प्रत्येक वस्तु या पदार्थ का अपना एक निश्चित धर्म परमात्मा ने निश्चित कर रखा है और उसीके अनुसार विधिवत् सारे कार्य जगत् में चल रहे हैं। भगवान् की ऐसी महिमा को समझकर ज्ञानी व्यक्तियों को सुख मिलता है, लेकिन अज्ञानी जीवों को दंश जैसा लगता है।[1] ऐसी अपरम्पार महिमाशाली वह तत्व समस्त जगत् का मूल और शीतल जल के समान प्राणदायक एवं अनन्त गुणशाली है।

सत्संगति का माहात्म्य :

जाम्भोजी ने सत्पुरूषों के साथ को अच्छा माना है। उनके अनुसार सत्संगति से बुरा व्यक्ति भी सुधर सकता है, उन्नति कर सकता है। इस बात को उन्होंने कई उपमानों के द्वारा बड़े ही रोचक ढंग से समझाया है। वे कहते हैं कि सोने के गहने बनाने वालों की संगति से धीरे-धीरे लोह गढ़ने वाला भी सोने के गहने बनाने लगता है

और कालान्तर में बहुत अच्छी वस्तुएँ बनाने लगता है। इसी प्रकार नौका की संगति और खेवटिये की अनुकम्पा से लोहा पानी पर तर जाता है। जैसे बिना खेवटिये के नौका पार न निकल कर पानी में डूब जाती है, उसी प्रकार संसार-सागर से पार उतरने के लिए सत्संगति रूपी नौका और गुरु रूपी खेवटिये की आवश्यकता होती है। बिना सत्संगति और गुरुकृपा के आततायी, भंगेड़ी, नशेबाज और संसार में भूले हुए लोग जीवहत्या करते हैं और मरे हुए पदार्थ को खाते हैं।[2] उनका उद्धार नहीं हो सकता।

तत्व प्राप्ति के कारण :

जाम्भोजी ने तत्व प्राप्ति के लिए अहंकार को त्यागने की बात कही है। इस-बात को उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त से समझाते हुए कहा है कि जैसे भिखारी घर-घर में भिक्षा के लिए घूमता है, वैसे ही जो व्यक्ति इस संसार-सागर में तत्वरूपी रत्न की खोज करता है, उसी का इस संसार में आना सफल है। उसका ही यहाँ अतिथि रूप में आना श्रेष्ठ है। मूल तत्व की प्राप्ति के लिए भगवान् से भिखारी की तरह भीख मांगों अर्थात् मान-अपमान और ऊँच-नीच की भावना त्याग कर सतत सचेष्ट रहो। जो व्यक्ति तर्क-वितर्क में फँसा हुआ है, जिसकी शान्ति नष्ट हो गई है और जो संशय में उलझा हुआ है, उसे श्रेष्ठ पुरूष नहीं कहा जा सकता।[3]

दुःखों का सुख में बदलना :

"समस्त संसार दुःखमय है।" इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए कतिपय उदाहरणों के द्वारा जाम्भोजी कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए, पढ़े-लिखे लोग ग्रन्थ मंथन के लिए, केलि-क्रीड़ा करते हुए मोर-मोरनी अपने पैरों को देखकर, योगी लोग मन की स्थिरता के लिए, मूर्ख लोग और अधिक सांसारिक सम्पदा के लिए तथा लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए अवतारी पुरुष दुःखी रहते हैं। इन सबके दुःखों का कारण अज्ञान है।

ज्ञान होने पर समस्त दुःख सुख में बदल जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म की महिमा अपार है। उसकी कृपा से जहाँ कुछ उत्पन्न होता था, वहाँ कुछ भी नहीं होगा, लेकिन उसकी कृपा होने पर वहाँ कुछ भी उत्पन्न हो सकता है।[4] कारण कि वह ब्रह्म साकार और निराकार दोनों रूपों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड में रम रहा है। वह सर्वव्यापक, सदा एकरस, कार्यकारणातीत, रूपरेखा रहित, अगम्य और अवर्णनीय है। ऐसे इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को हृदयरूपी तीर्थ में स्नान करना चाहिये।[5]

शाश्वत वचन :

जाम्भोजी ने बड़ी ही रोचक शैली में शाश्वत वचनों का भी व्याख्यान किया है। वे कहते हैं कि जिन लोगों के मन में दया और ममता का भाव नहीं है, उनके समस्त कर्म उल्टे हैं। जिनके मन में आदर सत्कार का भाव नहीं है, वे स्वर्ग नहीं जा सकते। जो प्रत्येक जीव में ब्रह्म रूपी ज्योति नहीं देखते, वे कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते। जो शील का पालन नहीं करते, उनके समस्त कर्म बुरे हैं। जिन्होंने मूल तत्व की खोज नहीं की, वे प्रत्यक्ष ही थोथे लोग हैं। जिन्होंने परमतत्व का रहस्य नहीं जाना, उनको स्वर्ग की आशा छोड़ देनी चाहिये। जिन पर घमण्ड छाया हुआ है, उनको भले-बुरे का ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे लोग अहंकार तथा अज्ञान में ही जीवन बिता देंगे।[6]

अन्त में मैं जाम्भोजी के जीवनवृत्त को व्याख्यायित करने वाली कवि केशोजी की इस साखी से विराम लेता हूं :

बाबे आप लियो अवतार, श्याम समराथळ आवियो।
आवियो छै आप अलेख, भाग परापति पावियो।
भाग परापति पावियो नै, जे मनो त्यागो मांण।
अन्हो अजांण अबूज मूर्ख, किया श्याम सुजांण।।
कमल कुलछण परहर्या, शुद्ध हुआ करणी सार।
भगवे बानैं विष्णु आयो, आप लियो अवतार।
श्याम समराथळ आवियो।।
धुर ओळखजे आचार, परमेश्वर पूरो धणी।
ठग पासीगर चोर,जीव दया पाळे धणी।
जीव दया पाळे धणी नै, हतै जीव न जांण।
मेघां देघां अहेड़ियां, घर पीजिये जळ छांण।
बकर कसाई झींवरा, मूख्यो त्यागी मार।
मध्यम ते उत्तम किया, धूर ओळखिये आचार।
परमेश्वर पूरो धणी।।
मीर मुळक सुलतांण, पीर पुरूष पाये पड़े।
पापां पड़ै भगाण, गुरु भेटां पातक झड़े।
गुरु भेंटा पातक झड़े नै, सही सिरजणहार।
आप स्वयम्भू आवियो, गुरु तरण तारणहार।

सूत पुरांण कुरांण परहर, करो विष्णु बखांण।
पवण छत्तीसी पाये लागे, मीर मुल़क सुलतांण।
पीर पुरूष पाये पड़े॥
रायक आण्यां राह, गुरु फरमाई से करें।
बोले वचन विचार, मुख सुर वाणी ओचरे।
मुख सुर वाणी ओचरे नै, बोले बचन विचार।
फूल पीतल़ झालरा, नील त्यागे नार।
हरि होम कीजे पाहल लीजै, परस लागे पाय।
कलि़काल़ सम्भाल़ सतगुरु, रायक आण्यां राह।
गुरु फरमाई से करें॥
म्हारी आवागवण निवार, इण टांणे सूं मत टाळियो।
अब लीजो अपणाय, छाप पुरबलि पाळियो।
छाप पुरबलि पाळियो नै, थे जम्भगुरु जगनाथ।
पांच सात नव क्रोड़ बारां, दिया सतगुरु साथ।
हरि हेत कीजे दर्श दीजे, पार घर पहुंचाय।
दास केशो आश थारी, म्हारी आवागवण निवार।
इण टांणै सूं मत टालियो॥

सन्दर्भ सूची :-

1. ग्यांनी के हिरदै परमोधि आवै। अग्यांनी लागत डांसूं।-वही, 12.29-32-30
2. नागड़ भांगड़ भूला महियल, जीव हतै मड खाईलो।-सबदवाणी, 14.11-12
3. जाके वाद विरांम विरांसौ सांसौ सरसौ, कूंण कहासी साल्ळ्या साधो।-वही, 15.13-14
4. जां कुछि हुंता नां कुछि होयसी, वलि कुछि होयसी तांहिं।-सबदवाणी, 16.17-18
5. अड़सठि तीरथ हिरदै भीतरी, को को गुरमुखी विरलां न्हायो।-वही, 17.9-10
6. जां जां घमंड सूं मंड्यौ, ताकै ताव न छायौ। सुतै सास न सायौ।-वहीं, 18.15-17

सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर-342 001

❑❑

संत दरियावजी का सामाजिक एवं धार्मिक चिन्तन

— डॉ. सोहन कृष्ण पुरोहित

भक्ति आन्दोलन को मध्यकालीन भारत की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक देन माना गया है। जिसके अनुक्रम में अनेक संतों का प्रादुर्भाव हुआ। संतों ने हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराईयों को दूर कर भक्ति को ही मोक्ष का सरल मार्ग बताया। भक्ति आन्दोलन अत्यन्त व्यापक था और इसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को प्रभावित किया। कुछ विद्वान् मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन को इस्लाम अथवा इसाई धर्म की देन बताते हैं।[1] किन्तु यह एक नितान्त भ्रान्ति है। भक्ति विशुद्ध भारतीय परम्परा है जो इस्लाम अथवा ईसाई धर्म से भी पुरानी है। इसे रामानुज, रामानन्द, मध्यवाचार्य, निम्बार्क, वल्लभाचार्य, चैतन्य, दादू, मीराँ, रैदास और नानक आदि संतों ने लोकप्रिय बनाया।

भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप राजस्थान में गोगाजी, तेजाजी, पाबूजी और रामदेवजी ने सामाजिक समन्वय का कार्य किया। वहीं धार्मिक स्तर पर संत धन्ना, पीपा, दादू, जाम्भोजी, रामचरणदास, लालदास, चरणदास, जसनाथ और नागरीदास ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

17वीं सदी के अंतिम पाद और अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भिक चरण में मारवाड़ की राजनीतिक स्थिति संकटपूर्ण थी।[2] यह काल सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी अपकर्ष का काल था। इस समय तक समाज में अनेक जातियां अस्तित्व में आ चुकी थी। ब्राह्मण अपने अस्तित्व को बनाए रखने हेतु कर्मकाण्ड और मूर्ति पूजा का प्रचार कर रहे थे। मृत्यु भोज एवं सती प्रथा जैसी बुराइयां समाज का आवश्यक अंग बन चुकी थीं।[3] धार्मिक क्षेत्र में सगुण भक्ति नाना प्रकार के पाखण्डों और अन्धविश्वास से जर्जर हो रही थी। दूसरी ओर कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण मार्गी साधना सुंकुचित व्यक्तिवाद पर आधारित नये-नये पन्थों के दल-दल में फंसकर सत्वहीन हो चुकी थी।[4] ऐसी विकट परिस्थिति में संत दरियावजी ने भक्ति आन्दोलन को नई दिशा प्रदान की। उन्होंने अपनी वाणियों एवं भजनों के माधुर्यरस से जनता में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया और सगुणोपासना के क्षेत्र में बढ़ते हुए अंधविश्वास का प्रबल

युक्तियों से खण्डन किया। दरियावजी ने जातिगत और कुलगत श्रेष्ठता की निन्दा कर समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके शिष्य रामद्वारों में निवास करते हैं और रामसनेही कहलाते हैं। मारवाड़ का रेण नगर इस सम्प्रदाय का प्रमुख आराधना स्थल है।

संत दरियावजी का परिचय :

संत दरियावजी का जन्म जोधपुर के पास जैतारण नगर में वि.सं. 1733 (1676 ई.) में भाद्रपद अष्टमी बुधवार को हुआ।[5] उनके पिता का नाम मानसा और माता का नाम गीगा था। वे जाति से पठान धुनिया मुसलमान थे।[6] रेणपीठ से प्रकाशित ग्रन्थों श्रीमद्दरियाव गीता (दरिया साहब की बाणी) और श्री दरियाव दर्शन शीर्षक ग्रन्थों में उन्हें हिन्दू खत्री माना गया है।[7] यद्यपि दरियावजी ने बाणियों में स्वयं को धुनिया स्वीकार किया है।[8] संत दरियाव जी की आयु जब सात वर्ष की थी, तब उनके पिता का निधन हो गया। इसलिये वे अपने नाना कमीस के पास रेण आ गये। यहाँ उनकी जन्मपत्री में फकीर या ओलिया होने का योग देखकर स्वामी स्वरूपानन्द उन्हें अपने साथ काशी ले गये।[9] वहाँ रहकर दरियावजी ने फारसी और कुरान के अलावा ज्योतिष, भगवद्गीता तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया।[10] वापिस रेण आने के बाद उपनिषद् में गुरु का प्रसंग पढ़ कर वे उससे प्रभावित हुए और उन्होंने प्रेमदासजी को अपना गुरु बना लिया। वे वि.सं. 1769 में कार्तिक माह की शुक्ल पक्ष की एकादशी को दीक्षित हुए। प्रेमदासजी ने दरियावजी को रामस्मरण का गुरु-मन्त्र दिया।[11] इसके बाद दरियावजी ने कुछ समय तक खेजड़ा ग्राम में साधना की और आध्यात्मिक दृष्टि से परिपक्व होने पर निर्गुण भक्ति का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। अपने जीवनकाल में संत दरियावजी ने राजस्थान के अनेक गाँवों और नगरों की धार्मिक यात्राएं की। राम भक्ति का प्रचार करते हुए वे वि.सं. 1815 (1758 ई.) में रेण नगर में देवलोक हुए। जहाँ बाद में उनकी समाधि का निर्माण करवाया गया।[12]

प्रस्तुत शोध निबन्ध का उद्देश्य संत दरियावजी के उपदेशों के रहस्यमय साधना पक्ष पर नहीं अपितु उनके द्वारा धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपनाये गये सुधारवादी चिन्तन का अध्ययन करना है।

धार्मिकसुधार चिन्तन :

संत दरियावजी ने समाज की धार्मिक स्थिति पर गहनचिन्तन किया। उनकी साधना पद्धति भिन्न प्रकार की थी। उसमें आडम्बरों का पूर्णतया अभाव था। उनकी पूजा अर्चना

और आरती मन्दिर में नहीं अपितु घट (हृदय) के भीतर होती थी। उनकी वाणी से स्पष्ट है :-

तन देवल बिच आतम पूजा, देव निरंजन ओर न दूजा॥
दीपक ज्ञान पांच कर बाती, धूप ध्यान खेवो दिन राती॥
अनहद झालर शब्द अखण्डा, निस दिन सेव करे मन पण्डा॥

दरिया कृत आरती[13]

दरियासाहब दिखावा पूर्वक उपासना पद्धति के विरोधी थे :-

दरिया रस दरवाज में, ता बिच पढत निमाज।
र रो म मो इक रटत है, और सकल बेकाज॥

नाम महात्तम का अंग[14]

संतदरिया माला फेरना, तिलक लगाना धार्मिक दिखावा मानते थे, उनके विचार हैं :-

कंठी माला काठ की, तिलक.गार का होय।
जन दरिया निज नाम बिन, पार न पहुंचे कोय॥

उपदेश का अग[15]

उनका विश्वास था कि यदि मन फटा हुआ है, एकाग्र नहीं है, इधर-उधर विषयों में भटक रहा है, तो माला फेरने का कोई लाभ नहीं है। इसलिये उन्होंने कहा ''मनका'' नहीं ''मन'' को फेरो अर्थात् उसे सांसारिक विषयों से परमात्मा की ओर ले जाने का प्रयास करना आवश्यक है।[16] उनकी दृष्टि में करनी के अभाव में कोरी कथनी बेमानी है।[17] उनकी मान्यता थी कि कृष्णलीला और सीताहरण आदि की कथा गायन से पेट भरने का उपक्रम हो सकता है किन्तु राम नाम का मार्ग तो बिलकुल निराला है :-

पद गावे साखी कहे, मन्न रिंझावे आन।
दरिया कारज ना सरै, देह करी गुजरान॥
पांच सात साखी कही, पद गाया दस दोय।
दरिया कारज न सरै, पेट भराई होय॥
जारी गावै कृष्ण की, हरि सरावे सीत।
दरिया कैसे जाणिए, राम नाम की रीत॥

संत दरियासाहब की बाणी[18]

संत दरिया मजहब के काल्पनिक भेद और सम्प्रदायवाद के कट्टर विरोधी थे :

र रा तो रब्ब आप है, म मा मोहम्मद जान।
दोय हरफ के मायने, सब ही वेद पुराण॥

मिश्रित साखी का अंग[19]

धार्मिक मत-मतान्तर को व्यर्थ का विवाद मानते हुए उन्होंने कहा :-

दरिया दुखिया जब लगी, पछा पछी बेकाम।

अर्थात् मनुष्य जितने दिनों तक साम्प्रदायिकता में व्यस्त रहता है, उतने समय उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है और वह दुःख सागर में निमग्न रहता है।[20]

दरियासाहब उदार प्रवृति के व्यक्ति थे, इसलिये उन्होंने सगुणोपासकों की आलोचना न कर उनके प्रति भी प्रेम दर्शाया।

किसको निन्दू किसको बन्दू, दोनं पल्ला भारी।
निरगुण तो है पिता हमारा, सगुण है महतारी॥
जन दरिया में दोय पख, दोनूं उत्तम सार।
निरगुण मेरा शीश पर, सरगुण उर आधार॥[21]

संतदरिया के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार करने हेतु तीर्थयात्रा करने तथा दर-दर भटकने की आवश्यकता नहीं है। उसके दर्शन पवित्र मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा किये जा सकते हैं।[22]

उन्होंने कहा :-

दुनिया भरम बोराई।
आतमराम सकल घट भीतर, जाकी सुध न पाई॥
मथुरा काशी जाय द्वारिका, अड़सठ तीरथ न्हावे।
सतगुर बिन सोजी नहीं कोई, फिर-फिर गोता खावे।
जप तप संयम काया कसनी, सांख जोग व्रत दाना।
या ते नहीं ब्रह्म से मेला, गुन अर करम बंधाना॥

दरिया बाणी पद[23]

दरिया साहब मूर्तिपूजा का विरोध करते थे। वे कहते थे :-

चेतन मूरत जड़ को सेवै, बड़ा थूल मत गैला।

देह आचार किया कहा होई, भीतर है मन मैला।।[24]
तीर्थ दान जग प्रतिमा सेवा, यह सब सुपना लेवा देवा।।
आदि भवानी संकर देवा, यह सब सुपना लेवा देवा।।

वे आगे कहते हैं :-

दरिया मैला जगत को, क्या की जै समझाय।
रोग तीसरे देह में पत्थर पूजन जाय।।

सुपने का अंग[25]

संत दरिया वेद और पुराणों के अध्यात्मवाद से प्राणिमात्र को भ्रम में डालना उचित नहीं समझते थे :-

कहा करु तेरा बेद, पुराना जिन है सकल जगत भरमाना।[26]

इस प्रकार दरिया साहब धार्मिक सुधारों के कट्टर समर्थक थे, उनके आध्यात्मिक विचारों का सार नामस्मरण और गुरुवन्दना में दृष्टिगोचर होता है :-

दरिया सत गुरु कृपा करे, शब्दल-गाया एक।
लागत ही चेतन भया, नेत्तर खुला अनेक।।[27]

संतदरिया का सामाजिक दर्शन :

दरियासाहब जहाँ धार्मिक क्षेत्र में आडम्बर, दिखावा और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, वहीं वे दादू और कबीर की तरह सामाजिक सुधारों के भी समर्थक थे। उनका मानना था कि समाज का निर्माण एवं संगठन व्यक्ति से होता है। व्यक्ति समाज की इकाई है। इसलिये व्यक्ति के गुणों एवं आचरण से ही श्रेष्ठ समाज की संरचना सम्भव है। यहाँ श्रेष्ठता का तात्पर्य सामाजिक समरूपता से है। समता तभी आ सकती है जब जातिवर्ण तथा वर्गभेद रहित समाज की रचना हो। इसलिये संत दरिया ने समाज निर्माण में आने वाली बाधाओं का आध्यात्मिक एवं वैयक्तिक आचरण के द्वारा निराकरण करने पर जोर दिया। उनका जाति-पाँति के भेद-भाव में विश्वास नहीं था।[28] उनके दरबार में छुआछूत के लिये कोई स्थान न था। वे कहा करते थे :

राम कहत मिथम भला, गलत कोढ होय अंग।
उत्तम कुल कूं छाड़िकै, रहिये उनके संग।।

अर्थात् राम के नाम को स्मरण करने वाला चाहे निम्न श्रेणी का व्यक्ति हो अथवा

कोढी हो तो भी उत्तम कुल के व्यक्ति की संगत छोड़कर उसके साथ रहना उत्तम है।

दरिया साहब के अनुसार यह धन, सम्पत्ति (माया) और शरीर नश्वर है। इसलिये उन्होंने मानव की संग्रह प्रवृत्ति पर अंकुश लगाकर परोक्ष रूप से सामाजिक समानता लाने का प्रयास किया। उनकी धारणा इस प्रकार थी :-

जतन जतन कर जोड़ ही, बरिया हित चितलाय।
माया संग न चाल ही, जावै नर छिटकाय॥
मरना है रहना नहीं, या में फेर न सार।
जन दरिया भय मान कर अपना राम संभार॥
सुई डोरा साह का, सुरग सिधाया नांह।
जन हरिया माया यहू, रही यहां की यांह॥
मुसलमान हिन्दू काहा, षट दर्शन रंक राव।
जन दरिया निजनाम बिन, सब पर जम का डाव॥[29]

संतदरिया ने मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करने तथा उसे चारित्रिक दृष्टि से सत्संगति करने पर जोर दिया :-

दरिया संगत साध की, सहजै पलटे बंस।
कीट छाड़ मुक्त चुगै, होय काग से हंस॥
दरिया संगत साध की, कल विषय नासै धोय।
कपटी की संगत कियां, आपहु कपटी होय॥

मिश्रित साखी[30]

दरिया साहब के समकालीन संत गृहस्थ छोड़ कर सन्यास ग्रहण करने का उपदेश दे रहे थे। तब उन्होंने कहा कि यदि परमात्मा का ही स्मरण करना है तो वह गृहस्थ में रहकर किया जा सकता है।

हाथ काम मुख राम है, हिरदै सांची प्रीति।
जन दरिया गृह साध की, याही उत्तम रीति॥

सांच का अंग[31]

समाज की रचना में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिये वह मनुष्य के पतन का कारण नहीं हो सकती। उसकी निन्दा करके श्रेष्ठ समाज की कल्पना नहीं

हो सकती। वह तो ममता, त्याग और स्नेह की साक्षात् मूर्त्ति है :-

नारी जननी जगत की, पाल पोस दे पोष।
मूरख राम बिसारि कै, ताहि लगावे दोष॥
नारी आवै प्रीतिकर, सतगुरु पर से आण।
जन दरिया उपदेस दै, माय बहिन धी जाण।

उपदेश का अंग[32]

दरियावजी ने अन्य निर्गुण संतों की तरह अफीम व्यसन को दुर्गुण माना। उन्होंने कहा :-

दरिया अमल है। आसुरी, पीयां होत शैतान।
राम रसायण जो पिवे, सदा छाक गलतान॥[33]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संतदरिया धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के हितचिन्तक थे। उन्होंने कहा कि परब्रह्म राम[34] की उपासना हेतु मूर्तिपूजा, आडम्बर, व्रत, तीर्थ, माला, कंठी, तिलक और सम्प्रदायवाद की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अल्लाह और ईश्वर के भेद को काल्पनिक मानते थे। उनके द्वारा प्रचारित धर्म जनसाधारण का धर्म था, जो उपनिषदों और पुराणों के अध्यात्मवाद से कोसों दूर था। सामाजिक चिन्तन में उन्होंने जाति भेद को मान्यता न देकर मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण में सुधार करने पर जोर दिया। वे छुआछूत, सन्यासधारण, नारी आलोचना और दुर्व्यसनों के विरोधी थे। इसलिये वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संत दरिया साहब के विचार सार्थक प्रतीत होते हैं।

सन्दर्भ सूची :-

1. बायस इन इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी (सम्पा, देवहूति), पृ. 120-139, पाण्डेय, सुस्मिता, मेडीवल भक्ति मूवमेण्ट, पृ. 11-12, दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 370, शुक्ल दिनेश चन्द्र, राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं सँस्कृति, पृ. 15-16
2. वर्मा, अमरचन्द, स्वामी राम चरण जी (जीवन विचार एवं कृतित्व) पृ. 11
3. शर्मा, कालूराम, उन्नसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 105-149
4. त्रिपाठी राधिका प्रसाद, रामसनेही सम्प्रदाय, पृ. 351

5. दरियाव महाराज की जन्म लीला (हस्तलिखित ग्रन्थ) क्रमांक 31034, पृ. 117, 1809 ई., प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
6. (अ) दरियाव महाराज के जन्म चरण की परची, (ह.ग्रं.) रेण।
मुरधर देस भरत खण्ड भाई, जेतारण एक गांव कहाई।
जात पठांण रेत दोय भाई, फेते मानसा नाम कहाई॥
(ब) पिता मानसा सही गीगा सो कहिये।
बण सत को घर बुदम जात धुणियों सो लहिये॥
प्रोसीडिंग्स ऑव द राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस, XI, पृ. 44
दरियाव महाराज की जन्म लीला (ह.ग्रं.) के आधार पर उद्धृत।
7. शास्त्री, भगवानदास, श्रीमद्दरियाव गीता (दरिया साहब की बाणी) और शास्त्री हरिनारायण के ग्रन्थ (सम्पा.), दरिया व दर्शन में उद्धृत संत दरिया का जीवन परिचय।
8. जो धुनिया तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाटी मति हीना॥
तुम तो हो सिरताज हमारा।पद्य अंग॥ दरिया साहब की बाणी, पृ. 91, कविया शक्तिदान, उमरदान ग्रन्थावली में उद्धृत, सन्ताँरी शोभा, पृ. 26
9. दरियावजी महाराज की अनुभव गिरा, पृ. 55,
नानो नाम कमेसता राखे हेत सनेह (जयरामदास कृत लावणी)।
10. मेनारिया, मोतीलाल, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. 163, शास्त्री हरिनारायण (सं.) दरियाव दर्शन, पृ. 22, कल्याण के वर्ष 12 के संत अंक पृ. 621 पर दरियाव जी को निरक्षर कहा गया है।
11. पेमाराम, मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन, पृ. 220, दरियाव महाराज के जन्म चरण की परची (ह.ग्रं.) पृ. 102 रेण, दरियावजी महाराज की जन्म लीला (ह.ग्रं.) क्रमांक 31034, पृ. 120-21, संवत् 1866, प्रा.वि.प्र., जोधपुर। सतगुरु दाता मुक्ति का, दरिया प्रेम दयाल। किरपा कर चरणों लियो, मेट्टयो सकल जंजाल (दरिया साहब की बाणी)।
12. अठारेसे पनरोतड़े, मंगसर पून्यू जाण।
देह तजी दरियावजी, पाया पद निरवाण॥
श्री दयाल, दरिया साहजी की जन्म लीला (ह.ग्रं.)
संवत् 1845 रेण।
13. शास्त्री, भगवानदास (सं.), पूर्वो, दरिया कृत आरती, पृ. 87

14. वही, पृ. 74
15. वही, उपदेश का अंग, पृ. 65
16. वही, पृ. 64 भेष का अंग। माला फेरे क्या भया, मन फाटें कर भार। दरिया मन को फेरिये, जामे बसे विकाल॥23॥
17. पूर्णदास, नागौर जनपद में रामसनेही सन्त दरिया साहब की परम्परा एवं उनका अवदान (हिस्ट्री ऑव नागौर सेमीनार 1991 में प्रस्तुत शोध निबन्ध से उद्धृत अप्रकाशित सामग्री)।
18. ---- वही ----, शास्त्री, भगवानदास सं. पूर्वो, पृ. 65 (भेष का अंग-दरिया बाणी)।
19. शास्त्री, भगवानदास, पूर्वो, पृ. 78
20. कल्याण संत अंक, वर्ष 12, पृ. 622
21. अधिकारी, बलरामदास, रामसनेही अनुभव आलोक, पृ. 79, शास्त्री, भगवानदास (सं.) पूर्वो, दरिया बाणी मिश्रित साखी, पृ. 81
22. पूर्णदास, पूर्वो।
23. शास्त्री भगवानदास (सं.) पूर्वो, दरिया बाणी, पृ. 99
24. ---- वही ----, पृ. 99, 46
25. ---- वही ----, पृ. 54
26. ---- वही ----, पृ. 92
27. ---- वही ----, पृ. 4
28. पूर्णदास, पूर्वो।
29. वही, शास्त्री भगवानदास, पूर्वो, पृ. 11-18 (सुमरिन का अंग)।
30. शास्त्री भगवानदास, पूर्वो, मिश्रित साखी, पृ. 85
31. ---- वही ----, पृ. 69
32. पूर्वो, पृ. 223, शास्त्री भगवानदास, पूर्वो, पृ. 58
33. शास्त्री, ---- वही ----, पृ. 78, मिश्रित साखी का अंग।
34. राजस्थानी संत परम्परा : सामाजिक अन्तश्चेतना, परम्परा अंक 100, पृ. 38, शुक्ल, दि.च., राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोकदेवता, पृ. 89-107

—सह आचार्य, इतिहास विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

❑❑

रामसनेही सन्तों की साँस्कृतिक निधि : फूलडोल महोत्सव

— डॉ. राजेन्द्रनाथ पुरोहित

मध्ययुगीन राजस्थान की रत्नगर्भा वसुन्धरा जहां वीर-रत्नों के शौर्य एवं बलिदान से धन्य हुई, वहीं संत रत्नों की सद्वाणी से गुंजित हो उठी। संतों की वाणी से अवतरित निर्गुण-भक्ति की सरिता ने जनमानस की धार्मिक भावनाओं को प्रभावित किया और वे उनके अनुयायी बन गये। मूर्त्ति-पूजन तथा कर्मकाण्ड जैसे धार्मिक आडंबरों से कुण्ठित समाज को संतों ने ईश्वर भक्ति की एक नयी राह दिखाई। निर्गुण संतों द्वारा स्थापित इन संप्रदायों में संत कबीर की निराकार उपासना से प्रभावित दादूपंथ, चरणदासी पंथ तथा निरंजनी पंथ प्रमुख हैं, जिन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध कर निर्गुण भक्ति आन्दोलन को गतिशीलता दी। निर्गुण भक्ति के इस प्रवाह में स्वामी रामचरण के सिद्धान्तों ने 'रामसनेही-संप्रदाय' को जन्म दिया।

स्वामी रामचरण का जन्म माघ सुद शनिवार, वि.सं. 1776 में जयपुर राज्यान्तर्गत मालपुरा के समीप सोड़ा ग्राम में हुआ था। इन्होंने वि.सं. 1808 में गुरु कृपाराम से दीक्षा ग्रहण की। वि.सं. 1817 में स्वामीजी जयपुर से विचरण करते हुए भीलवाड़ा आये, जहां देवकरण, नवलराम तथा कुशलराम नामक व्यक्तियों को धर्मोपदेश देकर अपना शिष्य बनाया तथा रामसनेही संप्रदाय की स्थापना की। इस पंथ के अनुयायी निर्गुण परमेश्वर का स्मरण 'राम' के नाम से करते हैं तथा मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते। भगवान् राम से स्नेह रखने वाले व्यक्ति के अर्थ में रामसनेही शब्द प्रयुक्त हुआ। भीलवाड़ा निवास के दौरान स्वामीजी के शिष्यों की संख्या 300 तक पहुंच गई। वि.सं. 1826 में स्वामीजी, शाहपुरा नरेश रणसिंह के निमंत्रण पर वहीं चले गये। शाहपुरा नरेश भीमसिंह तथा उनकी माता राजावत स्वामीजी के परम भक्त थे। तद्नुसार पंथ को प्राप्त राज्याश्रय उसकी उन्नति में सहायक सिद्ध हुआ।

स्वामीजी के धार्मिक उपदेशों की कीर्त्ति ने उन्हें 'भीलवाड़ा के कबीर' संज्ञक

परिचय से प्रसिद्ध किया। स्वामी रामचरण ने अपने जीवनकाल में कई कृतियों की रचना की, जिनमें 'अणभैवाणी' प्रमुख है। स्वामीजी का देहावसान वैशाख वदि 5 वि.सं. 1855 को शाहपुरा में हुआ। उनकी मृत्यु के पश्चात् शाहपुरा स्थित आवास स्थल 'रामद्वारा' के नाम से विख्यात हुआ तथा उनके शिष्य 'रामजन' उत्तराधिकारी हुए। स्वामीजी द्वारा स्थापित रामसनेही संप्रदाय शाहपुरा तथा मेवाड़ राज्य के शासकों के आश्रय में पल्लवित होता रहा, जिसने कालांतर में राजस्थान के निर्गुण भक्ति आन्दोलन में प्रमुख स्थान प्राप्त किया।

फूलडोल महोत्सव :

स्वामी रामचरण के जीवनकाल में ही संप्रदाय के एक साँस्कृतिक पर्व का जन्म हुआ, जो फूलडोल महोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है। यह उल्लेखनीय है कि निर्गुण पंथों की किसी साँस्कृतिक परम्परा ने उतनी लोकप्रियता अर्जित न की होगी, जितनी रामसनेही संप्रदाय के फूलडोल महोत्सव ने। उक्त पर्व आज भी शाहपुरा में एक मेले के रूप में आयोजित होता है। यह महोत्सव पूर्व में 40 दिन तक मनाया जाता था, किन्तु अब इसकी अवधि 25 दिन ही निर्धारित कर दी गई है। फाल्गुन सुदी 11 से चैत्र सुदी 5 तक आयोजित होने वाले इस पर्व का रूप चैत्र वदि 5 तक वृहद् होता है। दूरस्थ प्रदेशों से रामसनेही साधु एवं गृहस्थ शाहपुरा में उपस्थित होते हैं और अन्य दर्शकगण भी पर्व में सम्मिलित होते हैं, जिससे यह उत्सव एक मेले का रूप ले लेता है। 5 दिनों तक मेला रहता है, जिसमें जागरण, वाणी-पाठ, नामप्रताप तथा अणभैवाणी का पाठ होता है।

इस अवसर पर अपराधी रामस्नेही साधुओं के प्रकरण पर भी महंत द्वारा निर्णय किया जाता है। साधुवेश धारण करने वाले व्यक्तियों की दीक्षा भी इस अवसर पर आयोजित होती है। इस महोत्सव का नामकरण फूलडोल कैसे अस्तित्व में आया, इसके सन्दर्भ में समकालीन रचनाकार तथा अन्य व्यक्तियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। कप्तान वेस्टमेकॉट ने फूलों के झूले का अर्थ व्यक्त करते हुए इसे श्रीमद्भागवत पुराणगत बताया है। वेस्टमेकॉट ने ऐसा ही पर्व बंगाल तथा भारत के विभिन्न भागों में होना भी बताया है, जिसमें चैत्र अथवा वैशाख की पूर्णिमा की रात में भगवान् को फूलों से सजाकर झुलाते हैं। वस्तुतः वेस्टमेकॉट की विचारधारा संदेहास्पद ही रही। स्वामी रामचरण के जीवनीकार जगन्नाथ ने अपनी समकालीन रचना 'फूलडोल-समाद' में महोत्सव मनाने के कारण तथा नामकरण पर निम्नानुसार प्रकाश डाला है, जो उचित प्रतीत होता है :-

ऋतु बसंत फागुण में होई। पूरनवांसी जानूं सोई॥
सो दिन तो असुरन को होई। ग्रह प्रहलाद नू जारे सोई॥
रामकृपा प्रहलाद न जरिया। फूलडोल ता पीछे करिया॥
देवन आई पोहोप बरसाये। फूलडोल ता नाम कुहाये॥

अर्थ : बसंत ऋतु के फाल्गुण माह की पूर्णमासी असुरों का दिवस है। असुरों ने प्रहलाद को जला देना चाहा, किन्तु भक्त प्रह्लाद बच गया। इससे देवताओं को अपार हर्ष की अनुभूति हुई और आकाश से उन्होंने पुष्प वर्षा की। इसी पुष्प वर्षा को फूलडोल कहा गया है। वस्तुतः फूलडोल महोत्सव होली पर्व का परिमार्जित स्वरूप है, जिसे भक्त प्रहलाद के उद्धार पर देवताओं द्वारा अभिव्यक्ति हर्ष की स्मृति कहा जा सकता है।

फूलडोल परम्परा का प्रारम्भ : फूलडोल महोत्सव का प्रारम्भ सर्वप्रथम भीलवाड़ा से हुआ जहां स्वामी रामचरण के प्रमुख शिष्यों देवकरण, कुशलराम तथा नवलराम के मन में होली के दिन प्रह्लाद कथा वाचन की उत्कंठा उत्पन्न हुई, तद्नुसार कथा वाचन के बाद प्रसाद वितरण किया गया। रात्रि के समय नगर के मध्य एक ऊंचा आसन निर्मित कर स्वामी रामचरण को पधारने की प्रार्थना की गई। रात्रि में स्वामीजी ने नगर में पधार कर सत्संग किया। रात्रि भर कथा और नाम स्मरण होता रहा। इस प्रकार रात्रि-जागरण के बाद प्रातःकाल स्वामीजी साधुओं सहित रामद्वारा लौट आये तथा अन्य सत्संगी अपने-अपने घर गये। कालांतर में प्रति वर्ष होलिका पर्व के समय रामसनेही संतों का यह सांस्कृतिक पर्व फूलडोल इसी प्रकार महंत की उपस्थिति में आयोजित होता रहा।

शाहपुरा में फूलडोल महोत्सव : स्वामी रामचरण ने शाहपुरा नरेश के आग्रह पर भीलवाड़ा से शाहपुरा आकर एक छत्री में निवास किया। तद्नुसार स्वामीजी को शाहपुरा का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। फूलडोल का समय आने पर राजा भीमसिंह ने अपने राज्य-प्रबन्ध के अन्तर्गत महोत्सव की व्यवस्था का उत्तरदायित्व मंत्री शालिग्राम व्यास को सौंपा। पूर्णमासी के दिन नगर के मध्य एक ऊंचे आसन का निर्माण किया गया, राजा भीम तथा उनकी माता ने आमंत्रित कर नगर में लाने हेतु मंत्री शालिग्राम को भेजा। शालिग्राम स्वामीजी के आवास स्थल गये। स्वामी को निवेदन कर अन्य रामसनेही साधुओं सहित उन्हें नगर में ले आये इस प्रकार रात्रि जागरण का आयोजन हुआ। स्वामी रामचरण जहां निवास करते, उसी स्थान का फूलडोल महत्वपूर्ण हो जाता। तद्नुसार कालांतर में शाहपुरा का फूलडोल महोत्सव प्रसिद्ध हो गया।

उदयपुर में फूलडोल महोत्सव : जैसा कि पूर्व में उल्लेखित है कि रामसनेही संप्रदाय को मेवाड़ के शासकों का भी आश्रय प्राप्त होता रहा, तद्नुसार उदयपुर में महाराज अरिसिंह (वि.सं. 1817-1829) ने स्वामी रामचरण के शिष्य देवकरण को दुशाला तथा अन्य साधुओं के लिये 300 पगड़ियां भेंट स्वरूप प्रदान कर रामसनेही संतों का सम्मान किया। महाराणा को संप्रदाय के सिद्धान्तों से सहमत करवाने में राज्य के प्रधान अमरचंद बड़वा की प्रमुख भूमिका रही। महाराणा भीमसिंह (वि.सं. 1834-1885) की पुत्री अजब कुंवर रामसनेही संतों की परमभक्त थी। राजकुमारी ने रामद्वारा (उदयपुर) के महंत साधुराम को 'मोक्ष वैराग्य प्रकरण' नामक हस्तलिखित ग्रंथ की एक नवीन प्रति भेंट की। महाराणा स्वरूपसिंह द्वारा शाहपुरा मंहत नारायणदास को प्रेषित पत्र से महाराणाओं की रामसनेही संतों के प्रति आस्था सम्मान तथा संतों की पदप्रतिष्ठा का बोध होता है। उक्त पत्र का आशय इस प्रकार से है :-

"सर्व ऊपमा बिराजमान तथा अनेक ऊपमा योग्य महाराजधिराज महाराज श्री श्री श्री श्री श्री नारायणदासजी हजुर सेवक स्वरूपसिंह का श्री राम मालुम हो। आप दिग्गज हैं, पूज्य हैं, आप मेवाड़ में बिराजमान हैं सो मेरा मन प्रसन्न हैं, जिस दिन आपके दर्शन करूंगा, वह दिन मेरे लिये आनन्ददायक होगा, वहां अन्य साधुओं को मेरा राम-राम मालुम हो।" वि.सं. 1930 (1874 ई.) में महाराणा शम्भूसिंह के अनुरोध पर महंत हिम्मतराम फूलडोल महोत्सव मनाने शाहपुरा से उदयपुर आये, महाराणा ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया और उन्हें नौलखा बाग में ठहराया। इस प्रकार वि.सं. 1993 के फाल्गुन माह में महाराणा भूपालसिंह के आग्रह पर शाहपुरा से महंत निर्भयराम फूलडोल महोत्सव मनाने उदयपुर आये। मेवाड़ राज्य के दरबारी प्रबन्धकर्ता की एक डायरी (दैनिकी) महंत की उक्त उदयपुर यात्रा की साँस्कृतिक झलक प्रस्तुत करती है, जिसके अन्तर्गत महंत के स्वागतार्थ विशिष्ट आचार-संहिता का निर्धारण तथा राज्य की ओर से महंत को शाही सुविधाऐं उपलब्ध करायी गई। महंत को आमंत्रित करने हेतु मेवाड़ राज्य का एक दूत महाराणा का निमंत्रण लेकर शाहपुरा गया।

महंत के उदयपुर आगमन पर नगर सीमा पर फाल्गुन सुदी 8 को दो असैनिक अधिकारी महंत की पेश्वाई कर उन्हें उद्यान वाटिका 'चंपाबाग' स्थित महल ले आये। सायंकाल महंत की मिजाजपुरसी के लिये महाराणा आये, जहां महाराणा ने महंत को दण्डवत कर अभिवादन किया। प्रत्युत्तर में महंत ने 'रामजीराम' कहते हुए महाराणा का स्वागत किया। महाराणा ने 5 सेर बताशे का थाल महंत को भेंट किया। कुछ देर

वार्तालाप के पश्चात् महंत ने महाराणा को प्रसाद प्रदान किया और महाराणा विदा हुए। फाल्गुन सुदी 9 को महंत के नगर प्रवेश के अवसर पर उनका स्वागत किया गया। श्वेत पगमंडा बिछाया गया, निकल स्थित 'नई संगम' भवन में एक मंडप निर्मित कर वहाँ महंत को बिठाया गया। महाराणा के भाई ने महंत के दांये पैर के अंगूठे को दुग्ध स्नान कराने के पश्चात् केसरादि चढ़ाकर चरण पूजन किया तथा महंत को प्रसाद भेंट किया। महंत के साथ दो चँवरधारी, एक छत्रधारी तथा 300 रामसनेही साधु खड़े थे।

फाल्गुन सुदी 15 को रात्रि जागरण का आयोजन हुआ, वाणी पाठ तथा सत्संग हुआ। चैत्र वदि 1 को प्रातः 9 बजे फूलडोल आयोजित हुआ। राजमहल से प्रसाद के 25 थाल एवं रामसनेही पंथ के धार्मिक ग्रंथ पर चंवर ढुलाते हुए शाही प्रबन्ध के अन्तर्गत नई सराय लाये गये। कुछ देर पश्चात् महाराणा आये, दण्डवत् करने के बाद महंत को 5 सेर बताशे भेंट किये। महंत ने दांये पैर के अंगूठे को दुग्ध स्नान तथा केसर चंदनादि से पूजन के पश्चात् महाराणा ने महंत की कपूरादि से आरती की। महाराणा ने महंत पर 5 रुपये न्यौछावर कर उन्हें एक शॉल ओढ़ाया। इसी समय महंत को प्रसाद के थाल तथा मलमल वस्त्र के 4 थान भी भेंट किये। दरबारी प्रबन्धकर्ता ने अन्य साधुओं के मस्तक पर केसर का तिलक लगाकर उन्हें भी चादरें ओढ़ाई। कुछ देर वार्तालाप के पश्चात् महंत से प्रसाद ग्रहण कर महाराणा विदा हुए। इस अवसर पर राज्य की ओर से महंत तथा साधुओं को पंचमिष्ठान भोज दिया गया तथा 300 साधुओं को मलमल वस्त्र की चादरें वितरित की गई।

इस प्रकार महंत निर्भयराम ने फाल्गुन सुदी 8 से वैशाख वदि 7 तक महाराणा के आतिथ्य सत्कार में उदयपुर निवास कर फूलडोल महोत्सव सम्पन्न किया। इस दौरान बेदला ठिकाने के सरदार, शाहपुरा के सरदार, रानी, प्रधान तथा महाराणा के भाई द्वारा भी फूलडोल प्रायोजित किये गये, जिसके अन्तर्गत उक्त व्यक्तियों ने रुपये अथवा अपने प्रतिनिधि को भेजकर प्रसाद, वस्त्रादि महंत को भेंट कर उनका पूजन किया तथा अन्य साधुओं को भोज दिया। वैशाख वदि 7 को महंत निर्भयराम अपने साधु तथा सत्संगियों के साथ उदयपुर से प्रस्थान कर गये। वस्तुतः फूलडोल महोत्सव आज भी रामसनेही संतों की एक साँस्कृतिक निधि है।

सन्दर्भ सूची :-

1. मेनारिया, मोतीलाल, राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ 68-69
2. ब्रह्मसमाधिलीन जोग, ग्रंथांक 2961, रा.प्रा.वि.प्र., उदयपुर, पृ. 139-40 (वि.सं. 1868)
3. वही, पृ. 144
4. वही, पृ. 152-53
5. रामसनेही संदेश, वर्ष 6, अंक 1, वेस्टमेकॉट का रामसनेही संप्रदाय विषयक लेख का हिन्दी अनुवाद (डॉ. ब्रजमोहन जावलिया) पृ. 22
6. पाण्डेय माधवप्रसाद स्वामी रामचरण (जीवनी एवं कृतियों का अध्ययन)
7. डॉ. राजेन्द्रनाथ पुरोहित रा.प्रा.वि.प्र., उदयपुर का बड़ा रामद्वारा ग्रंथ सर्वेक्षण सूची, वर्ष 1985-86
8. पुरोहित देवनाथ का हस्तलिखित ग्रंथ, पृ. 230
9. श्यामलदास वीरविनोद, भाग-2, पृ. 2117
10. दरबारी प्रबंधकर्ता, पुरोहित देवनाथ (उदयपुर) की डायरी, वि.सं. 1993

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
शाखा उदयपुर

❑❑

सन्त साहित्य का सांगीतिक पक्ष-सुखोचरित्र

— रामदत्त थानवी

संगीत को ब्रह्मसहोदर कहा गया हैं। ब्रह्म को पहचान कर आनन्द प्राप्त करने में संगीत की जो साधना की जाती है, उसमें तन्मयता और एकाग्रता के साथ हृदयतंत्री को गुंजारित करते अन्तर्नाद का अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि सन्त लोग 'वाणियों' के माध्यम से संगीत के लय में ब्रह्मतत्व को प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं। वेदों में जो स्तुतियाँ या प्रार्थनाएं कही गई हैं वे सभी संगीत लहरी में अनुरंजित रही हैं, यहां तक कि सामवेद तो संगीत का ही ज्ञेय वेद माना जाता है।

सन्तों ने वेदान्त के कथन को लोकभाषा में और लोकगीतों में गा-गाकर सत्संग के माध्यम से मन और आत्मा का अन्तर प्रगट करते 'आत्माराम' से मिलने के लिये पदों का सहारा लिया। जोधपुर में महा. विजयसिंह जी, महा. मानसिंहजी और महा. तखतसिंहजी ने स्वयं संगीत के माध्यम से भक्तिरस का आनन्द उठाया। चाहे वह कृष्ण की पुष्टिमार्ग की भक्ति हों, नाथभक्ति हो अथवा राम-कृष्ण की परम्परा की भक्ति हो। संगीत के सप्तस्वरों के साथ जो ध्वनि कानों में जाती है वह एक ओर हृदय को आलोकित करती है तो दूसरी ओर मस्तिष्क पर अपना जादू छोड़ कर वंशीकरण से उसको प्रभावित कर देती है।

जोधपुर के अगणित हस्तलिखित ग्रन्थों में 'सुखोचरित्र' करीब 312 पन्नों अर्थात् 624 पृष्ठों का है। 'श्री सुखोचरित्र' की भाषा राजस्थानी (मारवाड़ी) है तथा विषय कथा के अन्तर्गत राजा परीक्षित को श्री सुखदेवजी द्वारा 'ज्ञान-वैराग्य' दिया गया है। श्री मद्भागवत पुराण 18 पुराणों में से एक महत्त्वपूर्ण पुराण है, जिसमें भगवान् विष्णु के अवतारों का वृत्तान्त है, जिसकी परम्परा हिन्दी भाषा और प्रान्तीय भाषाओं में बराबर चलती आ रही है। इस ग्रन्थ में दोहा, चौपई, लावणी तथा विभिन्न पदों के छन्द वैषम्य से संगीत माधुरी प्रवाहित की गई है।

'श्री सुखोचरित्र' के रचयिता सन्त गिरधरजी की वंशावली का वर्णन करते हुए

पण्डित पुरुषोत्तमदास पुरोहित ने बताया है कि श्री गिरधरजी के पूर्वज जोधपुर पुष्करणा ब्राह्मण समाज के पोतेदार पुरोहित खाँप के थे।

जैदेवजी (1)
|
गुलाबचन्दजी (2)
|
लदाजी (3)

चिमनीरामजी

प्रभूलालजी (4)
मनोहरलालजी (5)
कृपाकृष्णजी (6)
गोपीनाथजी (7)
गिरधरलालजी (7)
रामचन्द्रजी (9)

सन्त गिरधरलालजी के घर में वंशानुगत भक्ति का वातावरण रहा और पुष्टिमार्ग की निजसेवा चलती रही और संगीत का भी इस वंश में परम्परागत चलन था। इनके पिता गोपीनाथजी भी अच्छे संगीतज्ञ थे। इनसे ही संगीत का ज्ञान और शिक्षा प्राप्त हुई। इन्हें मारवाड़ में प्रचलित रागों का अच्छा ज्ञान था और ये स्वयं गाया करते थे।

स्व. प्रो. हरनारायणजी उपनाम 'गबजी' से मालूम हुआ कि गिरधरलालजी सन्त स्वभाव के शान्त व्यक्ति थे, जो घर में घण्टों पूजा में निमग्न रहते थे और संगीत की रागों से भजन गाया करते थे। वे तानपूरा बजाते थे और रागों के विविध रूप में मन के भावों को अभिव्यक्त करते रहते थे। विष्णु भक्ति आपके रग-रग में थी, अतः कथावाचन के उद्देश्य से आपने सुखदेव परीक्षित की कथा को संगीत में ढाल दिया। आप अच्छे उपदेशक थे, अतः संगीत में कथा को गाकर सुनाते और भाषा में उनका विवेचन करते थे।

श्री गिरधरलालजी ने यह श्री सुखोचरित्र वि.सं. 1960 के माघ वदी प्रतिपदा को प्रकाशित किया। अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में आपने लिखा "अथ श्री सुखोचरित्र प्रारम्भ-गढ़ जोधपुर निवासी पुरोहित गोपीनाथ के पुत्र गिरधरलाल पुराणों की छाया सुं कर उच्चारण किया-वि.सं. 1960 माघ वदी[1]।"

'श्री सुखोचरित्र' पुराण के आधार पर संगीत-पदों में लिखा गया, जिसमें कई कथाओं का समावेश किया गया है, जैसे शिव व्यावला, व्यास देव की कथा, जनक को गुरु बनाने की कथा, रंभा-शुक संवाद, शृंगी ऋषी के गले में सांप डालने की कथा, परीक्षित को शाप, सुखदेवजी का ज्ञान, नैसर्गिक तत्त्वों की पूजा, लोकव्यवहार का धर्म, गरभ गीता का ज्ञान, गीता सत्या सत्यसार कथा, कृष्ण अर्जुन संवाद, स्तुति, अवतार कथाओं का वर्णन-ध्रुव चरित्र, नरसिंह अवतार, परसराम अवतार, कृष्णावतार, सहस्रबाहु की कथा, नारद भ्रम कथा, मोरध्वज कथा, राजा हरिश्चन्द्र कथा, नल-दमयन्ती कथा, परीक्षित का भ्रम, कृष्ण जन्म कथा, उषा अनिरुद्ध कथा, जादव स्थल वर्णन, कृष्ण अन्त, कलयुग कथा और अन्त में राजा परीक्षित को ज्ञान प्राप्ति।

इन कथाओं के वर्णन में मुख्यतः निम्नलिखित रागों का प्रयोग किया है-राग देस, विलावल,जंगलो, कानड़ो दरबारी, मारु, तैलंग, बरवो, हुजाज, जैजैवन्ती, काफी, भैरवी, आसावरी, पीलू, कालिंगड़ा, मल्हार, कल्याण, ऐमन, भोपाली, सांरग, पिहाग, झिंझोटी, भीमपलासी आदि और ताल में कव्वाली, पंजाबी, षेरवो, नकटोदादरो, अदो, दादरो, दीपचन्दी, ध्रुपद आदि। इस प्रकार यह ग्रन्थ संगीत का एक अच्छा खजाना है और ये रागें केवल रागें ही नहीं हैं वरन् विषय और वातावरण को प्रभावोत्पादक बनाने का माध्यम भी हैं।

'श्री सुखोचरित्र' वैसे तो प्रबन्ध काव्य है ही फिर भी इसको यदि महाकाव्य की कसौटी पर कसा जाये तो उस पर भी यह खरा उतरता है। प्रथम तो मंगलाचरण, फिर अध्याय या वर्ग खण्ड का विभाजन, विषय का परिवर्तन, छन्दादि का वैविध्य, अलग-अलग रसों की आनन्द परन्तु मूल रस की संचारी भावों से निष्पत्ति। इस प्रकार सन्त-साहित्य की भागवत परम्परा में श्री सुखोचरित्र एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का मंगलाचरण :

दोहा : ***श्री सारद सरस्वती निमो, निमो निमो गनराज।***
हरी ब्रह्मा सिव सब निमो, सकल सुधारण काज॥
बावन चौसठ भरत को, जुल जुल लागूं पाय।
आरंभ्या पूरण करो, दीजै भेद बताय॥

ग्रन्थ महिमा का वर्णन :

सुखोचरित जो सुनें, हरी चरणां चित लाय।

जनम मरण का दुख हरे, पाप दूर हो जाय॥
सुख मान्यां दुख दूर है, दुख मान्यां सुख जाय।
ग्यानी ग्यांन विचारलो, मन का सुबा गभाय॥
भगतन तजै न श्रद्धता, दुष्ट न तजै न द्वेस।
करता रहे न टेचरी, दिन दिन अधिक कलेस॥

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यह मोक्ष वैराग्य का मार्ग तो दिखलाता ही है, साथ ही जीवन के सामाजिक नियमों की अनुपालना और व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा भी देता है। इस ग्रन्थ की कथाओं का एक सम्बन्धित क्रम है और हर कथा समाप्त होकर अगली कथा की भूमिका तैयार करती रहती है, जैसे :

कहत परीष्यत हे मुनी, प्राण के हो गुण सार।
कौन भगत वल्लभ हुआ, कीउं धारिया अवतार॥

इस प्रश्न के उत्तर में अवतार वर्णन करते भक्त ध्रुव की कथा का विविध पदों और संगीतमय रागों में वर्णन किया गया है :

(राग जंगलो-ताल दादरो)

छतीस हजार वरस के बाद, ध्रुव तन को त्याग दिया।
भई कृपा हरी आय के, अैसा जो आहाग दिया।
पोंछा दिया सुर लोक में, अच्छा सापाग दिया।
राम रजा से भगत का रे, जागता हिया॥

इस प्रकार नृसिंह अवतार का कारण पूछा और उसकी कथा पदों में राग-रागनियों में गेय बनाई गई :

(छन्द-लावणी) राग-कल्याण-ताल-खरेवो

सनकादिक पर ध्यान चला है, हरि मिलने का मौका है।
जाय खड़ा वैकुण्ठ दुवार पै, इजै पिजै ने रोका है॥
सनकादिक ने लाख कहा पिण, इजै पिजै नहीं धारे है।
हे मूरख समझौ मनमांहि, मोय रोकण में धोका है।
यहां रेणे तुम जोग्य नहीं हो, मिरत लोक पे वास करो।
असुर योनी में जन्म लेयके, हरि चरणां का पास हरो॥

(राग मारु-ताल षेरवो)

सनकादीष ओर मुंनी कस्यप के केहेणे से सुत जाया।
ईजै विजै अवतार धारके दती उद्र में आया।
गनिक नग्र का तोड़ जिनोने धुज मिल नाम धराया।
मृग कस्यप हिरणाषकेय के राम रजा धुज छाया॥

प्रह्लाद पर हिरण्यकश्यप का भयंकर अत्याचार ही नृसिंह अवतार का मूल कारण है- इन अत्याचारों की पीड़ा का वर्णन करते सन्त कहते हैं :

दोहा : *ज्हेर पावतां मात को, भई मुरछा गत आय।*
जिंदा देष प्रेलाद को, लीना कण्ठ लगाय॥
मृगकश्यप मन सोचियो, छटा देष पिसताय।
अब मारुं में हात से तब कुण करसी साय॥

(राग जंगलो-ताल षेरवो)

पुत्र को बांद के लीना षड़ग कर धार।
कहां हरी तेरा वेग बुलावो, अब देता हूं मार।
घट घट व्यापक रूप वोई है, त्यूं क्यूं करत अंबार।
षड़ग वता कर षंब वतायो, भीतर है के नाय।
हेला दे के तुरत् बुलावो, कब करसी वो साय।
हरि हम से नहीं तनक दूर हे लिनि समादी धार।
हरि भगतन को उर में दीस्या, धर नरसिंह अवतार।
कर दरसन परसन होय मन में, मिले जो कंठ लगाय॥

परसरांम अवतार की कथा :

कथा को शुरू करवाने के लिये परीक्षित से प्रश्न करवाया जाता है और उसके उत्तर में कथा वर्णित की जाती है, जो विभिन्न राग-रागनियों और तालों में गेय रहती है, जैसे :

दोहा : *परसरांम अवतार की केहो मुनीश्वर आप।*
इकीसवार निरषतरी करी कौन सा पाप॥

(राग मारु-ताल षेरवो)

कीनो विचार जबे हरी मन में यह अवतार बनाया।
जन्द रेणका की कुष जन्मे, परसरांम होय आय।
मास वेसाष सुकलप्य जानो, तीज वोई दिन आई।
चारभुजा अवतार धार के, घर घर बटी बधाई॥

इस कथा का विस्तार विविध रागों के द्वारा पदों से गाया है। रेणुका ने अपनी बहिन को अपने आश्रम में भोजन के लिये बुलाया। जमदग्नि के आश्रम में जब कामधेनु व कल्पवृक्ष की कृपा से अच्छा भोजन बना कर परोसा गया तो राजा ने कामधेनु आदि को छीन लिया :

कहेन लगे सब को राजा, ये है छीन लेवो इनका साजा।
सुनत हुकम दल आन खड़े, केहे रांम राजा सब पांय पड़े॥

परसराम का क्षत्रिय संहारण एवं राम अवतार के बाद चले जाने का वर्णन किया है :

(राग तेलंग-ताल षेरवो)

दोऊ कर जोड़ चरण सिर नाई।, चाप परसह मदई है भगाई।
रूप देख मुनी ग्यांन विचारयो, अपनो आपो आप संषारयो।
हो गये रांम कांम तजदीना, चित दे चरण म्हे कर लीना।
रांम रजा से फेर सिर नाये, कर परणांम मुनि वनको सिधाये॥

इसके बाद कृष्णलीला की कथा सुनाते राग मारु में वर्णन किया। यह लघु इतिहास ही है :

पारब्रह्म वर पायो :
रुखमणी, जांमवंती, सतभोमा, सुभद्रा भद्रांणी।
कालन्द्री, लक्ष्मी, अरु वृन्दा, ये है आठु पर रांणी॥
दस दस पुत्र एक एक कीन्या, ये हे सबको वर दीना।
नीराकार निरलेप निरंजन ईऊ जगमाया बीनो॥

इसी कथा में नारद की कथा भी पूछ ली गई :

बोलत राजा हे मुनि, लगी बोतसी व्यास।
भरम के हो नारद तणो, हिड़दो होय खुलास॥

दुहा कथा : नारद केवे श्री कृष्ण को, अब मोय देवो परणाय।
के कोई रांनी बगस दो, कीजे एक उपाय॥

(राग देवगंधार-ताल दादरो)

क्रसन मुनि आज जमुना को नाण जाते हैं।
ये विचार दिल में धार चुषली मार साते।
चरत कीनी दोनों ने मोद ही भरे, पेली बहार आयगो।
सो गोठ ही करे, कहे रांम रजा से मुनि को मगर ने हर किया।
पेली तीर छोड़िया वांसे तो चल दिया॥

दोहा : हरि इच्छा प्रबल भई, नारद की भई नार।
लिया दूसरे घाट से, औरत का सींगार॥
इतने आयो पारथी, अपने घर ले जाय।
बालक प्रगटिया सात ही, धोण पोतड़ा जाय॥

कथा की समाप्ति :

कहत क्रसन नारद सुनो, बात साच के कूर।
तेरीगत कुंण लख सके, रेहो दूर के दूर॥

इस प्रकार राजा मोरध्वज, राजा हरिश्चन्द्र, नल-दमयन्ती की कथा का संगीत में वर्णन किया :

दोहा चौपाई : अपनी सुता बुलाय के, भीव लगे ईऊ केहेण।
काहां रेहेता नर नरपती, के हो साच मोये वेण॥

सुनहो तात केहुं तोये वाता। कोप कियो त्रिभुवन को नाथा॥
छुटा भवन गबन वन कीना। सोवत नाथ साथ तज दीना॥
किया केहु कछु केईय न जावे। उबक कलेजां मुंह को आवे॥
कर विचार नृप मन में ठांनी। दिया हुकम सबके मन मानी॥
पुनर व्याहाव दमयन्ती व्यावो। देस देस का भूप बुलावो॥
बिलकुल नल आवे कोई संगा। मिलसी दमन होय चित चंगा॥

देस-देस को पत्र पढ़ाया। राम रजा से ब्याह रचाया॥

नल दमयन्ती का मिलन हो गया, चौसर का खेल खेला, नल जीते और दमयन्ती को लेकर पुनः अपने नगर को लौटे :

नल जीत्या पुसकर अब हारे। मन में सोच करत अति मारे॥
केहे नलराज काज मय सारो। छाड़ पुलक अब धाम सि़धारो॥
अपने घर गये पुष्कर राजा। नल का सीध होय सब काजा॥
केरता रजदीं नगर आयो। राम रजा निसचय सुख पायो॥

अगली कथा के लिये परीक्षित से शंका कहलाई और उसका समाधान कर अवतार कथा का वर्णन करते कहा कि "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।"

दोहा : *कह राजन सुखदेव सों, सासन सुणया पुरांन।*
तोई काल हेत्तांथीये, जीनका केऊ परवांन॥
एक पुरांण भूं चोषंडी, दूजे केता गोल।
तीजे केता पंच षंडी, भई जगत में पोल॥
पचास क्रोड़ जोजन यही, कोई केहेक सती जांन।
चार सेहस नवसो सिड़सठ, जोतक लिखे प्रमांण॥
कोई कहे चन्द्र ऊंचास में, कोई कहे भानूं होय।
कोई कहे आवस लक्ष की, कोई सेस तब जोय॥

इस प्रकार समस्त पुराणों का सारांश इस कथा में सुनाकर राजा परीक्षित का भ्रम निवारण करते सुखदेव मुनि से कहलवाया और युगों का सार बतलाते कहा :

सतजुग वरस आंक सम जानो। दुवापर निश्चै इतना मानो।
त्रेता जुग आंक में नाई। कलिजुग बरस आंक के तांई॥
चारु जुग इतना ठेराया। जिनका भेद कोई नहीं पाया।
आद अंत का वो है स्वामी। रांम रजा कहे पुले हरांमी॥

कृष्ण जन्म कथा का वृत्तान्त इस प्रकार शुरू किया :

दोहा : *राजा कहे सुखदेव से, चरण कमल चित लाय।*
कंस दुष्ट कैसे हरियो, दो मोये आज बताय॥

(राग जंगलो-ताल षेरवो)

उग्रसेन जब व्याव रचायो, सुता जांन सबको समजाये।
अपनी सुता देवकी ब्याके, दांन मांन दीना मनचाये।
परण पदारे वसुदेवजी, कंस बने पोछावण जाये।
ऐसी वांणी भई अंबर में, सुनो दुष्ट कीउ गरबायो।
इनको सुत तोयन कुं मारे, वे तो जतन करो सुख पाये।
करमे खडग धार कंसासुर, बेनको हरण करण हित आये।
वसुदेवजी ऐसे उठ बोलया, ईनका सुत सब मार गिराये।
जब उर धीरज धार कंस ने, नग्री का सब गनिक बुलाये।
मेरा काल कहो तुम जलदी, राम रजा से सब घबराये॥

इसप्रकार देवकी के पुत्रों की हत्या, कृष्ण का नन्द के यहां ले जाना, कृष्ण का गौए चराना, इन्द्र का मान मर्दन कर कंस को मारने की कथा सुनाई।

(राग मारु-ताल षेरवो)

पापी मार मेट दुख जनको, रीत करी सरसाई।
उग्रसेन को राज देयके, पुसषां में वरसाई॥
इतना रोज व्रज में वीता, संग कुषज्या के छाया।
रांम रजा हरि पोंछ द्वारका, कंचन म्हेल झुखाया॥

इस कथा के साथ तत्त्वसार का वर्णन किया और उषा अनिरुद्ध की कथा का वृत्तान्त वर्णन किया। उषा वाणासुर की कन्या थी, जिसे उसने भगवान् शिव की तपस्या के लिये भेजा। उषा ने भगवान् ने कहा :

(राग जंगलो-ताल दादरो)

हुकम ले के तात का पढणे को आई हूं।
दण्डवत मैं करके ढाढ़ी, हुकम सिर पर चाढ़ी, गुण लेने चाहाई हूं॥
दीजिये यह दान मुझको, जोड़ कर कहती हूं तुमको।
उनके भुज को देख के मैं, बहु डराई हूं॥
सिवजी ने उपदेस दीना, उषा पन में ब्रह्म चीना।
प्याला पीना प्रेम का, बहु रस भराई हूं॥
ग्यांन ध्यांन और गान सीखी, वाजा अधिक वजाण तीखी।

रांम रजा सूं गुण की नीकी, बहु सराई हूं॥

दोहा : *कोई दिवस के बाद में, उषा वीण बजाय।*
सिव सग्ती के सामने, संगीत दिया सुनाय॥

उषा को वरदान मिला परन्तु बाणासुर नाराज हो गया और अनिरुद्ध पर अत्याचार किया और भगवान् कृष्ण से लड़ने आया। भगवान् शिव भी बाणासुर के पक्ष में भगवान् कृष्ण से युद्ध करने लगे परन्तु बाद में क्षमा मांगी :

चौपाई : *दीन वचन सुण तोय उबारुं। आयो सरण मरण सूं टाइं।*
यह अपराध क्षमा तोय किना। प्रांण दांन मैं तुमको दीना।।
भगतन को मैं दुख नहीं देता। जिनकी सरण तुम्हें लेता।।
जो ये कथा सुणे नर नारी। तप ही व्यापे इदस करारी।।
नित्य एकान्त तेज रा कोई। सुणत न छोड़ दुर जठ होई।।
तेरा मेरा कोई नांव कुं थापे। जिनको कष्ट क्यूं नही व्यापै॥

(उषा अनिरुद्ध मिलन-राग मारु)

घर घर मंगलाचार होत है, वेद रीत वरताई।
रुषमण लाड कर उषा को, लीनो गोद बैठाई॥
घी गुल में डाल कर डाल के रुपिया, लेकर मूठ भराई।
घर घर वंदरमाल घुंघवी, देव पुसष वरसाई॥
अपने अपने भवन गये सब, हरी चरणां चित लाई।
अनिरुद्ध उषा सेन किया जब, पड़दा दिया कराई॥

इसप्रकार इस कथा को संगीत माधुरी में वर्णित किया गया।

अन्त में यादवों के नाश और कृष्ण के मरण की कथा सुनाकर राजा परीक्षित को ज्ञान दिया कि संसार में भगवान् अवतार लेते हैं तो उनको भी जन्म-मरण की गति को प्राप्त करना ही होता है। इस कथा के बाद कलयुग वर्णन किया गया :

दोहा : *केहेत परीक्षत है मुनि, कलु केहो परमान।*
हरी भगति चितदे सुणो, कबहु न रै अन्जान॥
कलु में ऐसे मानवी, दया धरम हीन।
कम आयुस कपटी घणा, सुष कारज नहीं कीन॥

(राग जंगलो-ताल दादरो)

केहता जो हे सुखदेव के, कलु घोर आवेगा।
उत्तम वरण तीन ज्हां में, कौन पायेगा॥
करम धरम छाड़के, सुदर कहलावेगा।
ऐकाकार होवसी फेर, कोण न्हावेगा॥
राजा चोर मिल प्रजा का, धन चुरावेगा।
रांम रजा से धन के लिये, न्याव गमावेगा॥

कलियुग का वर्णन करके इस ग्रन्थ को समाप्त करने के लिये सन्त गिरधरजी ने परीक्षित के ज्ञान का वर्णन करके 'सुखोचरित्र' को सम्पूर्ण किया :

दोहा : *कहत परीक्षत हे मुनि, कथा सुणी धर ध्यांन।*
भूत भविष्यत वरत की, निसच्चे तत्त्व पीछांन॥
ब्रह्म चीन्ह समाधि अरु, मन वस साहस सार।
अ ाम निगम वाकब हुवा, लीना सत्रु मार॥
क:त मुनि राजन सुंणो, तक्ष आवसी आज।
करणा है सो कर लेवें, सकल सुधारो काज॥

अन्त में यही कहना होगा कि सन्त-पुरुष संसार की माया से विमुख रहकर, सांसारिक पीड़ाओं से विमुक्त रहकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयास करते हैं। सन्तों का जीवन और भगवान् के अवतारों की कथा सांसारिक भ्रम का निवारण करके लोगों का मार्गदर्शन करते हैं। यह ग्रन्थ एक प्रकार से महान् महत्त्व की कृति है। जिसमें अन्त में कहा है :

मुनि की राजा आप करत है, आरतियां तपधारी॥

❑❑

सन्त दादूदयाल की युगानुरूपता

— डॉ. हरमल रेबारी

राजस्थान की पुण्यभूमि वीरों के शौर्य, सतियों के सतीत्व एवं सन्तों की साधना स्थली है। इन तीनों के अपूर्व सङ्गम से समग्र भारतवर्ष में राजस्थान प्रदेश के प्रति विशेष श्रद्धाभाव है। यहाँ के वीर योद्धाओं ने स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये अपने प्राण न्यौछावर किये हैं तो इस वीरभूमि की वीराङ्गनाओं ने अपनी आन-मान-मर्यादा एवं सतीत्व की रक्षा के लिये हँसते-हँसते स्वयं को धधकती हुई जौहर की ज्वालाओं में झोंक दिया। यहां अनेक आत्मद्रष्टा सन्तों का भी आविर्भाव हुआ, जिन्होंने मध्ययुगीन समाज में समुत्पन्न विविध सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों एवं मिथ्याचारों का प्रबल विरोध किया। इस समय जातीय भेदभाव एवं धार्मिक संकीर्णता की विष वल्लरी समस्त सामाजिक व्यवस्था को अन्धकारमय बना रही थी। राजस्थान में ऐसी विषम परिस्थितियों में सन्त दादूदयाल, रज्जब, लालदास, चरणदास, मावजी, जसनाथजी, जाम्भोजी इत्यादि ने अपने सदुपदेशों से जनसाधारण का चक्षुरून्मीलन कर समाज में अभिनव चेतना का संचार किया है।

सन्तों के उपदेश सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होते हैं तथा इनके सदुपदेशों की महत्ता आज भी निर्विवाद सिद्ध है। आज के भौतिकवादी युग में मानव आकण्ठ भोगविलासों में लिप्त हैं। नवनवीन वैज्ञानिक आविष्कारों एवं उपलब्धियों के बल पर वह ईश्वरीय विभूति के महत्त्व से पराङ्मुख होकर विचरण कर रहा है। वह भौतिकता की चकाचौंध में अनेक अमानवीय कृत्यों में लिप्त होते हुये मानवता से पतित हो रहा है। आज सर्वत्र जातिवाद और धार्मिक उन्माद के काले नाग अपने फन फैलाकर फुफ्कार करते हुये मानवता को डँसने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में त्याग, तपस्या, नैतिकता, सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिक सद्भाव, समानता इत्यादि मानवीय मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने वाले पुण्यात्मा सन्तों के उपदेशों की संप्रति पथभ्रष्ट एवं लक्ष्यविहीन मानव-समाज को महती आवश्यकता है।

सन्तप्रवर श्री दादूदयाल के उपदेश भी इसी श्रेणी में समाविष्ट हैं। इन्होंने अपनी सरल एवं सरस वाणी में उपदेश देकर तत्कालीन समाज में परिव्याप्त विविध रूढ़ियों, कुरीतियों एवं मिथ्याचारों का उन्मूलन करने का उद्योग किया और एक सीमा तक इसमें सफल भी हुये। आज भी सन्तदादू के सदुपदेशों का अनुसरण कर अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। या यों कहें कि दादूदयाल के उपदेश आधुनिक सन्दर्भ में पूर्णतया प्रासंगिक एवं युगानुरूप हैं। गुजरात प्रान्त में समुत्पन्न इस सन्त मनीषी ने राजस्थान को अपनी साधनास्थली बनाकर यहां की जनता का महान् उपकार किया है। ये अत्यन्त उदार एवं सहज साधक थे। इन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त जाति-पाँति, ऊँच-नीच, धार्मिक अंधविश्वास तथा अनेक सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की है। दादू ने अपने चिन्तन प्रवाह को समाजोन्मुख कर समाज को मनोज्ञ स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। मध्ययुगीन इस सन्त ने साम्प्रदायिक समस्या के समाधान का मार्ग प्रशस्त किया है। इन्होंने अतीव सरल शब्दों में कहा है कि हिन्दू-मुस्लिम का भेद मानव कल्पित है। हिन्दू और मुसलमान सभी के शरीरों में एक ही आत्मा का वास है :

सब हम देख्या शोध कर, दूजा नांहीं आन।
सब घट एकै आतमा, क्या हिन्दू मुसलमान॥[1]

इसी को स्पष्ट करते हुये दादू ने कहा है कि जैसे दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों कान, दोनों नेत्र बराबर हैं, वैसे ही हिन्दू-मुसलमान दोनों भाई हैं :

दादू दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान॥[2]

सन्त दादू मानवता के सच्चे पुजारी हैं। वे हिन्दू-मुसलमान के विवाद को व्यर्थ मानते हैं और बताते हैं कि जैसे पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, दिन, रात्रि, चन्द्रमा, सूर्य आदि परमात्मा के पंथ में संचालित हैं, वैसे ही हिन्दू-मुसलमान भी उसी एक ही शक्ति पर समाश्रित हैं :

दादू ये सब किसके पंथ में, धरती अरु आस्मान।
पानी, पवन, दिन, रात का, चन्द सूर रहमान॥[3]

इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों के भ्रम का निराकरण करते हुये सन्तदादू-

ने कहा है कि इन्होंने अपने-अपने मार्गों को श्रेष्ठ बताते हुये केवल विवाद वृद्धि ही की है। अविद्या रूपी ग्रन्थी में आबद्ध होकर इन सम्प्रदायों ने ब्रह्म के टुकड़े-टुकड़े कर आपस में विभक्त कर कलह को प्रोत्साहन दिया है। इन दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों को उपालम्भ स्वरूप उन्होंने कहा है :

दादू हिन्दू मारग कहैं हमारा, तुरक कहैं रह मेरी।
कहां पंथ है कहो अलह का, तुम तो ऐसी हेरी।।[4]
खण्ड खण्ड कर ब्रह्म को, पख पख लीया बांट।
दादू पूरण ब्रह्म तज, बंधे भरम की गांठ।।[5]

वर्तमान समय में धार्मिक एकता की महती आवश्यकता है। इस एकता के मार्ग में सबसे बड़ी जो बाधा है, वह यह है कि ईश्वर एक है, किन्तु उसके नाम अनेक हैं। कोई उसे राम कहता है, तो कोई अल्लाह के नाम से स्मरण करता है। अतः हिन्दू-मुसलमान का भेद उचित नहीं है। जब एक ही ईश्वर सभी जीवों में निवास कर रहा हैं तो यह भेद कल्पना कैसी?

दादू नारि पुरूष का नाम धर, इहिं संशय भरम भुलान।
सब घट एकै आतमा, क्या हिन्दू मुसलमान।।[6]

सन्त दादू के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के विचारों की आज के युग में महती आवश्यकता है। मन्दिर-मस्जिद विवाद आज एक राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर चुका है। आज का मानव राम और रहीम में भेद कर अनेक समस्यायें उत्पन्न कर रहा है। यदि उसकी समझ में यह आ जाए कि मानव चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, सबमें एक ही परमात्मा का वास है तथा मन्दिर और मस्जिद में उपासना के स्थान पर शरीर के भीतर अन्तःकरण को उपासना गृह मानकर भी उस प्रभु की उपासना सम्भव है[7] तो मन्दिर-मस्जिद के विवाद स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे।

इसी प्रकार जातिवाद का विष अत्यन्त घातक होता है। इससे मूर्च्छित व्यक्ति अपनी जाति के अतिरिक्त किसी अन्य के विषय में सोचना ही नहीं चाहता है। अन्य जातियों से वह स्वयं को विलग मानकर आचरण करता है। फलतः उसमें जातीय संकीर्णता एवं क्षुद्रभावों का समावेश हो जाता है। मध्ययुगीन समाज में जातीय भेद-भाव काफी बढ़ चुका था। जातिप्रथा के बन्धन प्रगाढ़ होते जा रहे थे। दादू ने समाज में व्याप्त असमानता की अतीव विनम्र भाव से आलोचना करते हुये सभी वर्णों को परस्पर प्रीतिपूर्वक

रहने का उपदेश दिया है।[8] जातिवाद की भ्रान्ति का दादू ने सयुक्तिक ढंग से सुन्दर निराकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि जैसे एक ही कूपजल के अनेक नाम हैं, वैसे ही एक आत्मा में नानाविध जातियों की कल्पना कर ली जाती है, किन्तु इस शरीर में बोलने वाले चेतन धर्मा आत्मा की कोई जाति नहीं है। अज्ञानपाश के विच्छिन्न होने पर आत्मा जाति रहित ब्रह्म में समाविष्ट हो जाती है :

दादू पानी के बहु नाम धर, नाना विधि की जात।
बोलणहारा कौन है, कहो धौं कहा समात।।[9]

जातिवाद के कट्टर विरोधी दादू ने मानव की योग्यता की कसौटी उसके वंश या पद को न मानकर उसके कर्म को माना है। उन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया था कि निम्न जाति के व्यक्ति भी ईश्वरोपासना कर सकते हैं, क्योंकि उस परमात्मा की दृष्टि में कोई न तो ऊंच है और न कोई नीच। हो भी कैसे सकता है, संसार के विचित्र रचना, रूप, रंग आदि सभी उसके द्वारा जो रचित हैं :

दादू कहैं सब रंग तेरे तैं रंगे, तूं ही सब रंग मांहिं।
सब रंग तेरे तैं किये, दूजा कोई नाहिं।।[10]

दादू ने वर्ग एवं सम्प्रदाय विहीन समाज की स्थापना पर विशेष बल दिया था। यह तभी सम्भव है जबकि सब प्राणियों में एक आत्मा के दर्शन किये जायें। इस अवस्था में सकल भेद समाप्त हो सकते हैं। दादू ने कहा कि इस संसार में ईश्वर ने सभी को एक रूप में प्रेषित किया है। सभी मनुष्यों में प्राण, रक्त, मांस, नेत्र, नासिकादि समान है। सभी की भूख, शयन आदि क्रियायें समान हैं। तब भला उस परमात्मा में भेद क्यों कर होगा। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, हिन्दू-मुस्लिम आदि भेद मानव कल्पित हैं। अतः इन काल्पनिक भेदों से दूर रहकर सबके साथ समान व्यवहार करना ही श्रेयस्कर हैं। दादू ने वर्गहीन समाज का अतीव मञ्जुल स्वरूप समुपस्थापित किया है :

सोई प्राण पिंड पुनि सोई, सोई लोही मांसा।
सोई नैन नासिका सोई, सहजैं कीन्ह तमासा।।
श्रवणों शब्द बाजता सुनिये, जिह्वा मीठा लागे।
सोई भूख सबन को व्यापे, एक युक्ति सोई जागे।।
सोई संधि बंध पुनि सोई, सोई सुख सोई पीर।

सोई हस्त पांव पुनि सोई, सोई एक शरीरा॥
यह सब खेल खालिक हरि तेरा, तैं हि एक कर लीना।
दादू जुगति जान कर ऐसी, तब यह प्राण पतीना॥[11]

समाज में विद्यमान ऊँच-नीच भावना का भी सन्त दादू ने डटकर विरोध किया। इस भावना के कारण समाज के कमजोर वर्गों को उनके सामान्य अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया था और उन्हें पाशविक जीवन जीने के लिये विवश होना पड़ा था। दादू को इससे मर्मान्तक पीड़ा हुई और उन्होंने कहा आत्मभाव रूप समता से देखने पर विशालकाय हाथी और अति लघु कीट भी समान दिखायी देते हैं :

दादू सम कर देखिये, कुंजर कीट समान।
दादू दुविधा दूर कर, तज आया अभिमान॥[12]

इस प्रकार जातिप्रथा, ऊँच-नीच, साम्प्रदायिकता आदि के दोषों को व्यंजित करते हुये सन्त दादू ने इनसे दूर रहने का उपदेश देकर मानव मात्र के उपकार का मार्ग प्रशस्त किया है। वर्तमान समय में प्रसार पा रहे जातिवाद और साम्प्रदायिक उन्माद को हम दादू द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर समाप्त कर सकते हैं। समाज के समृद्ध व्यक्ति अपने से कमजोर व्यक्तियों के साथ भ्रातृभाव से आचरण कर सकें तो आत्मीयता के भाव समुदित होंगे और सभी प्रकार के भेद-भावों का शमन हो जायेगा।[13]

मध्यकाल में हिन्दू-मुस्लिम और इनमें प्रचलित सम्प्रदायों में धार्मिक मतभेदों के कारण पारस्परिक कलह अत्यधिक बढ़ गई थी। दादू ने धर्मनिरपेक्ष मार्ग का अवलम्ब लेकर यथाशक्य इनके विवादों का शमन करने का प्रयास किया। उन्होंने संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारों के स्थान पर उदात्त सार्वभौमिक मूल्यों को अपनाने का उपदेश दिया। इसी प्रकार दार्शनिक वाद-विवाद एवं धार्मिक मतभेदों से ऊपर उठकर सन्त दादू ने कहा है कि न हम हिन्दू बनेंगे और न मुसलमान। षट्दर्शन के प्रपञ्च में भी हम नहीं पड़ेंगे।[14] इससे दादू की धर्मनिरपेक्ष भावना अभिव्यक्त होती है। आज इसी प्रकार की धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता है।

सन्तप्रवर दादूदयाल ने तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के बाह्याडम्बर, ढोंग, तीर्थाटन आदि का खण्डन किया है। उनका अभिमत है कि ईश्वर तो अन्तर्यामी हैं। उसे खोजने के लिये द्वारिका, काशी और मथुरा जाने की तथा किसी प्रकार के ब्राह्य आडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। वह तो प्रत्येक प्राणी के घट में निवास करता

है। भला उसे बाहर ढूंढ़ने की क्या आवश्यकता है :

दादू केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जांहि।
केई मथुरा को चले, साहिब घट ही मांहि॥[15]
दादू जा कारण ढूंढिया, सो तो घट ही मांहिं।
मैं तैं पड़दा भरम का, तातैं जानत नांहिं॥[16]
पूजन हारे पास हैं, देही मांही देव।
दादू ता को छाड़ कर, बाहर मांडी सेव॥[17]

उक्त मिथ्या व काल्पनिक पदार्थों में ईश्वर को सीमित करना समुचित नहीं है। कस्तूरी-मृग 18 स्व नाभिस्थ कस्तूरी से अनभिज्ञ होकर इधर-उधर भ्रमण करता हुआ विनष्ट हो जाता है, परन्तु उसे कस्तूरी प्राप्त नहीं होती है। यही दशा इस संसार की है। मानव मिथ्याचारों का आश्रय लेकर ब्रह्म का अन्वेषण करता है, परन्तु अज्ञानवश वह ब्रह्म को बिना प्राप्त किये ही समाप्त हो जाता है। अज्ञान के आवरण को हटाकर अपने हृदय में ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जाये तो मानसिक असन्तोष स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

आज भी भारत में अशिक्षा के कारण अधिकांश जनसंख्या बाह्याडम्बर, ढोंग, तीर्थाटन आदि में प्रवृत्त हैं। वह यह समझती है कि इनके माध्यम से ईश्वर प्राप्ति हो सकती है। उनके लिये दादू के उपदेश अत्यन्त उपादेय हैं कि ईश्वर को बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह तो प्रत्येक प्राणी के घट में विद्यमान है।

सन्त परम्परा की अविस्मरणीय कड़ी श्री दादूदयाल ने अपने पूर्ववर्ती सन्तों की भाँति जातिवाद, साम्प्रदायिकता एवं अन्यान्य सामाजिक बुराइयों के मूलोच्छेदन का प्रयास कर समाज में नूतन चेतना का संचार किया है। आधुनिक सन्दर्भ में इसकी महती उपादेयता है। तद्‌युगीन समस्याओं के समाधानार्थ प्रस्तुत दादू की वैचारिक सरणि से अद्यतनीय समस्याओं का समाधान भी सम्भव है। हिन्दू-मुस्लिम को एक ही ईश्वर की सन्तति बताकर इन दोनों समुदायों के ऐक्य का जो मार्ग प्रशस्त किया है, वह आज के भारत के लिये आवश्यक है। वर्तमान मन्दिर-मस्जिद के विवाद ने समग्र भारतवर्ष की जनता को उद्वेलित ही नहीं किया अपितु सदियों से चली आ रही साम्प्रदायिक सौहार्द एवं सौमनस्य की भावना को भी गहरा आघात लगा है। ऐसी अवस्था में दादू के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर विविध सम्प्रदायों के लोग अपने को ईश्वर की सन्तान

मानते हुये भ्रातृभाव से आचरण करना सीख लें तो इन समस्याओं का समाधान सम्भव है।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि सन्तकबीर, सन्तचैतन्य महाप्रभु एवं नानक आदि की परम्परा में दादूदयाल की शिक्षाओं का परिपालन करते हुये उत्तरोत्तर जातिगत भेदभाव को भुलाकर सभी को "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना से आचरण करना होगा, तभी साम्प्रदायिक सौहार्द एवं जातीय सौमनस्य की स्थापना होगी। आज भी अशिक्षित समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, ऊँच-नीच एवं बाह्याडम्बर आदि के अपाकरण के लिये दादूदयाल के उपदेशों की उपादेयता किंवा युगानुरूपता निर्विवाद सिद्ध है। इस प्रकार इनके उपदेशों को जीवन में ढालकर अनेक ज्वलन्त समस्याओं का उपशमन किया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :-

1. श्री दादूवाणी, दया निर्वैरता का अंग, साखी-5, (प्रकाशक-श्री दादू महाविद्यालय व छात्रावास संचालन समिति, जयपुर) टीका-श्री नारायणदास स्वामी।
2. वही, साखी-7
3. श्री दादूवाणी, साँच का अंग, साखी-103
4. वही, साखी-48
5. वही, साखी-50
6. वही, दया निर्वैरता का अंग, साखी-6
7. दादू यहु मसीत यहु देहुरा, सद्गुरु दिया दिखाइ।
   भीतर सेवा बंदगी, बाहर काहे जाइ॥ -श्री दादूवाणी, गुरुदेव का अंग, साखी-75
8. दादू पाती प्रेम की, विरला बांचै कोई।
   वेदपुराण पुस्तक पढ़ै, प्रेम बिन क्या होइ॥ -वही, विरह का अंग, साखी-119
9. श्री दादूवाणी, साँच का अंग, साखी-116
10. वही, सजीवन का अंग, साखी-8
11. वही, राग गौड़ी, पद-65
12. श्री दादूवाणी, दया निर्वैरता का अंग, साखी-25
13. आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
    दादू मूल विचारिये, तो दूजा कौन गंवार॥ -वही, साखी-18

14. दादू ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मुसलमान।
षट् दर्शन में हम नहीं, हम राते रहमान॥ - वही, मध्य का अंग, साखी-38
15. श्री दादूवाणी, कस्तूरिया मृग का अंग, साखी-8
16. वही, साखी-5
17. वही, परिचय का अंग, साखी-256
18. दादू घट कस्तूरी मृग के, भरमत फिरे उदास।
अंतरगत जाने नहीं, तातैं सूंघे घास॥
- वही, कस्तूरिया मृग का अंग, साखी-2

कनिष्ठ शोध सहायक
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
(शाखा कार्यालय)
जयपुर (राज.)

दादूशिष्य-नारायण दूधाधारी व उनकी 'नारायण-वाणी'

— पुष्करदास ज्ञानी

जोधपुर जिले के चाम्पासर ग्राम में चौधरी कल्याणजी के घर वि.सं. 1679 में जन्में ब्रह्मज्ञ योगिराज बाबा स्वामी नारायणदासजी दूधाधारी, दादूजी के बावन शिष्यों में हुए, महात्मा घड़सीदासजी के शिष्य थे। गुरु घड़सीजी वैरागी साधु थे, जो दादूजी के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये थे। इन्होंने अपने शिष्य नारायण दूधाधारी को पच्चीस वर्ष तक वाराणसी में समस्त शास्त्रों आदि का गहन अध्ययन एवं योग साधना का अभ्यास करवाया। सुन्दर ग्रन्थावली के रचयिता छोटे सुन्दरदासजी (बूसर) ने भी नारायण दूधाधारी के साथ ही अध्ययन एवं योगाभ्यास किया था। समान ज्ञान-गरिमा एवं समवयस्कता के कारण इनमें अटूट प्रेम था। पूर्णसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् नारायण दूधाधारी ने इस मरुभूमि के साथ अन्य स्थानों पर भ्रमण कर, अपने अनुभव-सिद्ध उपदेशों से, राजा एवं रंक सभी को प्रभावित किया। तात्कालिक समय में दिल्ली में बादशाह औरंगजेब और जोधपुर में जसवन्तसिंह (प्रथम) का शासन था।

जोधपुर महाराजा ने नारायण दूधाधारी का शिष्यत्व ग्रहण कर, शिक्षा प्राप्ति के साथ-साथ योग-विद्या में समाधि तक लगाना सीख लिया था। उक्त, नारायण दूधाधारी ने कई प्रत्यक्ष परचे भी दिये थे, जो बूढ़े-बुजुर्गों की जुबानी, आज भी सुनने को मिलते हैं। वि.सं. 1776 में, आपने जीवित समाधि ले ली थी। तब से आज तक समाधि-स्थल पर होली-दिवाली के दिन सभी ग्रामवासी प्रसाद चढ़ाने आते हैं तथा कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को यहाँ विशेष जागरण का आयोजन होता है। आसपास के गांवों के लोग भी अपनी मनौतियाँ चढ़ाने आते रहते हैं। इनकी शिष्य परंपरा आज तक चली आ रही है। इनके छोटे भाई कतराजी ने गृहस्थ-धर्म का पालन किया। इनके वंशज 'ज्ञानी-भगत' कहलाते हैं जो चाम्पासर के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी कहीं-कहीं मिलते हैं। उक्त नारायण दूधाधारी कृत 'नारायण-वाणी' का प्रकाशन अभी कुछ अर्से पूर्व ही हुआ है। उसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी 'नारायण-वाणी'

में अनुभव सिद्धसार भरी बातों को ही स्थान दिया तथा गृहस्थ एवं विरक्त (साधु) दोनों से सम्बन्धित तथ्यपूर्ण बातें ही सूक्ष्मरूप में प्रकट की और वह भी साधारण बोलचाल की राजस्थानी भाषा में। 'गागर में सागर' भर देने वाली, जीवन्मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाली, इहलोक में ही स्वर्गिक सुख प्राप्त करने की ओर उन्मुख करने वाली एवं मानसिक तनाव से छुटकारा दिलाने में समर्थ यह 'नारायण-वाणी' सभी को, अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

नारायण-वाणी का हर दोहा व हर छन्द वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उतना ही सुसंगत है जितना स्वामीजी की समकालीन परिस्थितियों में था। नारायण-वाणी का हर छन्द एक प्रेरणा-पुंज के रूप में उभर कर सामने आता है और मन पर गहरा असर करता है।

राघवदासजी ने अपनी 'भक्तमाल' में इनका परिचय यों दिया है :

नारायण दूधाधारी, घड़सी गुरु पायो भारी,
राजा जसवन्त असवारी भेजी, आइये।
बैलनि लिये चुराइ, भैल कैसे चलि पाइ,
चढि कर कह्यौ जु, निरंजन चलाइये॥
भैल चलि आवै, अचरजि सब पावै,
राजा सन्मुख धायौ, हुलसायौ मन भाइये।
अद्भुत कीन्हौ, नृप चीन्हौ, दृष्टि आपनी सूं,
परचौ प्रत्यक्ष यह, सन्तन सुनाइये॥635/535

नारायण दूधाधारी ने निर्गुण समर्थक दादूपंथ में दीक्षित होने के बावजूद सगुण कृष्ण को भी अपना आराध्य स्वीकारा एवं नारायणवाणी में उनके गुणों का भी काफी वर्णन किया। यही कारण है कि चाम्पासर स्थित समाधिस्थल पर नारायण दूधाधारी के साथ श्रीकृष्ण की भी समानरूप से पूजा-आराधना होती आ रही है।

नारायण दूधाधारी एक स्वतंत्र चिन्तक रहे। उनकी ज्ञान-गरिमा, मौलिकता एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वाणी की उपयोगिता हेतु नारायण-वाणी के कुछ पद्यांश उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं :

सोहं सोहं सुमिरतां, प्रगटै इक दिन आन।
नारायण हिरदै रम्यां, भागै भ्रम अज्ञान॥
सुख दुख भरे संसार में, संमस्या श्वासोश्वास।

नारायण धीरज धरौ, हरि गुरु काटै पाश॥
आस्तिक नास्तिक दोन्यूं दुखी, उलझि रह्या मन द्वन्द्व।
नारायण अनुभव बिना, कटै न भ्रम को फन्द॥
मत मतान्तर इहां घणे, अलापहिं अपनो राग।
मध्य मार्ग सम नहिं भलो, नराइण सुखी समराग॥
कृतज्ञ कृतघ्न परखे बिना, करो न अन्तर्हेत।
नारायण नर चैते रहो, मन में रहो सचेत॥
मध्य मार्ग सम नहिं भलो, नहीं द्वैत सम द्वन्द्व।
मुमुक्षूनि कूं है मोक्ष इहां, नराइण निर्द्वन्द्व॥
सबै पढ्यौ सब ही सुन्यौ, कर्यौ सबै कृत काम।
नारायण पूरण भयौ, रंज्यौ राम सूं राम॥
नारायण जग वन महैं, नर तरु बहुधी न्याय।
आम नीम कोई ईख है, सब को भिन्न स्वभाव॥
नर केता ही नाचि गया, धरा ऊपर आइ।
नारायण केई नाचिसैं, बाकी स्वांग बनाइ॥
कै सुखिया दुखिया कई, सब रहि चले सराइ।
यूं नारायण उठि गए, थिर नहि या जग आइ॥
कै धनवंत निर्धन कई, कै उत्तम कै नीच।
नारायण कोई ना रह्यौ, बहै मरण मग बीच॥
यौ तन बिनसै एक दिन, प्राणी किणी प्रकार।
नारायण यौ ही नफौ, हित करि सिरजनहार॥
मरै सु फिरि के जन्म ले, जनमैं सो मरि जाइ।
नारायण दोन्यूं न है, जे उदै ज्ञान होइ आइ॥
बहुत सुन्यौ, देख्यौ बहुत, परखंड और पुराण।
नारायण सो जानिए, योगी, चतुर, सुजान॥
गीता सुनी न भागवत, देखै नहिं पुनि देश।
नारायण नहीं अनभए, कीनौ कहा कलेश॥
हंस काग जहां एक से, खर गज तक्र सु खीर।
नारायण पारिख नहीं, सुरा सुरसरी नीर॥
कांजी दूध मिलाइ करि, पीवै स्वाद न प्राण।
नारायण बीद्धहीन क, भापा भगत समान॥

जो जिय की जानो नहीं, बात करो सुविचार।
नारायण झगड़ो न है, हम जब कहैं निखार॥
ऊपरि साध असाध की, काया फेर न कोइ।
नारायण मनि फेर है, दोनूं की गति दोइ॥
यौ नारायण अंतरौ, ज्ञानी अरु अज्ञानि।
वो निष्काम सकाम वह, सबै व्यवहार समान॥
सिरि दुष्टनि के शृङ्ग नहि, पद्म नहिं सज्जन पानि।
नारायण वाणी दोऊं, अंतरि की कहै आनि॥
काया करि सब करम करै, अन्तःकरण न आप।
नारायण उन नरन को, परसैं पुनि न पाप॥
सब साधन को फल सु एह, आपन समझै आप।
नारायण समझ्या न जो, करी क्रिया सु कलाप॥
सोई देखै बोले सुने, गन्ध स्पर्श रस ज्ञान।
ईश्वर नारायण इहै, यूं मति जानौ आन॥
नारायण सब कृष्णमय, सचराचर संसार।
अहं बुद्धि तहां और है, विधु दोउ दृष्टि विकार॥
नारायण कारण कृष्ण, सब कारज संसार।
भूषण कंचन भू-भंजन, तौई सुरंग पटतार॥
जौ लौं मैं यूं जांनिते, तौ लौं तन मन ताप।
नारायण जब मैं नहीं, आनन्दरूपी आप॥
भ्रम वेदन तन मन भई, गई जतन करि ज्ञान।
हुते प्रथम त्यूं ही हुए, सोई समाधि सयान॥
आदि कपास सु ऊजलौ, पट मलीन संग पाइ।
हुतौ सु धोए तैं हुवो.. जीव ब्रह्म भ्रम जाइ॥
करहुत सतसंगति करौ, धरहुत कृष्ण जु ध्यान।
लरहुत शास्त्र मत लड़ौ, परहुत या पंथ नराण॥
नारायण औ वशि नहीं, पापी काम प्रचण्ड।
बिरलो को योगी बंच्यौ, वशि कियो ब्रह्मण्ड॥
गिणै नहीं पंडित गुणी, जग सोह कियो जेर।
नारायण जोगी जती, घट में राखे घेर॥
प्रसन्न आप दूजो प्रसन्न, सो ही धर्म सुनि सार।

नारायण दोन्यूं दुखी, तो महा अधर्म भइ मार॥
दीपक बुझै सो देखिले, ज्योति कवन घर जाइ।
यूं नारायण तन तजै, सब ही शून्य समाइ॥
घंटा झालरि जब घड़ी, सुर सहजै ह्वै साथ।
नारायण पिंड प्राण यूं, न्यारा किया न नाथ॥
कथा अनेक कहो सुनो, तीन कथा ततसार।
नवधा जोग रु सांख्य बिन, प्राणी लहै न पार॥
बहुत भेष बहु संप्रदा, बहुत धर्म बहुत ध्यान।
नारायण माने न हम, गुणातीत बिन ज्ञान॥
ज्ञान सहित बैराग तो, सुख समेत गृह शोभ।
नारायण सुख ज्ञान बिन, लियैं कियैं कहा लोभ॥
नारायण कोई स्वप्न में, राजा भयौ कि रंक।
जागे तो है ह्वै जिसो, सुख दुख झूठी शंक॥
ज्यूं आयो त्यूं जाइगो, संगि न और संगात।
नारायण बिछुरन मरन, प्राणी क्यूं पछितात॥
सुमिरण सेवा सन्त की, तप तीरथ व्रत दान।
नारायण नर तन धरे, यो कृत करै सयान॥
और करे सु अज्ञान है, रज तम भली न रीति।
नारायण सतगुण क्रिया, या लैं बुद्धिवंत प्रीति॥
नारायण दूजौ नहीं, राव रंक में राम।
ऊंच नीच में एक ही, नर नारी ए नाम॥
भांडे सब थूंडे भले, किये कृष्ण कुंभार।
नारायण कौ निन्दिए, समझो यूं संसार॥
नारायण गुरु सम नहीं, दाता दूजो देव।
मनसा वाचा कर्मणा, सिष ह्वै कीजै सेव॥
बैद हरै तन की व्यथा, मन की रहे सु मांहि।
नारायण गुरु ज्ञान सूं, सब मन रोग नसांहि॥
भली सुसंगति ह्वै भला, बुरे कुसंग विनाश।
नारायण तिल तेल ज्यूं, संगति फूल सुवास॥
सुख दुख आवे सहज में, बिन बूछंतो ही बीर।
नारायण यूं जांनि के, धरि मन मांहे धीर॥

बादल बरसे व्योम नहीं, तरंग नाश नहिं तोय।
नारायण कारण रहे, कारिज रहे न कोय॥

कवित्त

कुबुद्धि कहे न कृष्ण, आनदेव भूत आराधै।
हरि हीरो परहरै, विषय खल गाँठि सूं बांधै॥
मारग धरम दियो मेल्हि, अधर्म ऊझड़ बहै अंधा।
भजन ज्ञान गयो भूलि, ध्यान धन एको धंधा॥
नारायण नाम जे लैं नहीं, फूटि चखि यों ही फिरै।
डूबसी भवसागर बिचै, तिके किस विधि सों तिरै॥
अन्न बिन तन तो ही रहे, जो लहैं भुयंगम भेद।
नारायण पूरण हुवे, मन की आश उम्मेद॥
पूरो गुरु जो पाइये, पूरो दे उपदेश।
नारायण दुख समंद ते, काढै कर गहि केश॥

नारायण-वाणी की भूमिका में छोटे सुन्दरदास जी, घड़सीदास जी आदि की कृतियों के चुनिन्दा अंश, कुछ प्रत्यक्ष परचों का उल्लेख एवं वाणी के प्रत्येक पद्यांश का हिन्दी में अर्थ कर दिये जाने आदि अनेक कारणवश यह वाणी सन्त-साहित्य का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने वाली एक प्रतिनिधि पुस्तक के रूप में ग्राह्य प्रतीत होती है। अतः देश के समस्त पुस्तकालयों तथा बोर्ड व विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में चयन योग्य हो सकती है। चूंकि वर्तमान समाज ने सन्त-साहित्य का प्रचार-प्रसार सीमित कर नैतिक पतन को ही बढ़ावा दिया है। अतः अब भी समय है द्रुतगति से सचेत होकर नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर होने का।

पाँचला खुर्द, वाया- तिंवरी, जोधपुर

❑❑

दादू वाणी का आध्यात्मिक चिन्तन

— डॉ. (श्रीमती) वसुमती शर्मा

राजस्थान की धरती संत-सूरमा एवं सतियों की कर्मस्थली रही है। संतमत के अन्तर्गत राजस्थान में अनेक पंथों एवं सम्प्रदायों की उद्भावना हुई, जिनमें संत दादूदयाल का दादूपंथ, निरंजनीपंथ, रामसनेही, चरणदासी, लालदासी, हरिदासी, विश्नोई संप्रदाय एवं जसनाथी सम्प्रदाय प्रमुख हैं। इन पंथों एवं सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों ने अपने चिन्तन एवं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की। राजस्थान में दादूदयाल का नाम संत कवि के रूप में विख्यात हुआ। यह ज्ञानमार्गी संतकवि थे। इनके 152 प्रधान शिष्य हुए, जिनमें से सौ एकान्तवासी थे एवं 52 शिष्यों ने अलग-अलग स्थानों में दादूमत का प्रचार किया तथा उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। दादूवाणी में ईश्वर को निर्गुण रूप में स्वीकार किया गया, किन्तु निर्गुण उपासक होते हुए भी सगुण, निर्गुण के प्रति इनका दृष्टिकोण देखिये :-

सारगुण, निरगुण वे रहैं, जैसा तैसा लीन्ह।
हरि सुमिरन लह लरिए, का जानौ का कीन्ह॥

दादू ने उपासना एवं साधना के क्षेत्र में, नियम एवं बंधन से अधिक निज-अनुभव को सर्वोपरि माना। मन को पवित्र एवं जीवन को स्वाभाविक रूप से आडम्बर-रहित व्यतीत करने का विशेष अनुरोध, इनके उपदेशों में किया गया। सरलता एवं प्रेम के आधार पर, इन्होंने अपने मत को प्रतिपादित किया। इनकी वाणी, अनुभवजन्य ज्ञान की वाणी है। बहुदेववाद का खण्डन, ईश्वर की एकात्मक सत्ता में विश्वास, जातिभेद से ऊपर उठकर, सामाजिक-एकता में विश्वास को इनकी वाणी द्वारा व्यक्त किया गया है।

दादूवाणी के आध्यात्मिक पक्ष को ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, नाम-स्मरण एवं सद्गुरु आदि तत्वों की विवेचना से जाना जा सकता है।

ब्रह्म-स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए, दादूदयाल जी कहते हैं :-

सांई सबनि का सोई है रे।
और न दूजा देखो कोई॥

अर्थात् ईश्वर सभी का एक है। इसी प्रकार दादू जी के विचार हैं :-

अविगत अल्लः एक तू, गनी गुसांई एक।
अजब अनूपम आप हैं, दादू नाऊं अनेक॥

जिसका आशय है, हे परमात्मा आप अविगत, अजब एवं अनुपम हो। आप सर्वव्यापी हो एवं कण-कण में व्याप्त हो।

घी-दूध में रमी रहा।
व्यापक सब ही ठौर॥

दादूपंथ में परमात्मा एवं भक्त के मध्य अद्वैवतभाव की अनिवार्यता को अधिक महत्त्व दिया गया है। दादू के अनुसार परमात्मा, जीवात्मा में पूर्ण रूपेण व्याप्त है, किन्तु जीव अपने अज्ञान के कारण उसे समझ नहीं सकता है।

दादू जा कारणि जग ढूढ़या, सो तो घट ही माहिं।
मैं तै पड़दा भरम का, ता थै जानत नाहीं।।

जीव की दशा तो उस कस्तूरी मृग के समान है, जो अपने शरीर में से आती हुई सुगंध को न पहचान कर उसे बाहर ढूँढ़ता है।

दादू सब घट में गोविन्द है, संगि रहै हरि पास।
कस्तूरी मृग में बसै, सूंघत डोले घास॥

इसी प्रकार जगत् के विषय में दादूमत निर्दिष्ट करता है कि ब्राह्मजगत् परमात्म-तत्त्व से विलग नहीं है। मूलतत्व एकमात्र परब्रह्म ही है।

मन से तू देखे सो नाही।
है सो अगम अगोचर मांही॥

इसी प्रकार जगत् के विषय में उनकी धारणा है :-

दादू कहै सब तेरे तै रंगे, तू ही सब रंग मांही।
सब रंग तेरे ते किये दूजा कोई नांही॥

अर्थात् वाह्यजगत् के अनेक रंग एवं रूप, परमात्मा के ही बनाये हुए हैं। सब रंग उसमें और सब रंगों में वही है और कोई नहीं है।

एक अन्य पद में वह सृष्टि के रहस्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :-

क्यों करि यहु जग रच्यौ गुंसाई,
तेरे कौन विनोद बन्यो मन मांहि।
के तुम आपा परगट करणा,
के यहु रचि ले जीव उधरना॥

संतमतानुसार माया को अविद्या माना गया है। वह मनुष्यों को जड़ संसार से बांधे रखती है। अतः माया, संसार में जीव को बंधन में डालती है। इसीलिए दादूदयाल कहते हैं :-

दादू माया सुख पंचदिन गहयों कहा गंवार।
सुपिने पायौ राजधन जात न लागे वार॥

अर्थात् माया का सुख, क्षणिक स्वप्न के सुख की तरह है, उस पर गर्व नहीं करना चाहिये। दादू ने इसे सर्पिणी कहा है, जो मनुष्य को नष्ट कर देती है।

सांपणि इक सब जीव को आगे पीछे खाइ।
दादू कहि उपगार करि, कोई जन ऊबरि जाइ॥

यह माया, ब्रह्म का ज्ञान होने तथा ज्ञान का प्रकाश होने पर ही लुप्त होती है।

दादू जेहि घट ब्रह्म न प्रगटे, तह माया मंगल गाई।
दादू जागे जोति जब, तब माया भरम बिलाई॥

दादूजी के संतमत में नामस्मरण एवं सद्‌गुरु का महत्व भी सर्वोपरि है। नाम-स्मरण की साधना को सर्वोपरि, साधना माना गया है। ईश्वर के नाम के स्मरण का अभ्यास, योग-साधना द्वारा किया जाता है अर्थात् सुमिरन, ध्यान की अवस्था है। जिसमें साधक का अन्तःकरण ब्राह्य जगत् से हटकर परमात्मा में केन्द्रित हो जाता है, दादू जी इसे इसप्रकार समझाते हैं :

अन्तर्गति हरि हरि करे, मुख हाजति नाहिं।
सहज धुन्न लागी रहै, दादू मन ही मांहिं॥

अतः स्मरण की यह अवस्था, मुक्ति की अवस्था ही है, जिसकी अनुभूति मोक्ष की अनुभूति है तथा जिससे, मन के सभी विकार, दूर हो जाते हैं तथा मन, निर्मल हो जाता है।

दादू का जाणौ कब होइगा, हरि सुमिरण इकतार।
का जाणो कब छोड़ि है, यह मन विखे विचार॥

संतमतानुसार संत साधक को जब तक किसी अनुभवी गुरु का मार्ग-दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक उसकी साधना सफल नहीं हो सकती। पथ-प्रदर्शक के रूप में योग्य गुरु का होना नितांत आवश्यक है।

सांचा सत गुर जै मिलै, सब साज सवारै।
दादू नाव चढाइ करि, लेपार उतारै॥

साधक को गुरु ऐसा बनाना चाहिये, जो साधना के आध्यात्म-मार्ग का अनुभवी एवं ज्ञाता हो, उच्चकोटि के सँस्कारों से संस्कारित एवं इसप्रकार के व्यक्तित्व का हो, जो परमात्मा का साक्षात्कार करवा सके।

दादू कोढ कालमुख, अंधे लोचन देइ।
दादू अैसा गुर मिलै, जीव ब्रह्म करि लेह॥

इसप्रकार, दादू-वाणी के आध्यात्मिक चिन्तन से दादू-पंथ के प्रमुख सिद्धान्तों को भली-भाँति जाना जा सकता है, साथ ही, दादूदयाल जी की विचारधारा को भी समझा जा सकता है।

संदर्भ-सूची :-

1. दादू दयालजी की वाणी हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक 14381 (1) रा.प्रा.वि.प्र., जोधपुर।
2. दादूदयालजी एवं पद-संग्रह ह.लि.ग्रन्थ क्र. 13749 (1) — " —
3. दादूदयालजी एवं साखी ह.लि.ग्र.क्र. 14362 (2) — " —
4. दादूदयालजी की वाणी ह.लि.ग्र.क्र. 12369, — " —
5. राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन सन्त एवं भक्त कवि- डॉ. मदनकुमार जानी।
6. भक्तमाल स्वामी चतुरदासजी कृत पद्यटीका, गद्य टीकाकार संतकवि कविरत्न स्वामी नारायणदास।

वरिष्ठ शोध सहायक
राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

❑❑

प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के ग्रन्थों में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण सन्त-साहित्य

— कमल किशोर सांखला

भारत में प्राचीनकाल से ही लेखन की प्रथा रही है, परिणामस्वरूप तात्कालीन समय के लाखों ग्रन्थ, भण्डारों में आज संरक्षित है। ये ग्रन्थ विद्वान् ब्राह्मणों, जैन साधुओं, यतियों, श्रीमंतों और शासकों द्वारा लिखे एवं लिखवाए गए। स्वाधीनता के पश्चात् राजस्थान सरकार ने सन् 1958 में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की स्थापना कर इन ग्रन्थों को संगृहीत किया। वर्तमान में मुख्यालय जोधपुर एवं इसके सात शाखा कार्यालयों-जयपुर, बीकानेर, कोटा, भरतपुर, अलवर, उदयपुर एवं चित्तौड़गढ़ में 1 लाख 28 हजार से भी अधिक दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण विभिन्न विषयक हस्तलिखित ग्रन्थ शोध अध्येताओं के लिए उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत पत्र में संस्थान के संत-साहित्य संबंधी महत्त्वपूर्ण एवं अप्राप्य ग्रन्थों पर संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है। यहाँ संगृहीत अनेक गुटकात्मक एवं पत्रात्मक ग्रन्थों में 16वीं से 20वीं सदी तक का संत-साहित्य देखने को मिलता है। गुटकात्मक ग्रन्थों में पद-संग्रह, दोहा-संग्रह, परची, वाणी, सवैया, रेखता, साखी, उपदेश, कवित्त आदि से संबंधित सामग्री प्रचुर मात्रा में संगृहीत हैं। इन ग्रन्थों में लिपिबद्ध साहित्य में निर्गुण ब्रह्म के उपासक संतों तथा सगुण ब्रह्म के भक्तकवियों के गुणगान से, भक्ति रस-धारा का अटूट प्रवाह, जनजीवन में हुआ, परिणामस्वरूप जनमानस एकसूत्र में बँधा। संतों ने, अपनी मुखरित वाणी से शिष्यों एवं श्रोताओं के मस्तिष्क में भक्ति-भावना जागृत की।

ग्रन्थों में रचित, सन्त-साहित्य में, भक्ति, वात्सल्य, माधुर्य-भाव, ज्ञान, योग, कर्म, पूर्व, परम्परा आदि भावों के साथ-साथ सन्तों के सामाजिक सन्दर्भान्तर्गत जाति-व्यवस्था, प्रचलित परम्पराएं, नारी विषयक चिन्तन, सामाजिक रीतियां आदि पक्षों का विवरण भी देखा जा सकता है। संस्थान में, संगृहीत महत्त्वपूर्ण सन्त-साहित्य के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं :-

जोधपुर में संगृहीत ग्रन्थाङ्क 10924 (7) पर देवदास की वाणी नामक ग्रन्थ है। ग्रन्थ के लिपिकर्ता सुजान हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्तुति लिखी हुई हैं, यथा :

नमो अखंडत रामं, नमो सतगुर सुखदाता।
नमो अनंत ही कोटि, राम रस पीईं पिलाता॥
.. ।

स्तुति के पश्चात् गुरुदेव का अंग लिखा है :-

रामचरण जी गुर सही, मेरे सिरि सोधत।
देवदास सरणै रह्या, दुबध्या सब खोवत॥

ग्रन्थ के अंत में दूहा लिखा है, जिसमें संकलनकर्ता, संकलन-स्थान तथा देवदास का परिचय लिखा है :-

हरिराम हरि गुर दया, सत जहू का हेत।
अंग लिखे अछी तरैह, अंतर होई सूचेत॥
भीलाड़ै मधे भाव सूं, सुख सति संगिति धाम।
अंग बनाए जुगति करि, बाणी का बिसराम॥
संवत अठारा सै सही सैतीसा ब्रतमांन।
मगिसर सूदि जू दोहज ऐह वार शनीसर जानि॥
... ।
खानाजाद गुलाम है, हरीराम तुम दास जू॥
इति वाणी संपूरण।

ग्रन्थाङ्क 10932 जोधपुर में भगवानदास की वाणी नामक ग्रन्थ[1] रामसनेही सम्प्रदाय का है। ग्रन्थ का लिपि समय 1938 वि.सं. है, लिपिकर्ता दयाराम है। ग्रन्थ जोधपुर के महामंदिर नामक स्थान पर लिखे जाने का उल्लेख है :-

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गुरु की महिमा है, ग्रन्थ में कवित, साखी, सौरठे, चौपई, सवईया आदि का प्रयोग है। ग्रन्थ के अंत में लिखा है :-

संमत सो ए जाणीए, अठारा से अड़तीस।
सांवण सूधि चत्रदसी, वारज-रिवनीस॥

भक्त-शिरोमणि मीरांबाई से संबंधित सैकड़ों पद्य, विभाग के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भक्ति से संबंधित पदों के साथ ही मीराँ की भक्ति में [illegible] पैदा करते उसके

परिवारजनों से संबंधित पद्यांश को देना समीचीन रहेगाः-

ग्रन्थांक 13503 :

जेठाणी खोटी दैवे नहीं रोटी, आ तो नणदल न्यारी राखै।
सासूड़ी रो बेटो वरो अंग थेटो[2] मानै मूकी[3] थाप[4] चलावे॥
सूसरो वादी जेठ उपराधी आ तौ सासूड़ी.................।
देवरीयौ दूतौ लड़े निपूतौ......... ओ तो माता नै जाय सिखावै॥

ग्रन्थ क्रमांक 13497 जोधपुर (प्रहलाद की बारहमासी) :

राणा जी थे क्यूं म्हासू बांधो बेर।
थे तो राणांजी म्हानै ऐसा लगत है।
ज्यूं ब्रछन में कैर॥
मारूधर, मेवाड़ मेड़तो त्याग दियो जी थारौ सहर॥

ग्रन्थ क्रमांक 23919 जोधपुर (पद्य रामानन्द एवं जैमलदास के) :

सतगुरु पिता सगाई कीनी जद पाई सुद सार।
मीरां तो वर साहिब कीनो, भव-भव का जी भरतार॥
राणाजी मैं तो गिरधर के मन भाइ।
जैमल के घर जन्म लीयो है, राणा ने परणाई॥

विद्वत्जगत् में मीरां के पदों की प्रामाणिकता का निर्धारण करना कठिन कार्य है, क्योंकि भक्तों का एक ऐसा दल भी रहा है। जब भक्त भजन-कीर्तन करते, पदों की कड़ियाँ भूल जाते तो उसमें अपनी ओर से मीरां के पद की अंतिम कड़ी 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' जोड़ देते। ऐसे मीरां के पद समिश्रण होने से उन्हें अलग करना कठिन कार्य है। विभाग में मीराँ वृहत्पदावली पर दो पुस्तकें भी प्रकाशित हैं जिनमें वि.सं. 1898, 1897, 1866, 1860, 1826, 1834 के मीरां पद, हरजस, स्फुट पद, राग पद आदि रचनाएं हैं।

सन्त साहित्यान्तर्गत विभिन्न संतों की गुरु-महिमाओं में रामचरण, सेवगराम, परसोक्त, कृपाराम, पूरणदास, जनतुरसी, परसराम, सुन्दरदास, अनंतहंस आदि हैं। राजस्थान के विविध पद संग्रहों में नागरीदास, ईसरदास, तुलसी, नरहरिदास, रैदास, रज्जब, पीपा, रामानन्द, गरीबदास, बनारसी, मलूकदास, हरीदास, नरसी, कबीर आदि के पद है। दादूपंथ, रामसनेही, चरणदासी, विश्नोई, नाथपंथ आदि की आचार्य परम्पराएं भी यहाँ संगृहीत हैं। संत नामदेव

के अनेक ग्रन्थों में वाणी, परची, पद, साखी, नामप्रताप, नाममाला, नाममाहात्म्य आदि प्रमुख हैं।

संस्थान में संगृहीत दुर्लभ सन्त-साहित्य के ग्रन्थों की सूची[5]

क्र. सं.	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थांङ्क	संग्रह-स्थान	लिपि समय वि. सम्वत्	विशेष विवरण
1.	कबीर जी की रमेणी	12380	जोधपुर	1724	—
2.	कबीर की वाणी	12269 (2)	"—"	1786	—
3.	"—"—"—"	14068 (2)	"—"	1845	—
4.	"—"—"—"	561 (2)	"—"	1855	—
5.	"—"—"—"	12584	"—"	1809	—
6.	"—"—"—"	25183 (8)	"—"	1830	—
7.	कबीर दास की साखी	11989	"—"	1906	—
8.	"—"—"—"	12420	"—"	1932	—
9.	"—"—"—"	8562 (5)	"—"	1785	—
10.	"—"—"—"	1753	उदयपुर	1753	—
11.	कबीरदास की साखियाँ	12584	जोधपुर	1720	प्राचीन ग्रंथ
12.	कबीर के स्पुट अंग	10569	"—"	1927	—
13.	कबीर परची	2481	जयपुर	1784	अनन्तदास कृत
14.	"—"—"—"	22464	जोधपुर	1825	—
15.	कबीरदास के पद	24429 (3)	"—"	1779	—
16.	कबीरदास का रेखता	25188 (4)	"—"	1836	—
17.	स्पुट पद	12226 (20)	"—"	1879	मीरां का पद
18.	"—"—"—"	15609 (1)	"—"	1789	"—"—"—"
19.	"—"—"—"	14474	"—"	1845	"—"—"—"
20.	पद-संग्रह मीरां	10667 (11)	"—"	1841	"—"—"—"
21.	"—"—"—"	12590 (1)	"—"	1840	"—"—"—"
22.	मीरां परची	12585 (13)	"—"	1927	सुखसारण कृत
23.	पद-संग्रह	10551 (5)	"—"	1782	घड़सी संतदास के
24.	"—"—"—"	11178 (10)	"—"	1751	सूरदास आदि
25.	"—"—"—"	11583	"—"	1693	जनहरिदास कृत

क्र. सं.	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थांङ्क	संग्रह-स्थान	लिपि समय वि. सम्वत्	विशेष विवरण
26.	"—"—"—"	12380	"—"	1724	हरिदास के पद
27.	"—"—"—"	14766 (2)	"—"	1763	सूरदास के पद
28.	"—"—"—"	12421	"—"	1883	मीरां, रैदास, पीपा आदि
29.	"—"—"—"	10851 (1)	"—"	1792	जैमलदास, हरिराम दास के पद
30.	"—"—"—"	4242	उदयपुर	1774	कबीर आदि के पद
31.	"—"—"—"	15296	"—"	1918	तुलसी के कवित्त एवं उदयपुर के जगदीश मंदिर का उल्लेख भी
32.	स्पुट पद	12069 (3)	जोधपुर	1662	
33.	"—"—"—"	11583	"—"	1693	जनहरिदास
34.	"—"—"—"	14474	"—"	1845	सूरदास, मीरां, चन्द्रसखि, ज्ञान-दास आदि के पद
35.	पद, शृंगार उतारने के	14738 (32)	"—"	19वीं	—
36.	स्फुट पद-संग्रह	29101	"—"	1781	—
37.	"—"—"—"	29102 (4)	"—"	1799	—
38.	"—"—"—"	26334 (4)	"—"	1754	कबीर हरिदास आदि
39.	पीपाजी की परची	22493 (14)	"—"	1865	—
40.	"—"—"—"	13480	"—"	1723	—
41.	"—"—"—"	12380 (28)	"—"	1724	अनन्तदास कृत
42.	"—"—"—"	11583	"—"	1693	—
43.	पीपा री चिंतावणी	8562	"—"	1795	—
44.	नामदेव परची	22263 (1)	"—"	1825	—
45.	"—"—"—"	14043 (12)	"—"	1814	—
46.	"—"—"—"	1990	उदयपुर	1784	—
47.	नामदेव की फुटकर वाणी	12422 (13)	जोधपुर	1831	—
48.	दादूदयाल की सबद एवं वाणी	12369	"—"	1786	—

क्र. सं.	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थांक	संग्रह-स्थान	लिपि-समय वि. सम्वत्	विशेष विवरण
49.	“—”—“—”	2552	उदयपुर	1841	—
50.	दादूदयाल की वाणी	12380	जोधपुर	1724	—
51.	“—”—“—”	2188	जयपुर	1873	—
52.	दादूदयाल की वाणी एवं पद-संग्रह	13749	जोधपुर	1847	—
53.	दादूदयाल की लीला	16676 (36)	“—”	1810	—
54.	सुन्दरदास के सवैया	26637 (6)	“—”	1818	—
55.	“—”—“—”	12421	“—”	1893	—
56.	“—”—“—”	12420 (22)	“—”	1934	—
57.	सुन्दरदास की वाणी	22465 (9)	“—”	1844	पोकरण में लिखित
58.	संतदास की वाणी	10924	“—”	1840	—
59.	“—”—“—”	10938	“—”	1885	—
60.	“—”—“—”	10948	“—”	1835	—
61.	“—”—“—”	11092	“—”	1836	बलून्दा में लिखित
62.	रज्जब की वाणी	9618	जयपुर	18वीं	—
63.	रज्जब के कवित्त	13749	जोधपुर	1847	—
64.	भक्तमाल	3033	कोटा	1787	—
65.	“—”—“—”	10572	जोधपुर	—	दयालदास/पूरणदास
66.	“—”—“—”	2400	उदयपुर	1724	—
67.	गोरख-बोध	4743	चित्तौड़गढ़	1858	—
68.	बिहारी-सतसई	3172 (2)	“—”	1760	—
69.	तिलोचन की परची	2481	जयपुर	1784	—
70.	सनेह लीला	14366 (1)	जोधपुर	1723	—
71.	गुरु-उपदेश	14411 (1)	“—”	1842	डीडवाणा में रचित
72.	सम्प्रदाय-यश-वर्णन	12571 (6)	“—”	19वीं	रामानंद सम्प्रदाय के संतों का वर्णन।
73.	भक्ति के छंद	585 (6)	भरतपुर	—	प्रेमदास कृत
74.	संतों की पट्टावली	4007	उदयपुर	19वीं	—

क्र. सं.	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थांङ्क	संग्रह-स्थान	लिपि-समय वि. सम्वत्	विशेष विवरण
75.	भक्तवाणी	4307	"—"	1784	वल्लभ रसिक
76.	मेवादास की वाणी	6109	"—"	1831	—
77.	रैदास के ग्रंथ	2542 (8)	"—"	1841	—
78.	रैदास के पद	1541	जोधपुर	1811	—
79.	सूरसागर	2396	उदयपुर	1667	—
80.	नानक की साखी	9512	जयपुर	18वीं	—
81.	संत गुणसागर सिद्धांत	9514	"—"	1891	जयपुर नरेश मानसिंह के समय लिपिबद्ध
82.	वैराग्य के पद	5186	अलवर	1758	—
83.	फुटकर कवित्त	6012	"—"	1731	बिहारी आदि
84.	हरिजस	5017	"—"	1749	बारहठ ईसरदास
85.	गरीबदास के पद	15988 (1)	जोधपुर	1849	—
86.	पाबूजी रा दोहा	16187 (26)	"—"	1780	—
87.	चेतनदास की अणभै वाणी	3123 (2)	कोटा	1834	—
88.	ज्ञान-बतीसी	6590 (3)	"—"	1854	—
89.	मायाराम की वाणी	8319	"—"	1847	—
90.	गुंसाई जी की वार्ता	3181 (1)	"—"	1871	—
91.	गुरु-महिमा सुखदेव जी	1874 (8)	"—"	1894	—

शेष बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह के साथ ही सन्त-साहित्य अन्तर्गत विभाग से भक्तमाल नामक दो पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें दादूदयाल सम्प्रदाय के संत राघवदास की भक्तमाल में 175 भक्तों के चरित्र दिए गए हैं। दूसरी जोधपुर महाराजा विजयसिंह के समकालीन कवि ब्रह्मदास कृत भक्तमाल हैं। इसीतरह संत कवि रज्जब पर प्रकाशित पुस्तक में रज्जब के जन्म, जीवन, समाज, अध्यात्म एवं दर्शन आदि की विस्तृत जानकारी है।

सारांशत: कहना चाहूँगा कि यह शोध संस्थान संत-साहित्य पर अध्ययनरत शोधार्थियां के केन्द्र के साथ ही ज्योतिप, तंत्र-मंत्र, आयुर्वेद, इतिहास, दर्शन, वेद, धर्मशास्त्र, वास्तुशास्त्र, जैन साहित्य, पुराण, संगीत तथा व्याकरण आदि विपय के शोधोन्मुख अध्येताओं का भी मुख्य केन्द्र माना जाता है।

सन्दर्भ सूची :-

1. ग्रन्थ, रामसनेही सम्प्रदाय के सिंथल एवं खेड़ापा पीठ के पट्टधर पूरणदास के गुरु दयालदास कृत हैं।
2. शरारती किस्म का (निर्दयी)।
3. मुक्का (घूंसा)।
4. थप्पड़।
5. जोधपुर, कोटा, बीकानेर, उदयपुर, चित्तौड़गढ़, जयपुर, भरतपुर एवं अलवर राज. प्राच्यविद्या के हिन्दी-राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थों के सूची-पत्र भाग 1 से 19.

गवेषक
राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान

❑❑

राजस्थानी सन्त-परम्परा : सामाजिक अन्तश्चेतना

— डॉ. रामप्रसाद दाधीच

राजस्थान अपने शूरवीरों की अमर-गाथाओं के लिए तो प्रसिद्ध है ही, पर यहाँ अनेक सन्त-साधक भी हुये। उनकी अमृतवर्षी वाणी से अभी तक हमारा देश पूर्णतः परिचित नहीं हुआ। जांभोजी, जसनाथजी, दादू, सुन्दरदास, चरणदास व मीराँ की वाणी ने तो अपनी यश-पताका देश में दूर तक फैलायी, किन्तु विशाल राजस्थान के गाँव-गाँव में, आज भी ज्ञात-अज्ञात सैकड़ों सन्तों के पद गाये जाते हैं, जिनकी मधुरता, कोमलता और अर्थ-प्रखरता सुनने वालों के हृदय को ज्ञान, भक्ति और प्रेम की रसस्विनी से आप्लावित कर देती है।

राजस्थान का सन्त-साहित्य जो प्रायः राजस्थानी भाषा में रचित है, बहुत विपुल, गंभीर और समृद्ध है। यह साहित्य जितना रोचक और गंभीर है उसकी परम्परा और इस प्रदेश में प्रवर्तित सन्त-सम्प्रदायों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी उतनी ही रोचक और गंभीर है। यदि एक विहंगम दृष्टि प्रारम्भ में, उस पर डाल ली जाये, तो समाजतंत्र और सँस्कृति के उन कारकों एवं अन्तसूत्रों का अभिज्ञान हो जायेगा, जो किसी भी प्रकार के वैचारिक और दार्शनिक आन्दोलनों को समाज में जन्म देते हैं।

आध्यात्मिक-धार्मिक प्रवृत्तियां- पूर्व पृष्ठभूमि :

इस वस्तुनिष्ठ पृष्ठभूमि में राजस्थान की धार्मिक प्रवृत्तियों, आध्यात्मिक आन्दोलनों, सन्त-सम्प्रदायों और लोक देवी-देवताओं का अध्ययन किया जाना चाहिये। प्रागैतिहासिक काल से ही, इस प्रदेश के जीवन में, किसी न किसी रूप में, नैतिक आचरण व धार्मिक चेतना रही है। देवमूर्तियों, पूजा-गृहों और पूजा-विधियों के अवशेष, प्रदेश के पुरातात्विक उत्खननों में प्राप्त हुये हैं। प्रकृति-प्रतीकों को अपना आराध्य मान कर पूजा-अर्चना की परम्परा, प्रारम्भिक काल में रही। यही, प्रकृति प्रतीक देवता की संज्ञा पाकर उत्तरवर्तीकाल में पूजा-आस्था के उपकरण बन गये। वैदिक धर्म के देवता इन्द्र, वरुण, सूर्य, ब्रह्मा

और सोम की पूजा यहाँ भी होने लगी। यज्ञों, महायज्ञों का सम्पादन इस प्रदेश में भी होने लगा। इसी क्रम में शिव, विष्णु, मातृशक्ति (देवी), गणेश आदि की पूजा का प्रारम्भ हुआ। छठी-सातवीं शताब्दी से इन देवताओं की पूजा अर्चना के यहां साक्ष्य मिलते हैं। धर्म और नैतिकता किसी भी जाति के मानसिक विकास को उद्घाटित करते हैं, राजस्थान के धार्मिक स्रोतों में शैव, वैष्णव, शाक्त, रामभक्ति, कृष्णभक्ति और जैनमत की प्रधानता रही है।

शैवधर्म भगवान शिव की पूजा-अर्चना-आराधना से सम्बन्धित है। शिव की आराधना आर्यों और अनार्यों दोनों में प्रचलित थी। पूर्व मध्यकालीन शिलालेखों में इसके प्रमाण मिलते हैं। शैव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत और भी मत, सम्प्रदाय और धर्मों का उदय हुआ। पाशुपत और कापालिक इनमें प्रमुख हैं। राजस्थान में ये मत काफी प्रचलित रहे हैं। आज भी ग्राम्यांचलों में इनके अनुयायी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

नाथ-सम्प्रदाय इसी शैवमत के अंग से प्रकट हुआ। राजस्थान, नाथ-सम्प्रदाय का एक समय में गढ़ रहा है। सिद्ध, साखी, नागा भी शैवमत के अंग रहे हैं। अलख-निरंजन शिव उनके आराध्य रहे हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि शैव-मत राजस्थान की धर्म-साधनाओं और सँस्कृति में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। योग, तप, जप, तंत्र, मंत्र शैवमत के प्रमुख अंग रहे हैं। यही धर्माचार, समयोपरान्त आगे चलकर विकृतियों में लिप्त हो गये। सहृ-विश्वासी लोक में, धर्म और साधना के नाम पर, इन साधु-सन्यासियों, नाथों और सिद्धों की पाखण्ड-लीलायें प्रारम्भ हो गईं। नैतिक और धार्मिक उत्थान के स्थान पर, समाज अधोगति को जाने लगा तभी इस सबकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इन धार्मिक पाखण्डों के विरोध का स्वर उभरा। वह स्वर निर्गुण-निराकारमार्गी सन्तों-साधुओं का था।

शिव-भक्ति के समान ही, उसके समानान्तर इस प्रदेश में, शक्ति (देवी) की उपासना की धारा भी बहने लगी थी। शक्ति भी प्रागैतिहासिक काल की देवी रही है। मातृदेवी की पूजा की परम्परा इस प्रदेश में बहुत प्राचीन है। चामुण्डा, चण्डिका, भवानी, महिषासुर-मर्दिनी के रूप में, पूजित यह देवी, शक्ति की प्रतीक है। राजस्थान वीरों और योद्धाओं की भूमि रहा है। समर, इस प्रदेश के वीरों का व्यवसाय रहा है। अतः शक्तिस्वरूपा इस मातृदेवी की पूजा-माता, धातृ एवं कल्याणी के रूप में घर-घर में होती रही है, आज भी होती है। वाण माता, करणीजी, नागणेचीजी, अन्नपूर्णा, दधिमती, अम्बिका इस प्रदेश में कुलदेवियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यह शक्तिसाधना (शाक्तमत) इस प्रदेश की धर्मसाधना का अभिन्न अंग रहा है।

वैष्णवधर्म यों तो राजस्थान में दूसरी शताब्दी (ई.पू.) से ही प्रचलित रहा है, किन्तु पाँचवीं-छठी शताब्दी में इसका प्रचलन प्रदेश में अधिक हो गया था। कृष्ण और राम, विष्णु के अंशावतारों के रूप में पूजे जाने लगे थे। राम और कृष्ण के प्राचीन मंदिर इस प्रदेश में मिलते हैं। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी का काल, इस प्रदेश में, वैष्णव धर्म के उत्कर्ष का काल रहा है। उदयपुर, कोटा, जयपुर, जोधपुर, किशनगढ़ के राजपरिवारों में इस धर्म को मान्यता मिली। इसका प्रभाव, आम जनता पर पड़ा। मीराँ कृष्णभक्ति की एक अनन्य प्रतीक है, जिसकी जन्मभूमि, यही प्रदेश रहा है। बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़, जोधपुर के नरेश विजयसिंहजी, किशनगढ़ के नागरीदासजी अपने समय के परम वैष्णव भक्त हुये हैं।

राजस्थान में प्रचलित धर्म-साधनाओं का उल्लेख अधूरा रहेगा, यदि इसमें बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म एवं लोक में प्रचलित अन्य धार्मिक विश्वासों, लोकदेवी-देवताओं की विवेचना नहीं हुई। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म का उदय और प्रचार-प्रसार राजस्थान के बाहर बिहार में हुआ। किन्तु, उत्तर भारत की धर्म-साधनाओं के प्रभाव से राजस्थान अछूता नहीं रहा।

इस्लाम, मध्यकालीन उत्तर और दक्षिण भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। मुस्लिम शासकों के आश्रय में यह फूला-फला और प्रचारित हुआ। राजस्थान में इसे, 12वीं शताब्दी में प्रवेश मिला। अजमेर तब इसका प्रमुख केन्द्र था। वहाँ से यह जालोर, नागौर, माण्डल, चित्तौड़ आदि स्थानों में फैला। मुईनुद्दीन चिश्ती, राजस्थान में इस धर्म के प्रमुख सन्त हुये। उन्होंने इस धर्म के मूल सिद्धान्तों को सरल और सहज तरीके से लोगों को समझाया और अपने चमत्कारी व्यक्तित्व और नैतिक-आचरण से लोगों को प्रभावित किया। इस प्रकार यह धर्म एक ओर राज्याश्रय लिये हुये था और दूसरी ओर इसने अपनी पैठ आम जनता में भी बना ली। भारतीय धर्मों एवं इस्लाम में कई तत्व समान थे। साथ ही इस्लाम में एकेश्वरवाद, निर्गुण उपासना, मनुष्य मात्र की समानता के ऐसे कुछ सिद्धान्त थे, जिन्होंने ब्राह्मण धर्म के कट्टरवादियों द्वारा प्रताड़ित-अपमानित हिन्दुओं के एक पिछड़े वर्ग को ज्यादा प्रभावित किया। जगह-जगह मस्जिदें बनीं, काजियों का सम्मान होने लगा। हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई की भाँति प्रेम से रहने लगे। राजाओं और ठाकुरों की ओर से इस धर्म को सम्मान मिलने लगा। इस प्रदेश में अद्भुत धार्मिक सहिष्णुता रही है। इसीके अन्तर्गत इस्लाम धर्म भी यहाँ खूब पनपा। युद्धकाल को छोड़कर प्रायः इस प्रदेश में हिन्दू-मुसलमान प्रेम से रहते रहे हैं।

इस्लाम धर्म में ही कुछ सूफी सन्त हुये। उन्होंने, दोनों धर्मों में समन्वय स्थापित

करने की चेष्टा की। राजस्थान में सूफी-सन्तों की समन्वयवादी धार्मिक भूमिका महत्वपूर्ण रही है। मुइनुद्दीन चिश्ती भी एक सूफी-सन्त ही थे। इस प्रकार, इस प्रदेश की धर्म-साधनाओं के इतिहास में, इस्लाम अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

राजस्थान में लोक देवी-देवताओं की एक लम्बी परम्परा रही है। आदिवासी समाज में कुछ ऐसे सिद्ध और चमत्कारी महापुरुष हुये, जो बाद में लोकदेवताओं के रूप में पूजित हुये। पूर्व मध्यकालीन और उत्तर-मध्यकाल में तो इनकी एक अक्षुण्ण परम्परा मिलती है। मल्लिनाथजी, देवजी, हरभूजी आदि देवता इनमें प्रमुख हैं। इसी क्रम में और भी अनेक लोकदेवता हुये। गोगाजी, तेजाजी, पाबूजी, देवजी (देवनारायण), रामदेवजी, केसरियाजी आदि इस प्रदेश के ऐसे ही अत्यन्त लोकप्रिय लोकदेवता हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ। इस प्रदेश में हिन्दू-मुस्लिम बड़े सौहार्द से रहते रहे हैं और इन दोनों धर्मों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। वे एक दूसरों के देवताओं और पीर-पैगम्बरों का सत्कार भी करते रहे। इसी कारण इनमें से पाँच लोकदेवता ऐसे हुये जो पीर भी कहलाये। इस भाव का एक दोहा लोक में आज भी प्रचलित है :

पाबू, हरभू, रामदे, मांगलिया मेहा।
पांचू पीर पधारज्यो, गोगादे जेहा।।

राजस्थान का मध्यकालीन इतिहास राजनैतिक उथल-पुथल का इतिहास है। मुसलमान शासकों के आक्रमण, उनसे युद्धों में जय-पराजय, समझौता और सन्धियाँ, स्थानीय शासकों से, उनके सम्बन्ध और फिर शासनतन्त्र में आवश्यक परिवर्तन, इस सबसे यहाँ का जातीय तंत्र और समाज-तंत्र तो गड़बड़ हुआ ही, अर्थ-तंत्र भी गड़बड़ा गया। समाज में एक धनी और श्रेष्ठि-वर्ग का उदय हुआ और दूसरा आर्थिक दृष्टि से बहुत ही दुर्बल वर्ग बन गया। आर्थिक विषमतायें सघन हो गई। पिछड़े और कमजोर वर्ग का आर्थिक और राजनैतिक शोषण का दौर इस युग में आकर बहुत बढ़ गया।

इस युग ने इतिहास के वीर योद्धा और वीरांगनायें तो, दी हीं, उच्चकोटि के शिखर के साहित्यकार, कलाकार, गायक, भक्त और सन्त भी, दिये; साथ ही आचार्य, विद्वान्, राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक समाजसेवक भी दिये। धर्म, आध्यात्म, नैतिकता, सामाजिक आदर्श, जीवन-अनुशासन के उच्च प्रतिमान इस प्रदेश में स्थापित किये गये। यह प्रदेश अनेक भक्ति-आन्दोलनों, सन्त-सम्प्रदायों और कला-शैलियों की जन्मभूमि रही है। यह इस युग की एकान्त देन है।

• भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक क्षितिज पर उस समय एक ज्योतिर्मय नक्षत्र

का उदय हुआ और वे थे स्वामी रामानन्द। विद्वान् इनके जन्मकाल और अवसानकाल के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। पर यह निश्चित है कि ये 14वीं शताब्दी में हुये। इन्होंने अपने क्रान्तिकारी युगीन विचारधारा से उत्तर भारत की धर्म-साधनाओं और भक्तिधाराओं को एक नया मोड़ दे दिया। इन्होंने ज्ञानमार्गी भक्ति की एक अनोखी धारा प्रवाहित की। यद्यपि यह सर्वथा नई धारा नहीं थी। उपनिषदों में इसी दृष्टि का प्रतिपादन है। रामानन्द बड़े उदारचेता मनस्वी थे। उन्होंने युग की आवश्यकताओं को समझ-सामाजिक हीनता और असमर्थता की भावना को, समूल नष्ट कर, साधना की ऐसी भूमिका तैयार की, जो सबके लिये खुली थी। रामानन्द अपने आध्यात्मिक और साधनात्मक दृष्टिकोण में, बहुत प्रगतिशील और समाजोन्मुखी थे। उन्होंने तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, वेदादि धर्मग्रन्थों एवं उपासना के बाह्याचारों और कर्मकाण्ड के दिखावे की आलोचना की एवं समाज के समक्ष अन्त:साधना का मार्गप्रशस्त किया। ब्रह्म की अपनी आत्मा में एवं सम्पूर्ण जड़चेतना सृष्टि में उपस्थिति का बोध एवं उसे ज्ञान और प्रेम के द्वारा प्राप्त करने का एक सहज मार्ग उन्होंने दिखाया। रामानन्द के 'राम' ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वे निर्गुण, निराकार, अगम, अगोचर हैं। सन्तों ने और भक्तों ने उसी ब्रह्मस्वरूप 'राम' को अपना आराध्य स्वीकारा।

कबीर और पीपा इन्हीं स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। उत्तर भारत में सन्त-सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुख्य रूप से कबीर व पीपा ही हैं और फिर इनसे दीक्षित-प्रभावित होकर सन्तों-भक्तों की एक लम्बी परम्परा उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। राजस्थान भी ज्ञान-भक्ति की इस नई क्रान्तिकारी धारा से प्रभावित हुआ। 'पीपा परची' से यह उल्लेख भी मिलता है, सन्त पीपाजी के निवेदन पर स्वयं रामानन्द राजस्थान के गागरोन कस्बे में आये थे। वे यहाँ कुछ दिन ठहर कर द्वारिका गये। बाद में उनके प्रभाव से यहाँ रामानन्दी सम्प्रदाय के अनेक केन्द्र स्थापित हुये। कृष्णदास पयहारी (गलता-जयपुर) व अग्रदास (रेवासा-जयपुर) जैसे रामानन्द के शिष्य हुये। इस रामानन्दी संप्रदाय के प्रभाव से राजस्थान में एक धार्मिक चेतना का उदय हुआ। इसी प्रकार कबीर का प्रभाव भी राजस्थान पर बहुत व्यापक पड़ा। राजस्थान में कबीर के समसामयिक कुछ सन्त थे। धन्ना, पीपा तो कबीर के समकालीन ही थे। दादू, दरियावजी, सुन्दरदास इनके परवर्ती हुये। इन सबके प्रभाव से राजस्थान अनेक प्रसिद्ध सन्तों और सन्त-सम्प्रदायों की जन्मस्थली बन गया।

राजस्थान में जिन प्रमुख निर्गुण सन्त-सम्प्रदायों का उदय हुआ, वे इस प्रकार हैं :-

1. विश्नोई सम्प्रदाय
2. जसनाथी सम्प्रदाय
3. दादू पंथ
4. लालदासी पंथ
5. चरणदासी पंथ
6. रामसनेही सम्प्रदाय
7. हरिदासी पंथ

राजस्थानी सन्त-कवियों की सामाजिक अन्तश्चेतना

इन सम्प्रदायों के ये सभी सन्त कवि, अभिजात्य वर्ग के नहीं, साधारण समाज के, साधारणजन के थे। यह साधारणजन ही, इनकी चिन्ता के केन्द्र में था। भारतीय समाज की कुछ अपनी विशेषताएँ रही हैं। वह वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों पर व्यवस्थित था। चाहे ऋषि-मुनियों व समाजतंत्र के विधायकों ने व्यक्ति के समुचित विकास के लिये ही, यह व्यवस्था की हो, पर कालान्तर में इसमें अनेक विकार आ गये। मध्यकाल में आकर तो उसमें असहनीय अस्त-व्यस्तता और विशृङ्खलता आ गई। निम्नवर्ग में अन्धविश्वासों का आधिक्य हो गया, धर्म-भावना अत्यन्त रूढ़ हो गई व साँस्कृतिक चेतना मर सी गई। धर्मान्धता समाज और देश को विनाश की ओर धकेल रही थी। समाज में छुआछूत अपने चरम पर थी। निम्न और शूद्र जातियाँ पशुवत् दासता का जीवन व्यतीत करने के लिये विवश थीं। वह दोहरी मार सह रही थीं। एक धर्म और जातीयता की, दूसरी सामन्त-तंत्र और समृद्ध-वर्ग की।

राजस्थान का समाज भी इस काल में, छोटी-मोटी जातियों और वर्गों में विभाजित था। धर्म का वितण्डावाद, सम्प्रदायों के मत-मतान्तरों, जातियों-यतियों, पीर-पैगम्बरों और तांत्रिकों-मांत्रिकों का मायाजाल, यह सब इस प्रदेश में भी विद्यमान थे। धर्म तो छोटी जातियों के लोगों को शोषण कर ही रहा था। जागीरदार, ठाकुर, राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों व अन्य उच्चवर्गों के हाथों में इन जातियों की बुरी दशा थी। कर्मकाण्डीय ब्राह्मण धर्म के चतुर्दिक प्रहार इस वर्ग पर हो रहे थे। इन परिस्थितियों में ही राजस्थान में भी सन्त-सम्प्रदायों के प्रवर्तक संत कवियों ने एक धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनके शिष्यों-प्रशिष्यों एवं अनुयायियों ने इसे दूर-दूर तक फैलाया। साधारण समाज के आम आदमी की पीड़ा-व्यथा को इन सन्त कवियों ने समझा और जनमुक्ति के एक प्रखर-स्वर का उद्घोष अपनी काव्यसर्जना में किया। तत्कालीन समाज में जो और भी विकार, विषमतायें, विसंगतियाँ थीं, उनको उजागर कर उनके परिष्कार के उपाय भी इन सन्त-कवियों ने बताये। व्यक्ति और समाज के नैतिक-आचरण में जो दोष थे,

व्यक्ति और समाज जिन व्यसनों, बुराइयों और कुरीतियों का शिकार था, समय ने निर्भीकता से उन पर प्रहार किया और एक सात्विक, स्वस्थ व विशुद्ध अनुशासित जीवन जीने की उन्हें प्रेरणा दी। राजस्थानी सन्त-कवियों की यह सामाजिक अन्तश्चेतना, उनके साधनामय जीवन, करनी और रहनी, उपदेश तथा काव्य-सृजन का एक मुखर व ओजस्वी बिन्दु है।

इन सन्तों ने सारे मनुष्यों को एक जाति माना तथा मानव जातिय सभी धर्मों को एक धर्म माना। एक मानवधर्म 'सत्य' इन सन्तों के जीवन का केन्द्र बिन्दु था। सत्य ही इनका गुरु था, सत्य ही इनका ईश्वर था। इन्होंने इसी सत्य को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी। इसीलिये धर्म के बाह्याचारों और कर्मकाण्डों से अलग, सन्तों के इस 'अनुभूत सत्य' को तत्कालीन जनता ने स्वीकार किया।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सन्तों के इस सामाजिक जागरण के आन्दोलन को इसप्रकार रेखांकित किया है :-

सन्तों की एकेश्वरवादी भावना, सामाजिक भेदभाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्ट्य ने यहा की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया, जिससे उनमें नवजागरण एवं स्वावलम्बन का स्वर उठने लगा और उसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्चवर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम ढीले करने पड़ गये। फलत: भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमश: लोकोन्मुख हो गया।

राजस्थानी सन्तों के साहित्य की भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका है, जो इस प्रदेश के साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक महत्त्व की है। इन सन्तों का साहित्य इस प्रकार जीवन में अस्वीकार का नहीं, स्वीकार का साहित्य है। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक अन्याय और अत्याचार के समय सन्तों के साहित्य ने, उनकी वाणियों ने, उनके उपदेशों ने शोषित और वंचित जातियों का मनोबल बनाये रखा, जीवन में उनकी आस्था बनी रही।

जांभोजी, जसनाथजी, दादू, रज्जब, चरणदास, रामचरणजी आदि के साहित्य में ऐसे अनेक छन्द हैं, जिनमें जाति-पाँति और वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार किया गया है, यथा :-

1. उत्तिम कुली का उत्तिम न कहिबा,

कारण किरिया सारू।

—जंभगीत, पृ. 83

2. जो कोई जात हुवे जसनाथी,
उत्तम करणी हालें आछी।

—जसनाथ पुराण-59

3. चार वरन आश्रय नहीं,
नाही कर्मना को ईस।

—चरनदास की बाणी, पृ. 11

4. हरीया आतम एक है, सब ही घट-घट बीच।
बाकुं देखै दोय करि, सोई मिनषा नीच॥

—हरिरामदास की बाणी-71

हिन्दू-मुस्लिम एकता और धर्मनिरपेक्षता :

1. दादू करणी हिन्दू तुरकी, अपणी-अपणी ठौर।
दुहूं बीच मारग साधुका, यहु संतों की और॥

—दादू

2. वे मसीत, वे देहुवरे, धर्म्या फिरे निराट।
रामचरण हिन्दू-तुरक, निकस्या एके घाट॥

—हरिरामदास जी

3. दादू दोनों भाई, हाथ-पग, दोनों भाई काना।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान॥

—दादू-सन्तसुधासार, पृ. 296

4. हिन्दू की हदि छांडिकै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हिया, एके राम अल्लाह॥

—सुन्दरदास-सुन्दरसार-114

धर्माडम्बरों व अन्धविश्वासों का खण्डन :

1. दादू कोई दौड़े द्वारिका, कोई काशी जाहि।
कोई मथुरा को चले, साहिब घट में नांहि॥

—दादू पंथ, पृ. 18

2. लालजी साधु ऐसा चाहिये, धन कमाकर खाय।
हिरदे हर की चाकरी, पर घर कभू न जाय॥

—लालदास

3. *माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहै न राम।*
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम॥

—दादूवाणी

4. *भूख भरड़ा कान फड़ावै, सेवै मड़ा मसांणी।*
कांधे पाछै मेंखल थाजै, कोरा रह्या अपांणी॥

—वही

5. *लालजी वा चितेरा को याद कर, जिन चितरा संसार।*
एक आवत एक जात है, लाग रही है लार॥

—लालदास के पद व वाणी

6. *काची काया गळबळ जासी, कूं कूं बरणी देहा।*
माटी में माटी मिल जासी, भसम उड़े हुए खेहा॥

—जसनाथ पुराण-67

दुर्व्यसन व सामाजिक-कुरीतियों की भर्त्सना :

ऊपर कई बार यह उल्लेख हुआ है कि राजस्थान के सन्तकवि व्यक्ति के आचरण, सामाजिक बुराइयों और जीवन-मूल्यों के विघटन के प्रति बड़े सजग और जागरूक थे। आत्मा और परलोक की साधना तो उनके दर्शन और उपदेशों का मुख्य स्वर था ही किन्तु इससे भी अधिक पहले वे इहलोक के जीवन की पवित्रता और शुद्धता को महत्त्व देते थे। स्वस्थ-शरीर, स्वस्थ-मन, स्वस्थ-पवित्र-मर्यादित-आचरण इन सन्तों की दृष्टि में आध्यात्मिक साधना के पथ की पहली शर्त थी। धार्मिकता और आध्यात्मिकता के साथ इन सन्तों ने व्यक्ति और समाज को भी उतना ही महत्त्व दिया। इन्होंने आत्मसुधार पर बल दिया जो प्रकारान्तर में समाज-सुधार ही है।

राजस्थान के प्रत्येक सन्त-सम्प्रदाय ने अनुयायियों के लिये एक आचार-संहिता निर्धारित की है। विश्नोई सम्प्रदाय, जसनाथी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय में तो इस संहिता का पालन अनुयायियों के लिये अनिवार्य है। ये नियम खाने-पीने व व्यवहार विषयक हैं। नशीली वस्तुओं का सेवन, मांसाहार, मद्यपान, परस्त्री-गमन, हिंसा, परनिन्दा आदि अनुयायियों के लिये वर्जित कर्म हैं।

1. ***लालजी शील रतन सबसूं बड़ा, सब रतनन की खान।***
इक्कीस लोक की सम्पदा, बसी शील में आन॥

—लालदास की वाणी

2. *लालजी दिल भीतर दरियाव है, तू क्यों तीरथ जाय।*
पांच इन्द्री बस करी, घट ही भीतर न्हाय॥
3. *लाख यही उपदेश है, एक शील कूं राख।*
जन्म सुधारो हरि मिलौ, चरणदास की साख॥

—चरणदास सबद

4. *दया, नम्रता, दीनता, क्षमा शील सन्तोष।*
इनकूं ले सुमिरन करे, निश्चै पावे मोष॥

—चरणदास सबद

सत्संग व सद्गुरु का महत्त्व :

सन्तों ने जीवन में शील और सद्-आचरण पर खूब जोर दिया है। उनका अधिकांश साहित्य इस विषय में है। आत्मोत्थान और नैतिक चरित्रोत्थान के लिये उन्होंने गुरु की महिमा और सत्संग की उपयोगिता का खूब उल्लेख किया है। जब व्यक्ति को गुरु द्वारा निरन्तर अच्छा मार्गदर्शन और प्रेरणा मिलेगी तो निश्चित है कि व्यक्ति सद्पथ पर चलकर अपना आत्मविश्वास करेगा। यही महत्त्व जीवन में सत्संग का है। स्वस्थ व सात्विक परिवेश हमारे विचारों, भावों और व्यवहार को सन्तुलित रखता है। यद्यपि सन्तों ने ऐसे गुरुओं की निन्दा और आलोचना भी की है जो स्वयं पतित और भ्रष्ट हैं तथा धर्म का व्यवसाय करते हैं।

सद्गुरु और सत्संग की आध्यात्मिक उपयोगिता तो है, इनकी सामाजिक उपयोगिता कम नहीं है। सन्तों की दृष्टि में इस प्रसंग में भी व्यक्ति और समाज रहा है। गुरु और सत्संग के महत्व पर सन्तों के कुछ विचार द्रष्टव्य हैं :

1. *हरि रूठे कुछ डर नहीं, तू भी दे छुटकाय।*
गुरु को राखो शीश पर, सब विधि करे सहाय॥

—चरणदास

2. *न गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।*
दून्यूं बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नांव॥

—वही

3. *गळियारे गुरु फिरत हैं, घर-घर कंठी देत।*
और काज उनको नहीं, द्रव्य कमावन हेत॥

—वही

राजस्थान के ये सन्त कवि (दो-तीन अपवादों को छोड़कर) शास्त्रीय दर्शन के पंडित नहीं थे, वे जीवन-व्यवस्था के सूक्ष्म चिन्तक थे। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, एकेश्वरवाद या बहुदेववाद जैसे किसी रूढ़ सिद्धान्त के वे आग्रही नहीं थे, वे तो सहज और स्वत: रूप से ज्ञान के संग्रही थे। इसीप्रकार न उन्होंने साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, भाषाशास्त्र या समाजशास्त्र पढ़ा था। हां, लोकजीवन, लोकहृदय और लोकमानस के वे अनुभवी अध्येता थे। उन्होंने वही बात कही जो उन्होंने अनुभव की और व्यक्ति तथा लोक-समाज के लिये आवश्यक समझी। अत: इन सन्तकवियों ने शास्त्रीय ज्ञान और पाण्डित्य की सम्पूर्ण लक्ष्मण रेखाओं को ध्वस्त कर दिया और सहजता के दर्शन का अलख जगाया।

आज देश की जो नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक स्थिति है, वह बहुत ही चिन्तनीय है। सत्ता, पूंजी, धर्म और राजनीति ने मिलकर देश और समाज के जीवन मूल्यों की जो अधोगति की है, ऐसे समय में मध्यकालीन इन सन्त कवियों का स्मरण हो रहा है। उनकी विचारधारा, उनका सामाजिक चिन्तन आज भी प्रासंगिक और उपादेय लगता है। इन सन्तों के दर्शन में जीवन की आस्था, जीवन की शक्ति, जीवन का उत्साह, जीवन की कर्मण्यता अन्तर्निहित है। काश ऐसे सन्तों की वाणी फिर देश के घर-घर में गूँजे, फिर ऐसे सन्तों का देश में अवतरण हो।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कृति 'साधना' से एक अनुच्छेद उद्धृत करने का मोह नहीं छूट रहा है। उपनिषदों का कथन है कि विश्वचेतना की कुँजी आत्मचेतना है। अपनी आत्मा को अपने से भिन्न जानना ही ब्रह्मज्ञान की पहली सीढ़ी है। हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारा सच्चा रूप आत्मा है। यह ज्ञान हमें संसारी, अहंकार, भय, लोभ से ऊपर उठकर और यह मानकर कि संसारी लाभ-हानि व जन्म-मरण से आत्मा अछूती रहती है, हो सकता है।

सन्त कवि इसी दर्शन व व्यवहार के मूर्तिमन्त रूप थे। उन्हें नमन है।

लोक साहित्य केन्द्र
93, नेहरू पार्क, जोधपुर

□□

मध्यकालीन सन्त-साहित्य का उद्‌भव : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य-एक पुनर्मूल्यांकन

— सेवा सिंह

सन्त-साहित्य के उद्‌भव के पुनर्मूल्यांकन के इस प्रस्तुत प्रयोग में 'इस्लामिक प्रतिक्रिया' का प्रश्न ही मुख्य रूप से उठाया गया है। सम्प्रति अनेक कारणों से यह मुद्दा नितान्त प्रासंगिक और महत्वपूर्ण प्रतीत होने लगा है। इससे एक तो सन्त-साहित्य के अध्ययन-मूल्यांकन की दृष्टि प्रभावित है, दूसरे इसने, भारतीय इतिहास के उत्तर-मध्यकाल के प्रति एक विशिष्ट मनोवृत्ति को पल्लवित किया है।

इस्लामिक प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निम्नलिखित कथन प्रायः उद्‌धृत किया जाता है :-

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देव-मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। आगे चलकर, जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनैतिक उलटफेर के पीछे, हिन्दू-जन-समुदाय पर, बहुत दिनों तक, उदासी छायी रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त, दूसरा मार्ग क्या था?"[1]

इस मान्यता के प्रतिवाद में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है। यह बात अत्यन्त हास्यास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् के शरणागत की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।[2]

वादी-प्रतिवादी के रूप में प्रस्तुत ये दो उद्धरण कतिपय उल्लेखनीय विद्वानों द्वारा इतिहास-विषयक विवेक की वरीयता की अपेक्षा शुक्ल-द्विवेदी विवाद का मुद्दा बने रहे हैं, इसलिए शायद द्विवेदीजी की अन्य मान्यताओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

एक स्थल पर द्विवेदीजी ने लिखा है "जब नवीन धर्ममत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जाने वाले साधनों का उपयोग आरंभ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठाक समझ ही नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुंठित हो गयी। वह विक्षुब्ध सा हो उठा।"[3] आगे वे लिखते हैं "जिस प्रतिद्वन्द्वी से काम पड़ा था, वह बहुत वर्जनाग्राही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप से वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप से ग्रहणशील था।[4] उनका मानना था कि मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपासना और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र बिन्दु हो गयी।"[5] सोलहवीं शताब्दी को द्विवेदीजी अन्धकारमय युग मानते हैं।[6] विदेशी शक्तियाँ भारतवर्ष के इस कोने से उस कोने तक अपना आतंक-विस्तार कर चुकी थी। युद्ध-विग्रह में, वाणिज्य-व्यवसाय में, भीतरी और बाहरी राज्य-व्यवस्था में, सर्वत्र विदेशियों और विद्यार्थियों का हाथ था। इस देश में रहने वालों ने अनिच्छापूर्वक विवश होकर यह शासन-व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। बीच-बीच में सिर उठाने की कोशिश अगर कहीं हुई भी, तो तत्काल ही दर्प, चूर्ण कर दिया गया। सचमुच, यह युग इस दृष्टि से देखने पर अन्धकारमय दिखाई देता है।[7] अन्यत्र, वे लिखते हैं कि दसवीं शताब्दी के आसपास आते-आते हमारे देश की धर्म-साधना बिल्कुल नये रूप में प्रकट होती है। निस्सन्देह यहाँ से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का काल आरंभ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चलती रही। सच पूछा जाए तो विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल आरंभ होता है, जिसे संकोचनशील और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहा जाता है।[8] वे लिखते हैं कि मुसलमानों के आने के कारण हिन्दू समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी, बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उनकी जातिप्रथा अधिकाधिक कसी जाने लगी। छूत का भय और वर्णसंकरता की आशंका ने समूचे समाज को ग्रस लिया।[9]

उपर्युक्त उद्धरणों से निम्न बिन्दु उभर कर आते हैं :-

- मुसलमान आक्रमणकारियों ने देव-मन्दिरों को गिराया।

- देव-मूर्तियां तोड़ी गयीं।
- पूज्य पुरुषों का अपमान किया गया।
- इसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता था।
- भगवान् की करुणा की पुकार एकमात्र मार्ग था।
- आक्रमणकारी इस्लाम कुफ्र को गिरा देने के लिए वचनबद्ध था।
- इसके लिए वह सब प्रकार के साधनों का उपयोग कर रहा था।
- इससे हिन्दू-धर्म, आचार-प्रवण बनने लगा।
- दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी का समय अर्थात् भारतीय इतिहास का उत्तर-मध्यकाल स्तब्ध-मनोवृत्ति का काल है।
- मुसलमानों के आने के कारण आत्मरक्षा की प्रवृत्ति पैदा हुई।
- इससे अस्पृश्यता और वर्ण-व्यवस्था के बन्धन दृढ़ हुए।

उल्लेखनीय है कि हिन्दी के समस्त भक्ति-साहित्य-अध्ययन में इन धारणाओं को व्यापक मान्यता प्रदान की जाती है। जहाँ कहीं विरोध के स्वर उभरे भी हैं वहां परस्पर धारणाओं को निरस्त करने के लिए ही यत्किंचित् ऐतिहासिक प्रमाण जुटाए गए हैं, जिससे भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में एक समन्वित और सम्यक् इतिहास-बोध बनने की संभावना नहीं बन सकी।

ऊपर रेखांकित बिन्दुओं को देखते हुए एक नजर में यही धारणा बनती है कि भक्ति-आन्दोलन के हिन्दी-इतिहास-लेखन का मुखर और अन्तर्निहित स्वर इस्लाम-विरोध है। आक्रमणकारी धर्मान्ध थे, स्तब्ध-मनोवृत्ति तथा वर्ण-व्यवस्था का दृढ़ीकरण इस्लामिक आक्रमण और इस्लामिक साम्राज्य का परिणाम है। यह युग अन्धकारमय है। इस इस्लामिक साम्राज्य के पतन के बाद ही हम नये युग में प्रवेश कर पाये हैं। भक्ति-आन्दोलन इस चुनौती के समक्ष एक प्रयत्न है।

ध्यान देने की बात है कि इन व्यापक तौरवाली मान्य धारणाओं को भक्ति-आन्दोलन के हिन्दी-इतिहास, लेखकों द्वारा किसी भी प्रकार के साहित्यिक अथवा दस्तावेजी ऐतिहासिक साक्ष्यों के क्रमबद्ध प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं किया गया है।

द्विवेदीजी ने एक स्थल पर बताया है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का हाल बारहआना वैसा ही होता जैसा आज है।[10] डॉ. नामवर सिंह ने बताया है कि इस नारकीय घोषणा की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्यों कि बहुत से विद्वान् हिन्दी-साहित्य के उदय को, मुसलमानों और हिन्दूओं के संघर्ष का परिणाम

मानते हैं।[11] द्विवेदी जी का मानना है कि यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय हैं और बौद्ध-धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।[12] इस प्रकार, द्विवेदीजी के अनुसार सन्त-साहित्य का बारह आना कलेवर नितान्त भारतीय और बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में सन्त-साहित्य का शेष चार आना इस्लाम के आने का परिणाम है।[13]

भारतीय इतिहास-परम्परा में तुर्कों के आक्रमण से पूर्वकाल को पूर्व मध्यकाल कहा जाता है तथा तुर्क-अफगान-मुगल शासनकाल को उत्तर-मध्यकाल। सन्त-साहित्य का सम्बन्ध उत्तर-मध्यकाल से है, जो हिन्दी-साहित्य-इतिहास-लेखन का पूर्व-मध्यकाल है। सन्त-साहित्य के उद्‌भव के सन्दर्भ में प्रतिपादित इतिहास-बोध के अन्तर्गत यदि द्विवेदीजी के 'बारह आना' सूत्र को प्रस्थान-बिन्दु मान लिया जाये, तो हमें इस पड़ताल का आरंभ पूर्व-मध्यकाल और उस युग की साधनाओं की जानकारी से करना होगा। सन्त-साहित्य के अध्ययन में द्विवेदी जी का महायान (बौद्ध-धर्म) के प्रति विशेष मोह रहा है।

महायान बौद्ध धर्म का उद्‌भव सातवाहन-साम्राज्य में, आन्ध्र-प्रदेश में प्रथम शताब्दी बी.सी. या प्रथम शताब्दी ए.डी. में हुआ। महायानी ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम हुआ है कि महायान में बुद्ध की लोकोत्तरता, बोधिसत्त्व, बुद्ध-भक्ति, बुद्ध-पूजा, बुद्ध-लीला, स्तूप-पूजा, सिद्धियाँ, चमत्कार, दश-भूमियां, पौराणिक कथा-कल्पना आदि बातें चतुर्थ शताब्दी में प्रविष्ट हो चुकी थीं। इनकी चर्चा महायान के दो ग्रन्थों 'महावस्तु' (द्वितीय शताब्दी) तथा 'ललित विस्तर' (चौथी शताब्दी से पूर्व) में विस्तार से की गयी है। महावस्तु में बुद्ध के जीवन की जो कथाएँ वर्णित की गयी हैं, वे चमत्कारों से पूर्ण हैं। भगवान् बुद्ध बोधिसत्व के रूप में चित्रित किए गए हैं। 'बुद्धानुस्मृति सूक्त' पौराणिक विष्णु, शिव आदि देवताओं के सूक्तों से भिन्न नहीं हैं।[14]

महावस्तु में प्रायः ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि बुद्ध की पवित्रता इतनी महान् है कि केवल उनकी पूजा-उपासना-मात्र से कोई निर्वाण प्राप्त कर सकता है। केवल स्तूपों की परिक्रमा और पुष्पार्पण मात्र से अनंत सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है।[15] अनेक बुद्धों का वर्णन है। कहा गया है कि बोधिसत्व माता-पिता द्वारा उत्पन्न नहीं किए जाते, अपितु स्वयं अचानक अपने गुणों से आविर्भूत होते हैं।

'ललित विस्तर' ग्रन्थ में बताया गया है कि बुद्ध का इस पृथ्वी पर जीवन और चरित्र केवल अलौकिक शक्ति की लीला है। बुद्ध के केश से एक किरण निकलती

है और सभी बुद्ध-क्षेत्रों, बुद्धों और बोद्धिसत्वों को प्रकाशित कर देती है। 'सद्धर्भ पुण्डरीक' (प्रथम शताब्दी) के बुद्ध-देवाधिदेव से कम नहीं हैं, अनंत हैं, महाभिषम् हैं।[16]

पालि-सूत्रों की तरह 'पुंडरीक के बुद्ध' उपदेश देते हुए स्थान-स्थान घूमते नहीं अपितु गृध्रकूट पर्वत पर भिक्षुओं और भिक्षुणियों, बुद्धों, बोधिसत्वों, देवताओं, अर्द्धदेवताओं के विशाल समूह से आवृत्त होकर बैठते हैं। जब वे धर्म-वर्षा की इच्छा करते हैं तो उनके दोनों ध्रुवों के बीच की रोमावलि से प्रकाश-किरण फूटती है। जिससे अठारह सहस्त्र बुद्ध, क्षेत्र, तन्निहित जीव, बुद्ध आदि सभी उससे प्रकाशित हो उठते हैं। पुण्डरीक में वर्णित बुद्ध, शक्तिमान्, सिद्ध और ऐन्द्रजालिक हैं, जिनको भक्त, श्रोताओं की इंद्रियों से क्रीड़ा करना अत्यधिक प्रिय है।

महायान में भक्ति का यह नया तत्व ईसा की चौथी शताब्दी तक प्रविष्ट हो चुका था। बुद्ध की यथार्थवादी विषय-वस्तु, प्रज्ञा-पारमिता में पर्यवसित हो रही थी, जिसका अर्थ-सर्वधर्म-शून्यता बताया गया है यह भी कि शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाला व्यक्ति ही प्रज्ञा-पारमिता को प्राप्त कर लेता है। यह मानकर चला जाता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, न अहेतुतः होती है। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रहता। उस समय यह परमार्थ स्वतः भासित होने लगता है कि यह दृश्यमान वस्तु-समूह, माया के सदृश है। स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या है। जगत् की सत्ता, केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जगत् का जो स्वरूप हमारे इन्द्रिय-गोचर होता है वह उसका मायिक स्वरूप है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है।[17]

आदि-बौद्ध-दर्शन और महायान धर्म में भेद का मुख्य बिन्दु है-यथार्थवादी शास्ता (गुरु) बुद्ध और मुक्ति के लिए निजी उत्तरदायित्व की धारणा का, लोकोत्तर, पारलौकिक बुद्ध, उसकी भक्ति तथा मुक्ति के लिए बुद्ध के अनुग्रह पर निर्भरता, सर्व-मिथ्यात्व के दर्शन शून्यवाद और विज्ञानवाद में रूपान्तरण। आदि बौद्धों से महायान का यह रूपान्तरण प्रत्याशित एक नये समाज की जरूरतों के मद्देनज़र देखा जा सकता है। लगता है कि एक ऐसा समाज महायानियों के सम्मुख था, जो उनकी चिन्तन-प्रक्रियाओं में प्रतिबिम्बत हो रहा है, जहाँ, वास्तविक दुख को ही भ्रम सिद्ध करके घोर यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर दिये लोगों को, नयी व्यवस्था के साथ समनुकूलता का प्रयास है। पर यह किसलिए? इसका उत्तर, विहारों को दिए गए वैभवशाली भूमि-अनुदानों में अच्छी तरह मिल सकता है।

इसप्रकार के साक्ष्य मिलते हैं, जिनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि मौर्योत्तर-काल से ब्राह्मणों को भूमि अनुदानों के व्यापक प्रचलन से अर्थव्यवस्था तथा शासन-प्रबन्ध सामन्तीय ढाँचे में ढलने लगा था। उस समय के तमाम धर्म ग्रन्थों में भूमिदान के रूप में अर्जित पुण्य-कर्मों का विस्तापूर्वक वर्णन किया गया है। प्रो. रामशरण ने बताया है कि भूमि-अनुदान का सबसे प्राचीन अभिलेखीय प्रमाण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के एक सातवाहन कालीन अभिलेख में मिलता है, जिसमें अश्वमेध-यज्ञ में, एक गाँव देने की चर्चा है।[18] इसके बाद ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें-निरन्तर भूमि अनुदानों की व्यापकता दिखाई देती है, जिससे उत्तरोत्तर विकेन्द्रीकरण बढ़ता गया है। भूमि-अनुदानों के अन्तर्गत राजा-चरागाह, काष्ठागार, नमक की खान और सभी भूगर्भ-सम्पदा तथा विष्टि आदि राजस्व के प्रायः सभी साधनों का परिहार कर देता था। साथ ही दाता दान किये गाँवों के निवासियों पर शासन करने का अधिकार भी गृहीता को दे देता था। गुप्त-काल में मध्य-भारत के बड़े-बड़े सामन्त राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान-स्वरूप बसे-बसाये गाँव देने के ऐसे, कम से कम, आधे दर्जन उदाहरण तो मिलते ही हैं, इन अनुदानों में सामन्त राजाओं ने सम्बन्धित गाँवों के निवासियों को, जिनमें किसान और कारीगर दोनों शामिल थे, स्पष्ट निर्देश दिया है कि गृहीताओं को केवल प्रचलित कर ही नहीं दें, बल्कि उनके आदेशों का भी पालन करें। इससे अनुमान लगाया गया है कि गाँव का दान वास्तव में गाँववासियों सहित गांव का दान है, जिसका अर्थ है गाँव में, राजा की करदाता प्रजा, अब से दाता को कर देगी।[19]

असम, बंगाल, बिहार, बुंदेलखण्ड, राजस्थान, महाराष्ट्र और खंभात के पहाड़ी राज्य से प्राप्त 11वीं और 12वीं शताब्दियों के कुछ अभिलेख भी शासकों द्वारा धार्मिक संस्थाओं और ब्राह्मणों को अनुदान में दी गई भूमि और गाँवों के उल्लेख के साथ-साथ व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से, किसानों और कुछ जगह दस्तकारों और व्यापारियों तथा ग्राम-परिचरों का भी उल्लेख करते हैं।[20]

'बौद्ध दोहा'[21] में अज्ञान में डूबा 'चित्त' बन्धन का मूल कारण माना गया है, यह ठक्कुर कहलाता है। ठक्कुर अर्थात् ठाकुर-राजा अथवा अविद्या-ग्रस्त-चित्त। ठाकुर, 10वीं शताब्दी के बाद से शासक भूस्वामी अभिजात वर्ग की एक प्रसिद्ध उपाधि है। 'उपमिति भाव प्रपंच कथा' (10वीं शताब्दी का आरंभ) में भी, सामंती-वर्ग-क्रम स्पष्ट रूप से दिखाया गया है, जिसमें संसार के बन्धन को सरदार या शासक की जागीर के समतुल्य रखा गया है। इस आलेख के कुछ पद्य बताते हैं कि शासक के राज्य में रहने वाले दयनीय लोग जीवन-निर्वाह के साधनों के लिए उस पर आश्रित थे और

केवल मृत्यु ही उन्हें उस परिसीमित ढाँचे से बाहर लाकर उस दासता से मुक्ति दिला सकती थी।[22]

इस युग में व्यापार और उद्योग से होने वाली आय भी धार्मिक अनुदानों में देने का चलन आरंभ हो गया था।[23] शिल्पियों और व्यापारियों की आर्थिक प्रवृत्तियों पर एक हद तक मन्दिरों का नियन्त्रण हो गया। पालों और प्रतिहारों के राज्यों में गाँवों की बिल्कुल यही स्थिति थी। जातकों में शिल्पियों के गाँवों का उल्लेख है, लेकिन पालों के अधीन गाँवों की आबादी के स्वरूप की जो थोड़ी बहुत जानकारी हमें उपलब्ध है, इससे लगता है कि इन गाँवों में सिर्फ किसान ही नहीं बल्कि ब्राह्मणों से लेकर मेहों, अन्ध्र और चाण्डालों तक सभी पेशे के लोग रहते थे। शिल्पी लोग अपनी इच्छानुसार अपना धन्धा नहीं चला सकते थे, बल्कि जिस प्रकार किसान अपने प्रभुओं की इच्छा पर चलते थे, उसी प्रकार दस्तकारों को भी अपने-अपने प्रधानों की मर्जी पर चलना पड़ता था। शिल्पी अपने मन से कहीं आना-जाना या बसना नहीं कर सकते थे और अपने मन से अपने धन्धे में परिवर्तन नहीं कर सकते थे।[24] मालवा, गुजरात और राजस्थान के अभिलेखों से पता चलता है कि इन क्षेत्रों में ज़मीन का अधिकांश हिस्सा जागीरों के रूप में राज-परिवार के कुटुम्बियों, सामन्तों तथा राज्याधिकारियों के हाथों में ही था।[25]

कुल मिलाकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक भारतीय परिदृश्य में, अधिकाधिक कृषि-प्रधान स्वरूप, वाणिज्य, व्यापार तथा शहरी-जीवन का पतन, मुद्रा का नितान्त अभाव, बेगार का प्रचलन, स्थानीय अर्थव्यवस्था की बन्द इकाई या एक बड़े शासक भूमि-धर अभिजात, वर्ग और भूस्वामी श्री-मंतों का उदय, निचले तबके के किसानों की दुर्दशा, कारीगरों तथा अन्य व्यवसायों का ह्रास दिखाई देता है। संभव है यदा-कदा दासता में शूद्रों ने हिंसा का आश्रय लिया हो। इस सम्बन्ध में महिपाल और रामपाल के समय बंगाल में हुए कैवर्तों के सशस्त्र-विद्रोह की ओर ध्यान दिलाया गया है।[26] लेकिन इस प्रकार के उदाहरण बहुत अधिक नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि परम्परावाद की जकड़, तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में लोगों को सन्तुष्ट बनाए रखने वाली एक विशेष प्रकार की धार्मिक और सामाजिक विचारधारा, समाज का विभाजन, विशेषतः अनेक जाति-समूहों के रूप में शूद्रों का भारी संख्या में उद्भव आदि, बातों ने सशस्त्र-विद्रोह की संभावना को बहुत कम कर दिया।[27]

चतुर्दिक ह्रास का काल माने जाने वाले, इस काल के पौराणिक ग्रन्थों[28] में दिये गये कलियुग के वर्णनों में, गड्डमड्ड तरीके से, जाने कितनी ही घटनाओं और प्रवृत्तियों

का उल्लेख किया गया है-विदेशी आक्रमण, काफी-हद तक विदेशियों (यवनों, शकों, हूणों आदि) तथा सीमावर्ती लोगों की शिरकत से बने बड़े शासक अभिजात-वर्ग का उदय, अकाल और सूखे जैसी प्राकृतिक विपत्तियाँ, नगरों के ह्रास तथा वाणिज्य-व्यापार और मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था के ह्रास के रूप में लक्षित आर्थिक स्थिति में गिरावट, शूद्रों के उत्थान, वैश्यों के पतन तथा पुराने शासक अभिजात वर्ग और पुरोहित अभिजनों की अवनति के रूप में चातुर्वर्ण्य में उत्पन्न व्याघात, सामाजिक संघर्ष में वृद्धि, भारी करों तथा अत्याचारपूर्ण उठे बेगार के उल्लेखों के रूप में प्रतिबिम्बित उदीयमान शासक-वर्ग के शोषणकारी कार्य और किसानों की तज्जनित परवशता, परम्परा-विरोधी धर्मों का प्रभाव तथा परम्परा से चले आ रहे नैतिक और धार्मिक मूल्यों का पतन।[29]

भूमि-अनुदानों की सुसंगतता में महायान-धर्म का उद्भव हुआ है। गुप्त-काल में भूमि-अनुदानों का एक अन्य पहलू भी है, जिसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। इससे दूर, सुदूर तपन-जीती जातियों के क्षेत्रों के अनुदानों से कृषि के विस्तार के साथ-साथ इन जातियों के सँस्कृतिकरण का सिलसिला शुरू हुआ। यह पूर्व-मध्यकाल की एक अन्य मुख्य विशेषता है। आधुनिक नृतत्त्व-शास्त्रियों ने इस प्रकार की जन-जातियों का बड़ी गहरायी से अध्ययन किया है। इनके शुरू से ही-अपने मत, विश्वास और कर्मकाण्ड रहे हैं। जादूयी प्रकार के इनके कर्मकाण्डों के अपने पुरोहित भी होते हैं, जो विधिपूर्वक इन कर्मकाण्डों का निष्पादन करते हैं। ये समुदाय मूलतः मातृ-सत्तात्मक होते हैं। तन्त्रवाद का सम्बन्ध इन्हीं मातृ-सत्तात्मक जनजातियों से है। इस युग में बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि धर्मों में तांत्रिक-तत्व का समावेश इन जनजातियों के विलीनीकरण की प्रक्रिया का एक भाग है। इसके साथ ही राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक प्रभुत्व के अन्तर्विरोधों के कारण बौद्ध अथवा ब्राह्मणीय अभिजात्य-वर्ग के विपरीत इन जन-जातियों की धर्मसाधना ने विभिन्न रूपों में, अपना अस्तित्व बनाये रखा है। जन-जातियों के आत्म-विलीनीकरण की अनुकूलता की स्थितियों में इन्हें वर्ण-व्यवस्था के ढांचे में शुद्र-वर्ण के अन्तर्गत स्थान दिया गया। इस सामंजस्य के लिये कालान्तर में स्मृतियों एवं धर्म-शास्त्रों के नये-नये भाष्य तैयार किये जाते रहे। प्रबन्ध-ग्रन्थों के माध्यम से नये-नये, विधि-विधान और आचार-विचार बना लिये गये। सामन्तीय सोपानात्मकता में सन्तुलन बनाये रखने के लिये आत्मसमर्पण भाव, श्रद्धायुक्त भक्ति-तत्व का प्रचार-प्रसार महाकाव्यों तथा पुराणों के कपोल-कल्पित कथानकों के माध्यम से किया गया। सामन्तीय प्रभु-वर्ग द्वारा अपना अन्यायपूर्ण वर्चस्व बनाए रखने के लिए भक्ति-तत्व सबसे कारगर अस्त्र था। अतः भक्ति-आन्दोलन के प्रतिमान से भक्ति-तत्व का मूल्यांकन एकांगी दृष्टि है। भक्ति के उद्भव की पृष्ठभूमि और प्रयोजनशीलता निर्णायक तत्व हैं। भक्ति-आन्दोलन

की भक्ति का स्रोत ढूंढ़ने में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा। महायानियों की भक्ति के साथ अन्धविश्वासों का एक विराटतंत्र है जिससे प्रादुर्भूत जगत् मिथ्यात्व के शून्यवादी और विज्ञानवादी दर्शनों ने मानवीय चेतना को ही विलुप्त कर दिया है। जैसा कि बताया जा चुका है कि महायानियों की भक्ति के मूल में, भूमि-अनुदान्न देने वाले प्रभुओं के लिए उत्पीड़ित जनता की अनुकूलता का एक प्रयास हैं। गीता के भक्ति-तत्व के साथ, वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत स्वधर्म की शर्त है। दक्षिण भारत का परिवेश जाने हुए इतिहास काल से सामन्तीय ढाँचे में ढलता रहा है। निरन्तर मिलने वाले भूमि-अनुदानों के बल पर विशाल, वैभव-पूर्ण, भव्य मन्दिरों की स्थापना का वहाँ एक लम्बा सिलसिला है, जिससे-भक्ति के उद्भव तथा कार्यशीलता को काटकर नहीं देखा जा सकता। जबकि मध्यकालीन सन्तों का साहित्य कर्मकांडीय अन्धविश्वासों की निरर्थकता, अनावृत्त करते हुए, मानवीय शोषण के विरूद्ध, जागरूकता और धर्म-निरपेक्ष-विवेक पैदा करने में आज तक प्रासंगिक है। अत: इतिहास के तथ्यों को नज़रन्दाज़ करते हुए, एकांगी दृष्टि से, केवल वाणियों की बाहरी रूपरेखा के आधार पर 'बारहआना' सूत्र से सन्त-साहित्य का मूल्यांकन द्विवेदीजी के युग, बोध में बाधक सिद्ध हुआ है। सन्त-साहित्य के उद्भव और मूल्यांकन का इतिहास-बोध तथाकथित भारतीय पुनर्जागरण की 'हिन्दुवादी' दृष्टि से भी ग्रस्त है। इसके अन्तर्गत भारतीय इतिहास के उत्तर मध्यकाल की समस्त उपलब्धियों को नज़रन्दाज़ करने के प्रयास से भक्ति-आन्दोलन के योगदान की छवि नहीं बन सकी। भारतीय पुनर्जागरण के उपजीव्य दार्शनिक स्रोत वेद और वेदान्त हैं। इस दृष्टिकोण से यह धारणा पल्लवित हुई है कि भारतवर्ष, पिछले आठ सौ वर्षों से परतन्त्र रहा है। इसका अनुसिद्धान्त है 'इस्लाम की प्रतिक्रिया में भक्ति, आन्दोलन का उद्भव।'

सम्प्रदायवादी दृष्टि ने भी सन्त-साहित्य के मूल्यांकन में बाधा उपस्थित की है। मध्यकालीन सन्तों के नाम से संगठित सम्प्रदायों ने कलियुग के मिथ का भरपूर उपयोग किया है। सम्प्रदाय-प्रवर्तक का अवतरण कलियुग के प्रभाव को समाप्त करने के प्रयोजन में प्रस्तुत किया गया है। इन ढेरों वर्णनों का समूचा प्रभाव यह बनता है कि भारतीय इतिहास का उत्तर मध्यकाल घोर यातनापूर्ण उत्पीड़न का युग था। केवल एक उदाहरण के तौर पर, सिख-गुरुओं के जीवन-वृत्तों का अधिकांश भाग तत्कालीन साक्ष्यों की छानबीन के बिना, अतिरंजित भावात्मक तथा आस्थामूलक कथानकों के बल पर खड़ा किया गया है। महत्त्व-प्रतिपादन के लिए, ऐसा प्रयास, लगभग सभी सन्तों के सन्दर्भ में हुआ है। इससे तुर्कों, अफगानों, मुगलों के शासनकाल के प्रति एक अपनत्व का भारतीय, भाव अवरुद्ध हुआ। इस प्रवृत्ति ने सन्त-साहित्य के मूल्यांकन को गहरायी तक प्रभावित किया है।

इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि सन्त-साहित्य ऐसा इतिहास-बोध प्रदान करने में सक्षम है, जिससे हम वर्तमान साँस्कृतिक संकट से उबर सकें। इसके साथ ही, अपनी आध्यात्मिक प्रकृति के कारण ऐसी अन्तर्निहित संभावनायें भी सन्त-साहित्य में विद्यमान हैं, जिनकी साम्प्रदायिक परिणति हो सकती है। अतः समस्त भारतीय इतिहास को आत्मसात करते हुए, सन्त-साहित्य के उद्भव का पुनर्मूल्यांकन, सम्प्रति, विशेष रूप से इतिहास-बोध की दृष्टि से एक अत्यन्त ज्वलन्त प्रश्न है, जिसे, इस आलेख में प्रस्तुत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ खुला छोड़ देने की गुस्ताखी कर रहा हूं।

सन्दर्भ सूची :-

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 63
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, पृ. 55
3. वही, कबीर, पृ. 150
4. वही।
5. वही।
6. ग्रन्थावली 4/51-52
7. वही, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ. 24
8. वही, पृ. 99
9. वही, पृ. 108
10. वही, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 75
11. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 70
12. द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 28
13. नामवर सिंह, पूर्वोद्धृत।
14. महावस्तु, 1, 163
15. वही, 2, 362
16. संद्धर्भ पुण्डरीक, 15, 20-21
17. हिन्दी दीर्घ निकाय, पृ. 15
18. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 2
19. डी.सी. सरकार, लैंड सिस्टम एण्ड फ्यूडेलिज्म इन ऐंशियेन्ट इंडिया, पृ. 61
20. रामशरण शर्मा, सम आस्पेक्ट्स ऑफ दि चेजिंग आर्डर इन इंडिया ड्युरिंग दि शक कुषाण एज 'कुषाण स्टडीज'।

21. 'बौद्ध दोहा' चरिया पद 12
22. उपमितियाव-प्रपंच कथा, पृ. 647-48
23. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 130
24. वही, पृ. 132
25. वही, पृ. 224
26. ए.एन.बोस, सोशल एण्ड रूरल इकॉनॉजी ऑफ नार्दर्न इंडिया, द्वितीय, पृ. 486
27. .मध्यकालीन भारत-1 (सम्पादक) इरफान हबीब, बी.एन.एस. यादव, 'प्रारम्भिक मध्यकालीन व्यवस्था में भारतीय किसान वर्ग की अगतिशीलता और दासता' पृ. 16
28. महाभारत 3.186, 3.188
    वायु-पुराण 58
    विष्णु-पुराण 6.1.2
    ब्रह्माण्ड-पुराण द्वितीय, 3.74
    मत्स्य-पुराण 273
    भागवत-पुराण 12.2.3
29. इतिहास अंक 1, 1992
    बी.एन.एस. यादव, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण' पृ. 66

गुरु नानकदेव यूनिवर्सिटी
अमृतसर

सन्त का जन्म और पर्यावरण
हादी बरहक (बुध प्रकाश)- एक परिचय

— डॉ. देव कुमार

साधूजनों के प्रति निवेदन है :

जड़ चेतन गुनदोसमय, विस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि-विकार॥

(हेय-उपादेय)

प्रकृति ही सन्तों की जन्म-दात्री है। पुनः प्रकृति ने ही दुष्टों को भी बना दिया है।

एक अवस्था में पानी सड़ता है। पानी की सड़न को प्रदूषण कह सकते हैं। इस प्रदूषण-स्वरूपी काई (फंगस) से ही बड़े-बड़े रोगों का उपचार करने के लिए 'पेन्सिलिन' आदि विभिन्न दवाऐं तैयार की जाती हैं। प्रकृति अर्थात् जो भी जड़ या चेतन हमें घेर कर सब ओर व्याप्त हैं, यही पर्यावरण हैं। पर्यावरण में भौगोलिक परिस्थितियों और साँस्कृतिक परिस्थितियों, दोनों को ही गिना जाता है।

संत की उत्पत्ति :

संत की उत्पत्ति में 'भौगोलिक' व 'साँस्कृतिक' पर्यावरण ही कारण बन जाते हैं। कुछ मामलों में, कष्ट से पीड़ित किसी जन को, किसी गुरु या समाज से आश्रय मिलता है तो वह, उन्नत दिशा में आने पर, प्रकृति की सेवा में लग जाता है, ऋषि बन जाता है। कभी कोई अत्यधिक भोगों के साधन सुलभ होने पर, उनको भोगते-भोगते स्वयं 'भुक्त' हो गये और फिर एक अवस्था में उन्हें वे भोग सुखप्रद नहीं लगे। तब 'स्थायी-सुख' के साधन की खोज में लग गये। एक अवस्था में आकर उन भोगों को निस्सार समझ कर, वे चेतना-प्राप्त-व्यक्ति भोगों से विरक्त होकर, पुनः साहस न खोकर, संसार को ही अपने पूर्व के मिथ्याचार को (के विषय में) प्रकट करने के लिये चल पड़े हैं।

संसार का कल्याण करने हेतु 'तत्व-ज्ञान' को उन्होंने एक 'प्रायश्चित' की भावना से प्राण-प्रण से लगकर प्रचारित किया है।

कुछ मामलों में अज्ञानी माता-पिता-बन्धु-बान्धवों के द्वारा उपेक्षा पाकर निर्बल और दुःखी होकर व्यापन समाज में कहीं, किसी की उदारता प्राप्त कर, किसी ने अपना जीवन-व्यापन कर लिया और उन्नति मिल जाने पर कृतज्ञतावश फिर समाज की भलाई के लिये और समाज में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिये निरंतर साधना करके कुछ सुधारक बन गये हैं।

वस्तुत: संसार कष्टों से भरा है। कष्टों के कारण हैं तथा उन कष्टों से उबरने के उपाय भी हैं।

विभिन्न समयों में, विभिन्न प्रकार से, विभिन्न लोगों ने, अपनी तीव्र अनुभूतियों को संजोकर विचार किया, ध्यान किया, दूर-दूर तक विचार कर, दर्शन प्राप्त (सुनिश्चित) किया। फलस्वरूप उन जगत के कष्टों से बचने के उपायों आदि के स्पष्ट विवेचन अपने-अपने समय में, अपने समय की प्रचलित सरल भाषा में, उदारता के साथ सहज रूप में अभिव्यक्त किये हैं। हम सोचें जरा- "यों तो संसार में अनेकों लोग आते हैं। सुख भी भोगते हैं और दुःखों को भी भोगते हैं। जीवन में और भी बहुत से अनुभव करते हैं, मगर योंही अज्ञान के साथ एक दिन संसार से विदा हो जाते हैं। किन्तु इसी संसार में कुछ आत्माऐं ऐसी भी जन्म लेती हैं, जो अपने जीवन के पल-पल की श्वास और उच्छ्वास् का हिसाब रखती हैं। ऐसी आत्मा, छोटी से छोटी सभी सरल से सरल भी बात, आहार-विहार, बोलना-चालना आदि कर्मों का लेखा-जोखा रखकर, जब करुणाप्लवित (हिये की आँखों) मन की आँखों को खोल कर समझती-बूझती हैं, तब हृदय से उठने वाले निर्मल, सत्वानुप्राणित भावों के उद्रेक से न्यायोचित कल्याणप्रद बात कह देती हैं।" 'उस वाणी' में सभी जातियों के, सभी स्तरों के, लोगों को एक हृदयाह्लादक सत्य (परमार्थ) की आनन्ददायिनी अनुभूति मिलती है। 'उस वाणी' में 'समात्मभाव' रहता है। 'ऐसी' समात्मभाव से समन्वित कल्याणकारी वाणी को कहने वाले विभिन्न संत-श्री बाल्मीकि जी, महाभारतकार, उपनिषदकार, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, गुरूनानकदेव जी, रहीमदासजी, लालदासजी, गांधीजी और मुहम्मद-साहब आदि सभी, अपने समय के पर्यावरण की देन-स्वरूप जन्में (उत्पन्न) हैं।

इन सभी ने अत्याचार, अंधविश्वास और अज्ञानरूपी पानी की सड़न से उत्पन्न होकर, बड़ी-बड़ी जीवन-सम्बन्धी बीमारियों के निदान के लिये सक्षम अपनी उपदेश रूपी 'पेन्सिलिन' (दवा) सहज संयोग से प्राप्त कर समाज को प्रदान की है।

संतों की वाणी का स्वरूप :

संतों की वाणी में कोई मिथ्या आवेश घुला-मिला नहीं रहता है। यह वाणी सभी आर्त व्यक्तियों के ह्रदयों को मरहम सरीखी शान्ति प्रदान करती है। इनकी वाणी सनातन है। सभी समयों में फलित होने वाली है। सन्त लोग दूसरों की पीड़ा को दूर करने के लिये सभी उपाय करते हैं। रोगों से मुक्ति दिलाने के लिये करुणापूर्वक औषधियों की खोज में लगे रहते हैं। वे औषधियों वाले पौधे लगाते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं। कालिदास ने आश्रम में मानवोपयोगी वृक्षों का वर्णन किया है, जैसे शकुन्तला की विदाई के समय किसी वृक्ष ने लाक्षा-रस दिया, किसी वृक्ष ने क्षौम दुकूल आदि दिया।

'उशीर-अनुलेपन' भी आश्रम में उपलब्ध है। वेदों में जल देने वाली नदियों का, वरूण का, चेतना देने वाली 'उषा' का, अग्नि तथा सूर्य का, साथ ही भौगोलिक वातावरण को अनुकूल बनाने वाले वैज्ञानिक-यज्ञों का उल्लेख है।

इन 'यज्ञों' द्वारा ब्रह्मविज्ञान-ऋषि, भौगोलिक-पर्यावरण का तथा साँस्कृतिक पर्यावरण का सुधार करने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। समाज की दुर्बलता को दूर करने के लिये आवश्यक आचरण के नियमों का उपदेश और साँस्कृतिक पर्यावरण को पुष्ट बनाने के लिये पूर्ण ज्ञान, भी वेदों में वर्णित है। इसी ज्ञान को विभिन्न समयों में विभिन्न संतों ने बदलते वातावरण के अनुरूप ज्ञान-युक्त वाणियों से अभिव्यक्ति दी है। पुराणों में अश्वत्थ-पूजा, विल्व-पत्र व विल्व-फल और केला आदि की पूजा का विधान, 'व्रत' आदि में विभिन्न प्रकार के फलाहार का विधान, इसी दृष्टि से किया है। उत्तरकालीन सभी संतों ने अपनी-अपनी वाणियों में भौगोलिक पर्यावरण को सुधारने व साँस्कृतिक पर्यावरण को सुधारने के लिये यथा-सम्भव उपदेश किया है और प्रत्येक संत की वाणी में ऐसे उपदेशों वाले उदाहरण सहज मिल सकते हैं।

मनुष्यों को, अन्य जीवों को और पदार्थों को, प्रत्येक कण-कण को उपादेय बनाकर, समभाव रखकर, उनसे सम्यक-रीति से बरतने के उपदेश संतों की वाणी में है।

सारांश में ही तुलसीबाबा :

'जड़-चेतन जग-जीव, जत सकल ब्रहम मय जानि।'
'जड़ चेतन गुन दोस मय, विस्वकीन करतार।
संत 'हंस' गुन गहहि पय परिहरि वारि-विकार।'

संतों में, त्याग - तपस्या - संयम - लगन - ध्यान, स्मृति, दर्शन आदि से सर्वथा 'बल' आ जाता है, वे पूर्ण बन जाते हैं।

सर्वे: बलवतां शुचिः

बल से ही समस्त कार्य सम्भव होते हैं। वे बिगड़े भौगोलिक पर्यावरण व दूषित सांस्कृतिक पर्यावरण को बदल कर रख देते हैं, वे तीर्थ हैं, वे प्रत्येक युग में अपना प्रभाव रखते हैं। बुरे व्यक्ति भी उनके संसर्ग में भले बन जाते हैं। दुःखी, आनन्द का अनुभव करते हैं। सन्तों ने अपनी वाणियों में मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिये 'सत्य-सेवा' पवित्रता, करुणा, कृतज्ञता, तितिक्षा (धर्मार्थ-सहते तितिक्षोच्यते) नशा आदि से मुक्ति। स्मृति के नाश से बचने, 'ब्रहम-वितान' के ज्ञान का अर्जन करने आदि-आदि की शिक्षा दी है। आत्म-दोषों को ही दूर करने में लगे रहने की शिक्षा दी है। मन्दिर व मस्जिद, ईद-दीपावली सभी त्यौहार यही सिखाते हैं कि हम अपने पापों का प्रायश्चित करें।

आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक विकास करें। अपने त्याग से ही आत्मा, 'परमात्मा' के योग्य बनती है। एक विचारक संत 'बैन्थम' कहता है कि यदि किसी कार्य में, चार दुख मिलें व सुख तीन ही हों तो बुद्धिमान् ऐसे कार्य को नहीं करेगा और किसी कार्य में 100 दुःख हैं किन्तु परिणाम में 1000 सुख मिल सकते हैं, तो व्यक्ति प्रसन्नता के साथ 1000 सुख के लिये 100 दुःखों को झेलने में रात-दिन प्रवृत रहेगा। उक्त प्रकार के कार्य, करते समय की, प्रसन्नता को आनन्द कहा जा सकता है।

'किरातार्जुनीयम्' में भवभूति ने, युधिष्ठिर की 'सहनशीलता' के मूल में यही उपर्युक्त विचार कार्य करता दर्शाया है। भगवान 'बुद्ध' की वाणी में ऋषियों के उपदेशों में, 'बाहुबली' आदि के उपदेशों में भी 'बैन्थम' का प्रकाशित यह 'अनुपात' वाला 'फार्मूला' कार्य करता हुआ पाया जाता है। मुस्लिम संतों की बनाई कथा है कि एक व्यक्ति ने निरंतर पाप किये थे, बस एकमात्र पुण्य कमाया था। एक दूसरे व्यक्ति ने निन्यानवै (99) 'पुण्य' कमाये थे। अच्छी गति पाने के लिये 100 पुण्यों की आवश्यकता थी। निन्यानवै पुण्यों को जोड़ने वाला व्यक्ति कंजूस था, दानी या त्यागी नहीं था। केवल एक पुण्य जिस व्यक्ति, ने कमाया था वह व्यक्ति, दानी या त्यागी था। उसने नरक के कष्टों को झेलने का मानस बनाया और उस निन्यानवै पुण्य कमाने वाले व्यक्ति को अच्छी गति दिलवाने के लिए अपने समस्त पूंजीभूत उस एकमात्र पुण्य को सत्संकल्प (गुड़विल) से 'दान' में दे दिया। ईश्वर या खुदा ने उस कंजूस को तो अच्छी गति

दे दी, किन्तु, सदाशयता और त्याग को, बड़ा मान कर उस एक, पुण्य के दानी व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ गति प्रदान की।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संतों की वाणियों के अध्ययन, मनन, दर्शन की उपयोगिता बनी हुई है। वस्तुतः आपतकाल में ही 'सत्य' के अन्वेपित मार्ग पर, चलने की आवश्यकता का भाव चतुर्दिक होने लगता है। हमारे सभी विभिन्न ऋषियों, पुराणों के रचयिताओं, इतिहास-लेखकों और संत कवियों जैसे संत, कबीर, सूर, तुलसी, रहीम, लालदास जी, गांधी जी, मुहम्मद साहब, गुरुनानक देव जी आदि के निर्वचनों में, आज के समय की, देश की समस्याओं से, मुक्ति, प्रदान करने की पूर्ण क्षमता या सामर्थ्य है। संतों की 'मूल' वाणियों को समझने के लिये हम सब पढ़े-लिखे लोगों, विद्यार्थियों, शिष्टजनों और सत्यान्वेपियों को आलस्य त्याग कर, संयम से मन लगाकर अध्ययन और दर्शन करके, उनके (निर्वचन के) अनुशीलन और प्रचार में जुटे रहना, श्रेयस्कर होगा। हमें उसी तराजू की तौल को सही मानना चाहिये कि जिस तराजू को जाँच व परख लिया गया हो।

'भागवत्' के चतुर्थ अध्याय में एक श्लोक है :

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिहि केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे! विमृश स्वमनीषया॥ (1, 4, 4)

आज का वर्तमान जो बिगड़ा हुआ सा आभासित होता है। वस्तुतः, संतों की 'मूल' वाणियों का जो अनुशीलन कर रहे हैं वे शान्ति में हैं, विकास प्राप्त कर रहे हैं। जो दुर्भाग्य से 'मूल' वाणियों को अपने प्रमादवश पढ़ते ही नहीं हैं, वे रजस् और तमस् से युक्त पाखण्डी, लोभी गुरुओं की 'वाणी' पर चलते हैं और दुःख पाते हैं। 'मूल' वाणियों को ही प्रचारित व प्रसारित करना चाहिये। अब सारांशभूत यहाँ कथन है कि कुछ संतों जैसे लालदास, लाल-दयालजी, मुहम्मद साहब और अव्दुल 'रहीम' खान खाना के उदाहरण देना समीचीन है और भी साररूप में रहीम दास जी एक ऐसे ज्ञानी कहे जा सकते हैं जिन्हें मुसलमान और हिन्दू, बादशाह और गरीब, संत और सिपाही के सभी क्रियाकलापों के अनुभव हैं। उन्होंने संतों जैसे गंग कवि और तुलसीदास जी सरीखे कवियों की संगत प्राप्त की थी। समस्त शास्त्रों का अध्ययन व अनुशीलन किया था। अपने इस्लाम धर्म के विषय में भी उनको अरबी, फारसी के मूल ग्रंथों का पूर्ण अनुभव था।

रहिमन राधा कृष्ण का, भक्त भया बेजोड़।
मुस्लिम रहिके तू भया, हिन्दू माथे मोड़॥

रहिमन सुत बैराम का, भया राम सतपूत।
साँचे मारग चाल कै, तोड़ा माया-सूत॥

रहिमन उक्ति अनूठि है, भाषा सरल सुबोध।
हरि रस के दे बानगी, भाव भरे ज्यों होध॥

रहिमन वाणी फूँक दी, गूँजा राष्ट्रीय शंख।
भारत-नभ के माहिने, उड़े खोल के पंख॥

रहिमन हिन्दू संस्कृति, हिन्दू समझो बाँधि।
तुम सम इण कलिकाल में, दानी कम ही लाँधि॥

रहिमन आदर्श बनाय के, भारत चाले चाल।
देवेन्द्र साँची कथे, राष्ट्रीय सुधरे हाल॥

मधुकटु अनुभव जन्म में, रहिमन कीने साँच।
श्रद्धा सों झुकि माथ मम, स्वर्ण बना तप-आँच॥

'हिन्दी', 'हिन्दू', 'हिन्द' का, रहिमन रखा ध्यान।
भारत जनता ताहि सौं, देवत सो सम्मान॥

निजधर्म (इस्लाम) हि पै दृढ़ रहि, पर सौं रहा उदार।
रहिमन बैरम खान का, बना हिये सब हार॥

'वीर-विनोद' में लिखा है कि राणा अमर सिंह ने, दक्षिण में सूबेदारी कर रहे रहीम जी से अपनी परिस्थितियों का जिक्र करते हुये सलाह ली कि "मैं जहाँगीर बादशाह की अधीनता स्वीकार करूं या बचकर रहूं।" तो रहीम जी ने समझाया कि अधीनता बुरी चीज है। अपनी 'आन' की रक्षा करो-ये विदेशी खुरासानी हैं। इनकी अधीनता बुरी है। ये तो कभी भी यहाँ से चले जायेंगे। अपने वतन की सँस्कृति को इनसे मुक्त रखने के लिये अड़े रहो। पुनः बाबा लालदास जी के नुकते (ह.लि.) लाल-चंद्रिका (ह.लि.) 'बाबा लाल (दयाल) और दाराशिकोह के सवाल व जबाव' (फारसी में ह.लि.) 'हादी-बरहक' राजा मंगल सिंह द्वारा अलवर (छपी हुई उर्दू में), पुनः एक पुस्तक उर्दू में छपी हुई टी.सी. गुजराती की रचित है। शीर्षक 'हिन्दू-मुसलमान दोनों का चालान और पारस' आदि उपर्युक्त प्रकार की पुस्तकें राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखा अलवर में ही उपलब्ध हैं। इन पर कार्य अपेक्षित है।

हादी बरहक (बुध प्रकाश) एक परिचय :-

राजस्थान के सन्त-साहित्य में 'हादी-बरहक' पुस्तक एक ऐतिहासिक मूल्य रखती है। उन्नीसवीं शताब्दी में भी, साम्प्रदायिक-सद्भाव के साथ सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करने के लिये, अलवर-स्टेट के राजा मंगलसिंह ने सन् 1887 ई. से 1982 ई. तक की समयावधि में विभिन्न विद्वानों और महात्माओं के साथ गहन वार्तालाप किया और श्री स्वामी विवेकानन्द जी, श्री रणजीतसिंह जी 'बेनामी' मुंशी कन्हैयालाल जी और सूफी सन्त इमाम अलगज़ाली के विचारों का एक समन्वित संकलन, उर्दू-भाषा की पुस्तक 'हादी-बरहक' के रूप में छपवाया था। अलवर राज्य के सभी मदरसों में विद्यार्थियों को यह पुस्तक सच्ची नैतिक-शिक्षा देने के लिये पढ़ाई जाती थी।

'हादी' का अर्थ है 'सच्चाई' और 'बरहक' का अर्थ ''प्रकाश'' होता है। इस पुस्तक का हिन्दी में नाम ''बुध-प्रकाश'' है।

श्री विवेकानंद जी ने इस पुस्तक के सम्पादन में जो दृष्टिकोंण रखा है वह निम्नलिखित है:-

''चाहे हम उसे वेदान्त कहें या किसी और नाम से पुकारें; परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में- 'अद्वैत' ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य में सभ्य मानवी-समाज का यही धर्म है।

परन्तु, साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद का (जो समस्त मनुष्य जाति को, अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है तथा उसी के अनुकूल आचरण करता है)- विकास हिन्दुओं में ''सार्वभौमिक-भाव'' से होना अभी भी शेष है। 'हमारी मातृभूमि के लिये इन दोनों मतों का सामंजस्य- 'हिन्दुत्व और इस्लाम; वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर'- यही एक आशा है। मैं अपने मानस-चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूं, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में-वेदान्तिक बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा''

'हादी-बरहक' पुस्तक में संत इमाम अल गज़ाली (समय-सन-1058 ई. से सन् 1131 ई. तक) की शिक्षाओं का भरपूर उपयोग किया गया है। इस पुस्तक में यहां तक लिखा है कि यदि 'दाराशिकोह'- बादशाह बन गया होता तो आज, भारत- धर्म-गुरु देश होता, यहां 'वेदान्त' प्रतिष्ठित होता।

गवेषक

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर

❑❑

मारवाड़ के संतों की सांस्कृतिक चेतना

— डॉ. विक्रम सिंह राठौड़

मध्ययुग में धार्मिक कठोरता व कट्टरता के स्थान पर बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप नयी विचार-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ और सामाजिक व धार्मिक बन्धनों का स्वरूप अधिक लचीला बनाने के प्रयास किये गये।[1] इसी परिस्थिति में भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के आदर्शों व मूल्यों को नयी दिशा व गति मिली। इस दिशा में यहाँ के संतों का व उनके साहित्य का इस प्रदेश की साँस्कृतिक समृद्धि में विशिष्ट योगदान रहा।

मध्ययुगीन मारवाड़ के ऐतिहासिक घटनाक्रम में कई उतार-चढ़ाव आये, जिसने यहाँ के सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन और धार्मिक जीवन के साथ-साथ पूरे साँस्कृतिक परिवेश को कई दृष्टियों से प्रभावित किया।[2] यह वह समय था जब इस्लामी सँस्कृति यहाँ की धरती पर विजेता सँस्कृति के रूप में स्थापित होने के लिए संघर्षरत थी तो दूसरी ओर यहाँ के वीरों ने सब कुछ दाव पर लगा कर इस प्रदेश की साँस्कृतिक अस्मिता के सम्मान को बनाये रखने का प्रयास जारी रखा। इसी दीर्घकालिक अनवरत संघर्ष के संक्रमण काल में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में कई विसंगतियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। लम्बे संघर्ष के पश्चात् जो तनाव निराशा, अविश्वास, घृणा एवं अनिश्चयता का वातावरण बन गया था तथा आपसी भेद की खाई गहरी हो गई थी, उसे पाटने में यहाँ के संतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

स्वामी रामानन्द ने समस्त उत्तरी भारत में जिस भक्ति-भावना का प्रचार किया, उससे मारवाड़ की भूमि भी अछूती नहीं रही। यहाँ के अनेक संतों ने रामानन्द की भक्तिधारा को आधार बनाया। विभिन्न पंथों व सम्प्रदायों के संतों में रामसनेही सम्प्रदाय, कबीर-पंथी, दादू-पंथी, नाथ-सम्प्रदाय, साध-सम्प्रदाय, धन्ना बंसी साध, दसनामी साध, नीमावत साध, निरंजनी, विश्नोई सम्प्रदाय, जैन-सम्प्रदाय एवं मुस्लिम सूफी संत प्रमुख रहे हैं। संतों में यहाँ निर्गुण परंपरा के संतों का प्राधान्य रहा है। इन सभी संतों ने

यहाँ के धार्मिक क्षेत्र में आई शिथिलता रूढ़िबद्धता व निराशा को समाप्त कर लोक-मानस में जीवन के प्रति आस्था जागृत की।

मध्यकालीन विषम परिस्थितियों में यहाँ के संतों ने मारवाड़ के तत्कालीन निवासियों में एक नवीन चेतना जागृत की, जिसके परिणामस्वरूप वे उस राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक असुरक्षा के वातावरण में भी अपने जीवन का एक सहज-मार्ग खोज पाये। उस नैराश्यपूर्ण वातावरण में संतों ने मारवाड़-वासियों के सामाजिक, धार्मिक और साँस्कृतिक जीवन को, उत्साह व आशा की किरणें फैलाकर, आलोकित किया और बहुत हद तक राजनैतिक उथल-पुथल को सहजता से बर्दाश्त करते हुए, उसे, स्वाभाविक ढंग से अपनाने की क्षमता प्रदान की।[3] इन संतों ने परिस्थिति व युग की माँग के अनुकूल, एक सुन्दर व्यवस्था प्रदान करके, यहाँ के निवासियों का मार्ग प्रशस्त किया और मारवाड़ की सांस्कृतिक थाती को संजोने-संवारने व सुरक्षित रखने में स्तुत्य प्रयास किये।

संत किसी एक वर्ग या प्रदेश विशेष के नहीं होते वे तो सम्पूर्ण मानव समाज की थाती होते हैं। उनकी शिक्षाऐं विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत होती हैं, फिर भी उनकी जन्मस्थली, कर्मस्थली, साधनास्थली व समाधि-स्थल तीर्थ-रूप बन जाते हैं। स्वयं संत चलते-फिरते तीर्थ के समान माने गये हैं। हम इसी आधार पर उन्हें प्रदेश विशेष या सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध कर पहचानने का प्रयास करते हैं। यह हमारा उपक्रम है कि हम उन्हें अपना बनाते हैं। 'संत' से तात्पर्य एकमात्र सत्य में विश्वास करने वाले तथा सत्य का अनुभव करने वाले व्यक्ति से है। सत्य और परमात्मा को जानने वाले ये संत किसी के न होकर भी सभी के हैं।

इन संतों ने स्थानीय भाषा में आत्मा के अनुभव के आधार पर ईश्वर, ब्रह्म, माया, जीव, जगत के सम्बन्ध में सहज और सुलझे हुए विचार रखकर धर्म के मर्म को सरलतम रूप में रखा। संतों के इस प्रयास से भक्ति-भावना का प्रचार-प्रसार तो हुआ ही, इसके साथ ही इससे इस प्रदेश में सामाजिक व साँस्कृतिक शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठापना हुई। उसने समस्त समाज को साँस्कृतिक धरातल पर प्रभावित किया।

सँस्कृति वह आधारशिला है, जिस पर जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है। असल में सँस्कृति जीवन का एक तरीका है। सँस्कृति मानव-दशा तथा दिशा का बोध कराती है।[4] मन, आचार तथा रूचि की परिष्कृति व शुद्धि सँस्कृति है। यह सँस्कृति मनुष्य के स्वभाव धारणाओं, विश्वासों, सौंदर्य-बोध और आचरण से संबंध रखती है। संस्कृति की प्रतीति हमें मानव-समुदाय विशेष के रीति-रिवाज,

सामाजिक-व्यवहार, कलाओं आदि में होती है। सभ्यता का सम्बन्ध मानव की भौतिक समृद्धि से है और सँस्कृति का संबंध मानव की सँस्कारजन्य उपलब्धियों से है।

संत-साहित्य एक साँस्कृतिक विरासत है। संत-साहित्य में आत्मदर्शन एवं आत्मानुभव की प्रधानता है। इस दृष्टि से मारवाड़ के संतों ने इस प्रदेश के लोगों को संस्कारित कर उन्हें जो ज्ञान प्रदान किया। इससे इस प्रदेश की सँस्कृति में नव-चेतना आयी। संतों ने मध्यकाल में बहुदेववाद के युग में एक ईश्वर की तथा समस्त चैतन्य-जगत को उसका अंश[5] मानने की सीख दी।

पशु पक्षी जलचर कीट पतंग राय।
दादू परमेश्वर के पेट के सब जीव अंश अवतार॥

धर्म-प्रधान भारतीय सँस्कृति ने यहाँ के जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। धर्म के साथ यहाँ की सँस्कृति पर आध्यात्मिकता और दर्शन का रंग भी बहुत गहरा है। भारतीय सँस्कृति का मूलमंत्र है-'आत्मानं विजानीहि' (अपने आपको जानो) तथा 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या' (भौतिक जगत असत्य एवं ब्रह्म ही सत्य है) के आध्यात्मिक दर्शन को यहाँ के संतों ने बहुत ही सहज-ढंग से अभिव्यक्त किया :

आपको पिछाणे तो तू ही सुख रो सागर है।
आपको बिसारे तो तूं ही दुख पावै है॥

—*सुंदरदास*

हे सो सुन्दर है सदा नहीं सो सुन्दर नांय।
नहीं सो परगट देखिये, है सो दीखो नांय॥

मन रे तू देखे सो नाही।
है सो अगम अगोचर माही॥

—*दादू*

संतों की इस अभिव्यक्ति का यहाँ व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। यहाँ के कम पढ़े-लिखे व अनपढ़ लोगों को भी संतों की अनेक वाणियाँ कंठस्थ थीं। इसप्रकार यहाँ का निरक्षर व्यक्ति भी धर्म व ईश्वर-सम्बन्धी, जानकारी से अनभिज्ञ नहीं रहा। संतों ने अपनी वाणियों में धर्म व दर्शन का सार सूत्र-रस में इतने सहज ढंग से अभिव्यक्त किया कि यहाँ का साधारण नागरिक भी जिसे आत्मसात कर सका।

संतों की ईश्वर, धर्म व जगत सम्बन्धी विचारणाओं ने इस प्रदेश के सामाजिक सोच को नयी दिशा दी। संतों के साहित्य में निर्दिष्ट भौतिक जगत् की नश्वरता का आभास कर यहाँ के निवासियों ने अपने आचरण व व्यवहार में उनकी सीख को अपनाया। शिष्टाचारी संयत-जीवन व शुद्धाचरण, धार्मिकता का ही प्रतीक माना गया। 'सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप' की अवधारणा समाज में काफी लोकप्रिय हुई। सतकर्मों, मानवसेवा, जीवमात्र के प्रति दया तथा परदुखकातरता को ईश्वर की सच्ची उपासना माना गया।

यहाँ की वीर-सँस्कृति के निर्माण व निर्वहन में भी संतों की महती भूमिका रही है। वचनपालन, दृढ़संकल्पता, मर्यादापालन, धर्म व धार्मिक उपकरणों की रक्षा के लिए बलिदान देने की प्रवृति, वीरत्व एवं स्वाभिमान, समन्वय की प्रवृति, उदार दृष्टिकोण, क्षमा, शरणागत-वत्सलता, स्वामीभक्ति, त्याग, अतिथि-सत्कार, धर्मानुष्ठान और धर्मयुद्ध जैसे- मारवाड़ की सँस्कृति के शाश्वत मूल्यों को संत-साहित्य ने अत्यधिक प्रभावित किया।

संतों की सिखावन से ही यहाँ के वीर अपनी नश्वर-देह के प्रति आकर्षित नहीं हुए। सतकर्म के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने को सदैव तैयार रहे। मरण को मंगल-अवसर मानना, क्या बिना संसार की नश्वरता के ज्ञान के संभव था? इसी प्रकार आचरणगत शुद्धता, सेवाभाव, आत्मानुशासन व सामाजिक मूल्यों की रक्षा का भाव यहाँ की सँस्कृति के शाश्वत मूल्य बने।

संतों व उनके साहित्य ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूप से मारवाड़ के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठापना में, जो योगदान दिया, वह भुलाया नहीं जा सकता। संतों ने वैचारिक आधार पर यहाँ ऐसी साँस्कृतिक चेतना जगायी, जिसका व्यवहारिक स्वरूप हमें यहाँ के साँस्कृतिक शाश्वत मूल्यों में देखने को मिलता है। इन साँस्कृतिक शाश्वत मूल्यों के कारण ही मारवाड़ की साँस्कृतिक चेतना शताब्दियों तक जीवन्त रही, जिसकी प्रासंगिकता आज भी अनुभव की जा रही है।

सन्दर्भ सूची :-

1. दिनेशचन्द्र शुक्ल, ओंकारनारायण सिंह-राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं सँस्कृति, पृ. 117
2. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राज मारवाड़ तीसरा हिस्सा, पृ. 282, डॉ पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 217

3. डॉ. विक्रम सिंह राठौड़ : मध्यकालीन मारवाड़ का साँस्कृतिक अध्ययन (टंकित शोध प्रबंध), पृ. 180
4. रामधारी सिंह दिनकर : सँस्कृति के चार अध्याय, पृ. 2
5. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, शैलेन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय सँस्कृति कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृ. 4
6. रामधारी सिंह दिनकर : सँस्कृति के चार अध्याय : प्रस्तावना, पृ. 11
7. राजस्थानी संत परम्परा : सामाजिक अंतश्चेतना (परम्परा), पृ. 67

❑❑

विश्नोई सन्त जाम्भोजी : एक अनुशीलन

— भल्लू राम खीचर

जिस समय समाज में खान-पान और रहन-सहन की शुद्धता नहीं थी, लोग मद, मांस, अफीम, भांग, तम्बाकू का अबाध गति से प्रयोग करते थे। समाज में अनेक आडम्बरों और पाखण्डों का बोलबाला था। चारों ओर हिंसा अपना ताण्डव नृत्य दिखा रही थी, लोग धर्म से विमुख होकर स्वार्थवश अनैतिकता व झूठ का सहारा लेने लगे। ऐसे समय में विक्रम सम्वत् 1508 भादवा वदि 8 को पीपासर निवासी लोहट जी पंवार के यहाँ माता हांसा देवी के कोख से शब्द-प्रणेता श्री 108 गुरु जम्भेश्वर का जन्म हुआ। श्री जम्भेश्वर भगवान् कथनी और करनी में समन्वय करते हुए लोगों को उपदेश देते थे।

जन्म-मरण से मुक्ति :

श्री गुरु जम्भेश्वर के अनुसार जन्म-मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि जिस वस्तु का संयोग होता है, उसका वियोग अवश्य होता है। आत्मा-परमपिता-परमात्मा का अंश है, वह अज्ञान के कारण विविध कर्म करता है। उन कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम और निम्न कोटि का शरीर धारण करता है। यह जीवात्मा जिस शरीर को धारण करता है, उसके माता-पिता, भाई-बन्धुओं को ही वह अपने माता-पिता व भाई-बन्धु मानने लगता है। जीवात्मा के न कोई माता है, न कोई पिता है, न कोई भाई है और न कोई बान्धव। जब यह जीवात्मा अपने स्वरूप को भूल कर इस जगत् के दूसरे देहधारी प्राणियों से राग-द्वेष, मोह-ममता करता है, तो काल के वश में होकर जन्म लेता है और मरता है। वह जगत् के कर्ता अविनाशी, अविचल, परमात्मा को नहीं जान सकता, तब वह 84 लाख योनियों में बार-बार जन्म लेता है तथा मरता है। इस जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए 'ॐ विष्णु' इस मन्त्र का जप करना चाहिये। यह जपप्रीति-जगत् के कर्ता-धर्ता श्री विष्णु भगवान से हो तो मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से छूट कर परम-पद को प्राप्त कर सकता है। जैसा कि श्री जम्भेश्वर भगवान से मुक्ति के बारे में कहा है :-

ओइम् कवण न हुआ कौन न होयसी किण न सहयो दुःख भारूं।
कवण न गया कवण न जासी कवण रहया संसारू।
किसकी माई किसका भाई किसका पख पखारूं।
भूली दुनिया मरू मर जावे, न चीन्हों करतारूं।
विष्णु-विष्णु तू भणरे प्राणी वल वल बारम्बारूं।
फोकट प्राणी भर में भूला भलजे यो चीन्हों करतारूं।
जामण मरण विगौवो चूकै रतन काया ले पार पहुंचे तो आवागमण निवारूं॥

—सबद 33

लोककल्याण का मार्ग :

श्री जम्भेश्वर भगवान् ने मनुष्य को ऊँचा उठाने तथा लोक-कल्याण की ओर प्रेरित करने के लिए ऋजु, सहज और व्यावहारिक मार्ग बताया। संसार में सुख और दुःख दोनों है, इसमें सुख अल्प मात्रा में है, लेकिन दुःख अनन्त है। जीवन-यात्रा के गन्तव्य स्थान (लक्ष्य) तक पहुँचने के लिए सावधान और सचेत रहना आवश्यक है। उसमें उलझकर बीच में ही रुक जाना, दिग्भ्रमित हो जाना, हार कर बैठ जाना अथवा सन्तुलन खो देना मनुष्य की कमजोरी है। इसी कमजोरी को सदैव के लिए जीतना, सतत् संघर्षशील जीवन में लक्ष्य तक पहुँचने का सरल और अनुभूत उपाय जाम्भोजी ने बताया है। जाम्भोजी कहते हैं :

जे जीवंतां खाकी होयस्यैं।
जां हक साच सिदक परवांनू।

(67 : 10-11)

जीवत मरो रे जीवत मरो जिण जीवंण की विधि जांणी।
जे कोई हो हो होय करि आवै तो अपण होइयै पांणी।
जांहकै बोहती नवंणी बोहती खवंणी बोहती क्रिया समांणी॥

(105 : 6-8)

अरे! जीते जी मरो, जीवनमुक्ति प्राप्त करो, पर वही ऐसा कर सकता है, जो अपना कर्त्तव्य पालन करता है, ईमान की कमाई खाता है, सत्य को प्रमाण मानता है। अत्यन्त विनम्र और क्षमाशील है तथा 'जीने की विधि' जानता है।

द्विधा-वृत्ति के त्याग पर बल :

किसी कार्य की सफलता के लिए जम्भेश्वर भगवान ने द्विधा-वृत्ति को त्यागने तथा उस हेतु सतत् और एकनिष्ठ-साधना पर बल दिया। द्विधा-वृत्ति से कोई भी काम करना कठिन है। द्विधा मार्ग में प्रस्थान करना और उसको तय करना कठिन हो जाता है। द्विधा में बात कही-सुनी नहीं जा सकती है। द्विधा में न गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहता है और न ही समयानुसार काम होता है। द्विधा में न तो किसी वस्तु या बात का रहस्य जाना जा सकता है। मन में हर समय दो प्रकार की भावना रखने से, दुःख व दरिद्रता का नाश नहीं हो सकता। द्विधा-वृत्ति वाला पुरुष न तो युद्ध कर सकता है न भाग सकता है, अर्थात् व्यर्थ में ही संकल्प-विकल्प करता हुआ मारा जाता है। श्री जम्भेश्वर भगवान् ने 'सबद' में कहा है :-

दोय मन दोय दिल सीवी न कंथा।
दोय मन दोय दिल पुली न पंथा।
दोय मन दोय दिल कही न कथा।
दोय मन दोय दिल सुनी न कथा।
दोय मन दोय दिल पंथ दुहेला।
दोय मन दोय दिल गुरु न चेला।
दोय मन दोय दिल बंधी न वेला।
दोय मन दोय दिल रब्ब दुहेला।
दोय मन दोय दिल सुई न धागा।
दोय मन दोय दिल भिड़े न भागा।
दोय मन दोय दिल मेव न भेऊँ।
दोय मन दोय दिल टेव न टेऊ।
दोय मन दोय दिल केल न केला।
दोय मन दोय दिल स्वर्ग न मेला।

इसके विपरीत खोजी सतत् अभ्यास से खरगोश जैसे छोटे जानवर की पद चिन्हों की पहचान करते-करते हाथी-पर्यन्त, सभी बड़े जानवरों के पद-चिन्ह पहचानने लग जाता है। सुनार रांगे के बर्तन-गढ़ते-गढ़ते सोने के आभूषण गढ़ने में प्रवीण हो जाता है :-

ओइम् रणघटिये के खोज फिरन्ता, सुण सेवन्ता खोज हस्ती को पायो।
लूंकड़िये को खोज फिरन्ता सुण सेवन्ता खोज सुरह को पायो।

मोथड़िये के गूंढ खणता सुण सेवन्ता, लाधो थान सुथानो।
रांघड़िये को घाट घड़न्तौ सुण सेवन्ता कंचन सोनो डायो।
हस्ती चढन्ता गेंवर गुड़न्ता सुणहीं सुणांहा भूंकत कायों।

—सबद 55

ब्रह्म का स्वरूप :

'सबद-वाणी' से ज्ञात होता है कि जम्भेश्वर भगवान् अद्वैत-परक सिद्धान्तों को मानते थे। श्री जम्भेश्वर भगवान् ने कहा है कि जो कोई ब्रह्म के विषय में कहता है कि मैं उसे कुछ जानता हूँ, वह कुछ भी नहीं जानता। जो कहता है कि मैं उसे कुछ भी नहीं जानता। वह उसे कुछ-कुछ समझता है। वास्तव में, ब्रह्म सर्वथा अकथनीय है, उसका अनुभव, अमृत के स्वाद की भाँति वाणी के माध्यम की दृष्टि से अगम्य है। ज्ञानी लोग पूर्ण ज्ञान-प्राप्त न कर सकने के कारण दु:खी होते हैं, पढ़े-लिखे ग्रन्थ मन्थन हेतु दु:खी देखे जाते हैं, केलि-क्रीड़ा करने वाले मोर-मोरनी अपने पैरों के सुन्दर न दीख पड़ने के कारण दु:खी होते हैं। अतएव सद्गुरु की सहायता से ही ब्रह्म की खोज करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जा कुछ जा कुछ जां कुछ न जाणी।
ना कुछ ना कुछ तां कुछ जाणी।
ना कुछ ना कुछ अकथ कहाणी।
ना कुछ ना कुछ अमृत वाणी।
ज्ञानी सो तो ज्ञानी रोवत पढिया रोव गाहै।
कैल करंता मोरा मोरी रोवत ज्यों पगां दिखहीं।
ऊर्ध्वखेणी मन उन्मन रोवत मुरखा रोवत धाहीं।
मरणत माघ संघारत खेती के के अवतारी रोवत राही।
जड़िया बूंटी जे जग जीवै तो वेदा क्यों मर जाई।
खोज प्राणी ऐसा बिनाणी नुगरा खोजत नाहीं।
जां कुछ होता ना कुछ होयसी बल कुछ होयसी ताहीं।

—सबद 18

जिस प्रकार जल में फिरने वाले मच्छ या मछली के मार्ग का पता नहीं चल सकता, उसी प्रकार ब्रह्म-तत्व भी अज्ञेय है, उसका कोई ओर-छोर नहीं है, उसकी थाह के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। परमतत्व की रूपरेखा, चिन्ह,

खोज, वर्ण आदि के विषय में किसी भी प्रकार का अनुमान करना सम्भव नहीं है। यह परम-तत्व सातों पातालों, तीनों लोकों, चौदह भुवनों एवं आकाश में, बाहर और भीतर-सर्वत्र विद्यमान है, जहाँ भी देखा जाये वहीं मौजूद है। केवल सद्‌गुरु ने सत्पथ की ओर निर्देश किया और भ्रान्तियों को दूर किया। इसके बिना उसके रहस्य का जानकार कोई भी नहीं है :

सप्त पताले तिहूं त्रिलोके।
चवदा भवने गगन गहीरे।
बाहर भीतर सर्व निरन्तर।
जहां चीन्हों तहां सोई।
सतगुरु मिलियो सत पंथ बतायो भ्रान्त चुकाई।
और न बुझवा कोई।

—सबद 40

जप-साधना :

'सबदवाणी' में विष्णु-नाम के स्मरण अथवा जप की महिमा बड़ी निष्ठा और आग्रह के साथ बताई गई है। विष्णु-विष्णु जप-करते रहना तथा काम-क्रोधादि को वश में करना जीवन का मूल-तत्व है। विष्णु-नाम का जप करते-करते यदि अपनी जीभ थक जाती है तो ऐसी, जीभ के बिना भी हमारा काम चल सकता है :-

विष्णु विष्णु भणि अजर जरीजै।
लाहो लीजै पह जांणीजै॥
विष्णु जपंतां जीभ जु थाकै।
जीभड़िया विणि सरियो॥

श्री जम्भेश्वर भगवान् प्रत्येक प्राणी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे भाई! निरन्तर विष्णु-विष्णु का जप किया कर। तेरी आयु तिल-तिल घटती जा रही है और मृत्यु पास आ रही है। विष्णु-विष्णु का जप करते रहने में अनन्त गुण हैं और मरणोपरान्त मोक्ष-प्राप्ति होती है :-

विष्णु-विष्णु भणरे प्राणी, इस जीवन के हावै।
क्षण-क्षण आव घटन्ती जावै, मरण दिनों दिन आवै।

(सबद 120 : 1-2)

विष्णु-विष्णु तू भणरे प्राणी पैंके लाख उपाजूं।
रतन काया बैकुंठे बासो तेरा जरा मरण भय भाजूं।

—*सबद* 119

वस्तुतः श्री जम्भेश्वर भगवान ने विष्णु-जप को सबके लिए एक समाज-परमावश्यक कर्तव्य मानकर उसे सर्वाधिक महत्त्व दिया। हृदय में तो विष्णु का नाम जपो और हाथ से कार्य करो।

हिरदै नांव विष्णु को जंपो करो टबाई।

आत्म-प्राप्ति के साधन :

आत्म-प्राप्ति के विषय में जाम्भोजी कहते हैं कि यदि व्यक्ति स्वयं का उद्धार करना चाहता है तो उसे भलाई करनी चाहिये, परोपकार करना चाहिये, विष्णु का जप करना चाहिये, दुविधावृत्ति का त्याग करना चाहिये, किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये तथा सर्वतोभावेन विष्णु की शरण में जाना चाहिये एवं सदाचरितजनों के कथनों पर चलना चाहिये। जीव का तो लक्षण ही इधर-उधर रमना और चौदह-भुवनों में भटकना है, अतः इस जीव से परे, उस आत्मा को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अत्यन्त विनीत, क्षमाशील, संयमी और सत्य-कार्यवादी होना चाहिये। धर्माचरण, शील, संयम और सद्‌गुरुकृपा से, वह आमतत्व शीघ्र ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वह तत्व, स्वभावतः सांचे में ढली हुई वस्तु के समान निर्मल और ज्योति-स्वरूप-अखण्ड तत्व है।[1] जिसको, सहजपथगामी व्यक्ति, प्राप्त करके कैलासवासी हो जाता है।[2]

संसार की नश्वरता :

संसार की नश्वरता को सहज, लौकिक उदाहरणों से समझाते हुए, जाम्भोजी कहते हैं कि व्यक्ति को मद-धारण नहीं करना चाहिये और दुनियाँ के मायाजाल में नहीं बँधना चाहिये, क्योंकि जैसे पवन के झौकों से ओस और बादल बिखर जाते हैं, उसी प्रकार यह संसार क्षणिक है। कारण कि दुनिया में रहने वाला कोई भी स्थिर नहीं है।[3] देव-दानव इत्यादि सभी-कुछ नष्ट हो जाते हैं।

गुण-महिमा :

जाम्भोजी ने अपने सबद-वाणी में कहे, अपने वचनों को वेद-वचन कहा है, ताकि लोग इसे, मात्र, प्रलाप या निम्न-स्तर का वचन न समझें। तेरा संसार में आना, सार्थक नहीं होगा, अपितु, तुझे यहाँ आकर एक गुणी पुरुष बनना है और वह, तू

कभी भी किसी भी अवस्था में बन सकता है। क्योंकि गुणहीन वयोवृद्ध पुरुष कभी भी बड़ा नहीं होता और न ही ऐसा पुरुष संसार-सागर से पार हो सकता है। इसी भाँति बड़े कुल में उत्पन्न होने से कोई पुरुष श्रेष्ठ नहीं हो जाता, अपितु गुणों या कर्मों से ही व्यक्ति ऊँचा कहलाता है।[4] सुपथ पर चलकर ही संसार-सागर को पार किया जा सकता है, अत: सम्भलकर व्यक्ति को इस संसार में जीवन-बिताना चाहिये।[5]

योगविद्या :

जाम्भोजी एक महान् योगी थे। वे योगविद्या, जिसको साध लेने पर व्यक्ति कालातीत हो जाता है,[6] के मर्मज्ञ थे। उनका कहना है कि व्यक्ति को अत्यधिक साधना करके पूर्णता की स्थिति तक पहुँचना चाहिये, गगन-मण्डल में हो रहे अनाहत-नाद को सुनना चाहिये, जो चिरन्तन-सत्य है, क्योंकि भेरि, मेघ-नाद की गर्जना तो क्षणिक और निरर्थक है। अत: साधक जब अनाहत-नादरूपी सूक्ष्मवाणी को ध्यान की उच्चतम अवस्था में सुनता है, तभी उसे अपार गुणशाली तत्व का बोध होता है।[7] इस अनन्त गुणशाली और स्वसंवेद्य तत्व को साधक जब स्वानुभव से जान लेता है, तो उसे वाद-विवाद व्यर्थ लगने लगते हैं, जिसमें दुनिया लगी हुई है। वाद-विवाद में लगे होने के कारण दुनिया का ध्यान उस असीम-तत्व की ओर नहीं जाता। वाद-विवाद से अनेक शक्तिशाली दानव ठीक उसी प्रकार नष्ट हो गए हैं, जिस प्रकार रस के लोभ में पुष्प में बन्द होकर भँवरा-भँवरी नष्ट हो जाते हैं। वस्तुत: योगविद्या वाला यह साधना का मार्ग जंगल के रास्ते की तरह दुर्गम है, इसमें बाधा-स्वरूप-शत्रु इंद्रिय-असंयम तथा राग-द्वेष-आदि होते हैं।[8]

कर्मानुसार फल प्राप्ति :

जाम्भोजी ने कर्म और फल का कार्यकारण-भाव बताते हुए कहा है कि बंजर भूमि में यदि कोई कृषक खेती करता है तो वहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता, जबकि यदि कोई अच्छी उपजाऊ जमीन में उत्तम तरीके से खेती करता है तो वहाँ अमृत के समान मीठे फल प्राप्त होते हैं, जैसे राजादनी, ईख इत्यादि अर्थात् जैसा बीज डाला जाता है और जैसी जमीन होती है, वहाँ वैसा ही फल और पैदावार होती है, इसमें पानी का दोष नहीं है, क्योंकि आकाश से अमृतरूपी वर्षा तो सभी जगह एक सी ही होती है, अर्थात् यह फल-प्राप्ति कर्मानुसार होती है, उसमें परमेश्वर का कोई दोष नहीं है। जो

व्यक्ति, कर्महीन-होकर संसार में भटकते हैं, वे ज्ञान-ज्योति-हीन उन पक्षियों के समान हैं, जिनको कभी मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकता अर्थात् कर्ता की भावना और कर्मानुसार ही फल-प्राप्ति होती है, इसमें किसी का भी दोष नहीं हैं।[9]

एक प्रश्न ?

जाम्भोजी ने अपने वचनों में, पक्ष-प्रतिपक्ष अथवा कथोपकथन की शैली को अपनाया है, जिसमें वे प्रथमतः ऋषि, साधु, काजी, मुल्ला, पीर तथा तीर्थवासीजनों से प्रश्न करते हैं औरं तदन्तर स्वयं ही उसका उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि यदि किसी ने विद्याध्ययन या वेदाध्ययन करके उस पर चिन्तन नहीं किया तो उस व्यक्ति ने कुछ भी प्राप्त नहीं किया। पढ़ने की सार्थकता, मनन करने में है, क्योंकि सार की प्राप्ति मनन से ही होती है। मननरहित प्राणी, काठ और पत्थर-रूपी स्थूल पदार्थों से ही प्रसन्न होता है। पुस्तकीय ज्ञान थोथा नहीं है, लेकिन बिना मन्थन के तत्व ग्रहण नहीं होता है और बिना तत्व-ग्रहण के वह ज्ञान थोथा मालूम पड़ता है।

जीवात्मा शरीर में कैसे प्रविष्ट होती है? इसके उत्तर को एक व्यावहारिक उदाहरण से बोधित करते हुए वे कहते हैं कि जैसे काँसे की झालर का शब्द, न तो उससे बाहर जाता है और न ही उसके भीतर रहता है, अपितु, समस्त काँसे की झालर में ही समाविष्ट है, वैसे ही जीवात्मा प्रत्येक पिण्ड में आने-जाने पर भी तद्रूप रहती है अर्थात् परब्रह्म में समाविष्ट रहती है। वह जीवात्मा पिण्ड में क्षणमात्र में प्रविष्ट हो जाती है और समयानुसार क्षणमात्र में चली भी जाती है, जैसे-वर्ष में विभिन्न ऋतुएँ आती हैं और जाती हैं, वैसे ही यह आत्मा क्रमशः आती-जाती रहती हैं।[10] यह स्वाभाविक क्रिया है।

इसप्रकार जाम्भोजी के साहित्य में अनेक दार्शनिक, आध्यात्मिक और जागृतिक पहलू हैं, जिन पर विचार करना अपेक्षित होते हुए भी केसोजी कृत साखी से लेख को विश्राम देता हूं :-

लोहट तणीजे लाज।
पतराखी पूरा धणी गउ चरावण काज।
गोवल चाल्या म्हे सूंण्या-
गोवल चाल्या म्हे सूण्या नै धणी जे आयो धाय।
भंगवै बाने विष्णु आयो दर्शन दीन्हों आय।
लोहट करै छै बीणती नै विनय सुणों तुरराय।

पुत्र दीजे देवजी लोहट तणीजे लाज।
पत राखो पुरा धणी॥1॥

ऐसो जनमें पूत, सुन लोहट सतगुरु कहे।
जोगी महा अवधूत, डर पै मत आशा सही।
डर पै मत आशा सही नै रकणी ऐती बात।
गोविन्द गोवल चालिया नै जहां हांसलदे माय।
सखिया बैठी सामठी नै आण खड़्यो अवधूत।
हांसा नै सतगुरु कह ऐसो जन्में पूत॥2॥

माता मन अणराय मोसिरजी करतार क्यों बलि-बलि लागूं पाय।
भुखें कायर मोरजू नैंनें पुत्र बिहूंणी माय।
जामवारो ऐसो गयो नै मैं क्या कियो जुग आय।
जब दयानिधि बोलिया नै सुण हांसलदे माय।
नवैं महीने अवतरूं नै धरां तिहारे आय हांसा नै सतगुरु कहै॥3॥

समराथल अवतार गोवल रमतो दावड़ो।
कृष्ण सही करतार, नन्द घर हो तो छावड़ो॥
नन्द घर हो छावड़ो न डावड़ों रणधीर।
बांकी बेला सदा आवै भक्त भजंतता भीड़।
गज को ग्राह घेरियो जल डूबल सुणी पुकार॥
गरूड छोड़ प्यादे भये गज को लियो उबार।
गोवल रमन्डो डावड़ों॥4॥

कुल पुवांर तणै प्रकाश पीपासर प्रगट्यो दई।
चोचक हुवा उजास, जाणे रवि ऊगो सही नै।
माता मन आनन्द पुत्र जन्म्यो पुंवार घर गावे।
गुण गोविन्द शरणै राखो श्याम जी नै।
हर जी हर की आश लोहट घरां बधावना।
कुल पंवार तणै प्रकाश पीपासर प्रगट्या दई॥5॥

सन्दर्भ सूची :-

1. रतन कया सांचे की ढोली।

—सबद-वाणी, 21.19

2. आसण बैसण कूड़ कपटं।
को को चिन्हत अवजू वाटं।
अवजू वाटे जे नर भया।
काची काया छोड़ि कंवलाये गया।

—सबद-वाणी, 23.7

3. जंबू मंझे राचि न रहिबा थे हूं।

—सबद-वाणी, 23.7

4. घणां दिनां का बड़ा न कहिबा बड़ा न लांघिबा पारूं।
उतिम कुलि का उतिम न कहिबा कारण किरिया सारूं।

—सबद-वाणी, 23.3-4

5. कलि जुग वरतै चेतो लोई चेतो चेता हारूं।
सतगुरु मिलियो सतपंथ बतायौ वेद गरथ उदगारूं।

—सबद-वाणी, 24.6-7

6. भगवन्! बद्धसिद्धासनैर्निरूद्धनिष्वासैः प्रबोधितकुण्डलिनी-कैर्विजितदशेन्द्रियैरनाहतनादतन्तुमवलम्ब्याज्ञाचक्रं संस्पृश्य चन्द्रमण्डलं भित्वा तेजः पंजमविगणय्य सहस्रदलकमलस्यान्तः प्रविश्य परमात्मानं साक्षात्कृत्य तत्रैव रममाणैर्मृत्युंजयैरानन्दमात्र-स्वरूपैर्घ्यानावस्थितैर्भवादृशैर्न ज्ञायते कालवेगः।
—अम्बिकादत्त व्यास, शिवराजविजय, प्रथम निश्वास (तृतीय संस्करण, मेरठ, 1983), पृष्ठ 34-35

7. गुर का सबद ज झींणी बांणी
दूर्‌या हीं तैं दूरि सुंणीजै,
सो सबद गुणां कारूं गुणां पारूं
गुणा सारूं बले अपारूं।

—सबद-वाणी, 19.25-28

8. जोलै का रिप जंवरा।

—सबद-वाणी, 19.18

9. कालरि करसंण कीयो नेपै कछू न कायौ।

अइया उतिम खेती को को इम्रत रायौ।
को को दाख दिखायो को को ईख उपायो।

—सबद-वाणी, 20.3-5

10. सुणि रे काजी सुणि रे मुल्ला पीर रषेसर।
रे मसवासी तीरथवासी किणि घटि पैठा जीयो?
कंसा सबदे् कंस लहुकाई बाहरि गई न रीवों।
खिणि आवै खिणी बाहरि जावै रूति करि वरस तसीयो।

—सबद-वाणी 25.7-10

कनिष्ठ शोध सहायक
राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
चित्तौड़गढ़

❑❑

राजस्थान के सन्तों की मौखिक वाणी का भाव-सौन्दर्य

— दीनदयाल ओझा

राजस्थान-प्रान्त का विस्तृत क्षेत्र, जहाँ अपने राजपूत शूरवीरों और शौर्य के लिए विख्यात रहा हैं वहीं इसकी प्रसिद्धि उन अनेक भक्तों, साहित्य-निर्माताओं और संत महात्माओं के कारण भी कम नहीं है, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना, सदाचरण, गुरुं-भक्ति, निष्ठा, संतोष, अपरिग्रहीभावना एवं सदुपदेश द्वारा मानव-जीवन के महान् आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। ऐसे अनुपम, दिव्य-सहज-ज्ञान गुण-सम्पन्न महापुरूष इस धरा पर कई शताब्दियों से बराबर होते आए हैं और उन्होंने अपने भावों का प्रकाशन सर्वसाधारण की भाषा-शैली में करके जनसाधारण को उपकृत करने की श्लाघनीय चेष्टा की है तथा इस प्रकार उन्होंने एक ऐसे साहित्य का सृजन भी कर दिया है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रत्युत, जिसके अधिकतर मौखिक रूपों में ही उपलब्ध अंशों को एकत्र, संगृहीत और सुसंपादित कर, उसे उचित स्थान भी दिया जा सकता है।

भारतीय सँस्कृति नगरीय कभी नहीं रही। वह अरण्य अथवा ग्रामोद्भूत संस्कृति रही है। इसलिये प्राचीन सँस्कृति में अरण्यों, ग्रामों और जनपदों का विशेष महत्त्व रहा है। प्रकृति की पावन गोद में पल्लवित, पुष्पित और सुस्फुटित होने वाली सँस्कृति अरण्य-सँस्कृति, ग्राम्य सँस्कृति अथवा जनपदीय सँस्कृति कहलाई, जिसका विषद् वर्णन वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और आर्य-काव्यों में उपलब्ध होता है।

चिन्तकों की अवधारणा के अनुसार अरण्य-सँस्कृति मानव को महान् बना देती है। पावन-पूत प्रकृति का कण-कण, उसे त्याग, तपस्या, परोपकार, अपरिग्रही भावना, सहजता, निर्भयता, संतोष और सत्य, शिव और सुन्दरता का पाठ पढ़ाती है और वह साधक बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी बनता है। उसका प्रत्येक कार्यकलाप स्व-तक सीमित न रह कर भूमा, भावना से जुड़ता है। वह व्यष्टिपरक नहीं, समष्टिपरक जीवन जीता

है। उसकी अल्पज्ञता अथवा निरक्षरता-उसे सहजता और आडम्बर-शून्यता का सबक सिखाती है। वह सार को हृदयंगम करके जीवन में व्यवहृत करने की चरम चेष्टा करता है। वह गुरु-कृपा से ज्ञान, भक्ति और साधना को सर्वश्रेष्ठ स्वीकारता है। उसने साक्षर बनाने वाली या डिग्रियाँ प्रदान करने वाली शिक्षण-शाखाओं में ऐसे ही 'सा विद्या या विमुक्तये' का पाठ नहीं पढ़ा हो, परन्तु गुरु-कृपा, से उसने समस्त भवबंधनों को काटकर मुक्ति प्राप्त करने और मुक्त रहने का मूल-मंत्र भली-भांति हृदयंगम कर लिया था। कथनी और करनी का भेद मिटा, गुरु को परब्रह्म परमेश्वरमान, उसने अप्राप्य को प्राप्त, असभ्य को सभ्य और अदृश्य को दृश्यमान बना लिया था। उसके सहज-जीवन ने सर्वत्र कृत्रिमता का परित्याग करके समस्त भेदभावों और षट्रिपुओं का मूलोच्छेदन कर दिया था। अपनी स्वाभाविक सहज स्फूर्तवाणी द्वारा उसने अपने अनुभव को वाणी द्वारा कथा और तदनुकूल जीवन-जीकर वह गरिमा अथवा पद प्राप्त किया, जिसके लिये प्रखर पंडित भी व्यथित दिखाई देते हैं।

राजस्थान के कण-कण और जन-जन को, अपनी सरस, सहज-प्रसार-गुणयुक्त पावन, वाणी से पूततम करने वाले, ऐसे सन्तों, साधकों, भक्त-कवि, कवयित्रियों की एक अन्तहीन सूची हो सकती है। परन्तु पिछले 40 वर्षों से सन्तवाणी-साहित्य का निरन्तर श्रवण, लिपिकरण, संपादन और जनपदीय सन्त और उनकी वाणी ग्रन्थ का लेखन करते समय गोरखनाथ, कबीर, हरजी भाटी, अरमीदास आदि-आदि सन्तों के अतिरिक्त रोयल या रोहिल, भानीनाथ, आशा भारती, डूंगरपुरी, विखमा माली, तोलांदे, रूपांदे, बनानाथ, विवेकनाथ आदि-आदि सन्त-साधकों और साधिकाओं की जो वाणी सुनने को मिली उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि इन जनपदीय, अक्षर-ज्ञान-विहीन सन्तों की वाणी का गुण गांभीर्य, संप्रेषणीयता, प्रभावोत्पादकता और कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष किसी पठित-ज्ञान मर्मज्ञ कवियों एवं संतों की वाणी से कम नहीं। वस्तुतः इनकी सहज स्फूर्त-वाणी में सुरसरि के सलिल सी सरसता और पावनता है। हिमालय सी ऊँचाइयाँ हैं। नन्दन-कानन और सुमनों और मलय-समीर सी शीतल, सौरभ है, भूमा-भावों सा विस्तार' है, कल्प-वृक्ष की सी क्षमता है, कामधेनु जैसी अनुकंपा है, वटसी शीतल-छांया देने की क्षमता है। कदम-कदम पर भव-कर्दम में गिरने से बचाने की, इस संतवाणी में अपूर्व सामर्थ्य और असीम शक्ति है। वह जन-जन की भौतिक भावनाओं को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने की ऋचाएं हैं, जिन्हें वेद-मंत्रों की तरह गाँव-गाँव का निरक्षर जन-जन सुनकर जीवन का सारतत्त्व और सही दिशा-बोध, नितान्त सहजता से प्राप्त करता है।

सन्तों की वाणी, उनकी शब्दावली, उनके रूपक, उनका कथन, उनकी स्वरलहरी, उनके साज, उनके गायक, उनके वाद्य आदि-आदि उनके अपने आत्मीय से परिचित

हैं। कहीं अलगाव, दुराव और भेदभाव नहीं। वह जो कुछ कहता, दुहराता, गाता और अर्थाता है, सभी कुछ अपनत्व का बोध और साक्षात्कार कराने वाला है। उसमें सहजता, सरलता और साधारणीकरण की अतुलनीय क्षमता है। सत्य तो यह है कि इन सन्तों ने पोथी, पानों को अनछूए ढाईअक्षर, प्रेम और भक्ति का हृदय से पढ़, गुरु-चरणों में आस्था और विश्वास के द्वारा ऐसा कुछ कहा और ऐसा कुछ प्राप्त किया जो अकथनीय और अतुलनीय है। नश्वर-देह के परित्याग के पश्चात् भी इन सन्तों की मौखिक वाणी रूपी कीर्ति-सत्ता, सुकीर्तनीय जीवन-गाथा इनके अजर-अमर जीवन बोध के शिलालेखीय प्रस्तर-फलक है, जो जन-जन के हृदय पर अमिटरूप से अंकित हैं। कोटि-कोटि जन-जन को अनुप्राणित, उद्बोधित, रस-सिक्त करने वाली सन्तों की मौखिक अजर-अमर वाणी परमसत्ता के प्रतीक रूप गुरु-अनुकंपा से प्रत्येक अध्यात्म-प्रेमी का हृदय एवं कंठहार बनती हुई, एक रसना से दूसरी रसना पर चढ़ती-उतरती नित-नूतन-भाव-शब्द-प्रतीक जोड़ती, आज भी अपने गुरु-भाइयों, आत्मीयजनों और असार-संसार के पंक में उसे प्राणियों को सत्-शिव-सुन्दर पथ-प्रदर्शित करने में पूर्ण रूपेण सक्षम है। यह असाधारण शक्ति, क्षमता और स्थाइत्व सुनिश्चित रूप से साधारण, कृत्रिम और मस्तिष्कीय वाग्विलास जन्य-शब्दावली को कभी भी प्राप्य नहीं हो सकती। सैकड़ों वर्ष बीत गये पर, संतों की गंगा, यमुना और सरस्वती सी पावन वाणी आज भी सर्वत्र जन-मन के कल्मष को विनष्ट करने में, उसे पावन-पूततम बनाने में सहज, सक्षम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन संतों की भाव भरी वाणी का हृदय-पक्ष अथवा भाव-पक्ष इतनी सुहृद भीति या नींव पर अवलम्बित है, जो अनेकानेक पवमानों और प्रभंजनों को अनायास या सहज सहन कर अमिट कीर्ति-स्तंभ और सूर्य की तरह सुहृद और प्रकाशवान् है।

राजस्थान के इन संत-शूरों ने अपनी परम्परागत शब्दावली और सुहृद-भाव-भूमि जो इन्हें गुरु-कृपा स्वरूप उपलब्ध हुई, निर्ग्रन्थ-भाव-सत्संग से सुसंस्कारित बनी तथ सद्गुणी प्रवृत्ति के आधार पर जो हृदयहार बनी, उसका कहीं भी परित्याग नहीं किया यही कारण है कि जन-जन के कंठहार बनी इस संतवाणी में आज भी नाथ-योगियों दृढ़ योगियों, सूफियों, प्रेम-मार्गियों, कबीर आदि संतों और संप्रदायों की शब्दावली, रूपकं और प्रतीकों, बिम्बों तथा अन्योक्तियों और उलटवांसियों एवं पद-रचनाशैली का भी यथ प्रसंगानुकूल प्रभाव पूर्ण रूपेण परिलक्षित होता है। नीत-नवीन प्रतीकों के जन्मदाता औ पोषक इन संतों ने लौकिक रंग में रंग कर, सन्निकट परिवेश से जितना कुछ सद् सा ग्रहण करना था, उसे ग्रहण करके ऐसा कुछ हृदयस्पर्शी और अन्तःकरण के तार-ता को झंकृत करने वाला कहा, जिसकी सरस शब्दावली और भाव-तरंगों में अवगाह करके, लोक-जीवन के चरम और सर्वोच्च लक्ष्य को पाने में सहज अनायासरूप र

सफल हुआ। भव-भय-भंजन, भौतिक सुखों के नश्वर प्रासादों के खंडन, सुगृहणीयसार तत्त्वों के मंडन और ग्रहण-स्वरूप इन संतों ने जो कुछ कहा वह अवर्णनीय है। उसका रूप-दर्शन चर्म-चक्षुओं से नहीं, अन्तर-चक्षुओं से किया जा सकता है और आस्वादन इस रसना से नहीं अन्तरमुखी साधना समाधि तक पहुँच कर ही वस्तुतः ये सन्त अपने पूर्ववर्ती सन्तों के सुहृद स्कन्धों पर आरूढ़ हो, अपने ज्ञान, चक्षुओं के माध्यम से सृष्टि के सनातन अमिट, अजर, अमर, सद्-शिव-सुन्दर को निहार कर जिस सनातन, अलौकिक, सुखोपलब्धी का आनन्दानुभव करते हैं, वे उसे परमभक्त के द्वारा वितरित किये जाने वाले प्रसाद की तरह बाँट कर परितोष प्राप्त करते हैं। संत अच्छी तरह जानते समझते हैं कि संग्रह में ही दुःख है और बाँटने में ही सुख। उन्हें अच्छी तरह अपने पूर्ववर्ती संतों, चिन्तकों और मर्मज्ञों का कथन स्मरण है कि ज्ञान और विद्या धन ज्यों-ज्यों खर्च किया जाता है, त्यों-त्यों बढ़ता है। दिया हुआ पुनः सहस्र गुना होकर लौटता है। देना ही देवत्व है और लेना ही आसुरी-वृत्ति का परिचायक।

निश्चयात्मक रूप से-जिन सन्तों की वाणी आज कही-सुनी जाती है, उन सन्तों की मौखिक वाणी के विवेच्य, विषय, गुरु महिमा, संसार की नश्वरता, षटरिपुओं को पराजित करके विजयोपलब्धि, कंचन-कामिनी, सुरा-सुन्दरी का विरोध, दिव्य-तत्व-दर्शन की उत्कट् अभिलाषा, संयम, तप, सत्यासत्य की खोज और मोक्ष अथवा मुक्ति की कामना ही, प्रमुखतया कहे जा सकते हैं। इन और ऐसे ही अनेक, जन-मन-रंजन और भव-भय-भंजन भावों को इन संतों ने जिस भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया, उनमें न कहीं भाषागत दुरूहता है न भावगत क्लिष्टता और पाण्डित्य का प्रदर्शन पक्ष ही। व्याकरण, छंद, ताल स्वर, राग-रागिनी की शास्त्रीय दुरुहता का भी कहीं दर्शन नहीं होता। वह घर से खेत और खेत से घर तक जाने वाली सीधी, गहरी, निकंटक पगडंडी है। ऊजड़ में पाँव पड़ने पर अथवा पथ-भ्रष्ट होने से पग-पग पर शूल-चुभने की संभावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। उनके निर्मल कथन में गुरु-प्रदत्त ज्ञान की साक्षी है तो अनुभूत सत्-शिव-सुन्दर सनातनस्वरूप का शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर में ओज और आभा का भाव प्रकाश भी। इसी प्रकाश-पुंज में जन्म-जन्मान्तर के गहनतम अज्ञानान्धकार को विदीर्ण करने की अकूत शक्ति है, तो सुपथ दिखाने की अटूट प्रबलतम क्षमता भी। वे साधारण दिखने में भी असाधारणत्व को आत्मसात किये हुए हैं। वे कर्म करते हुए भी निष्काम योगी हैं। उन्होंने अपना सकल योग क्षेत्र गुरु और आराध्य के चरणों में सहज समर्पित कर दिया है। संसार में रहते हुए भी वह उसे निस्सार समझता है। अतः उसकी रहनी, करनी तथा कथनी सर्वत्र समष्टि-हितार्थ समर्पित है, कहीं भी अहम् किम्वा व्यष्टिपरक नहीं। वह तो पिंड में ही ब्रह्माण्ड के दर्शन करता

है। अन्तरगुहा में झाँक कर वह अपने आराध्य अथवा आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार का लाभ लेता है। उसके हृदयस्थ आनन्दोल्लास को सुख, अनिर्वचनीय और गूंगे की केरी सरकरा के मिठास सा अव्यक्त एवं वर्णन की सीमा से परे है।

अन्तर का आनन्दोल्लास जब अभिव्यक्त होता है तब वह समान-धर्मी-भाव-भूमि पर विचरण करने वाले, आत्मचेता को अभिभूत और रस-मग्न किये बिना नहीं रहता। वह समभाव श्रोता, इष्ट और उपभोक्ता अथवा गृहणकर्ता बन जाता है। जिस-जिसकी जैसी प्राकारान्तर से सँस्कार-जन्य-भाव सृष्टि होती है, उसी की पृष्ठ-भूमि के आधार पर स्वल्प अथवा सुदीर्घ काल में वह सद् अवा सार-तत्त्व को ग्रहण करके अपना जीवन सफल बना समस्त साँसारिक बंधनों से मुक्त हो मोक्ष या कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। सन्तों की आराधना-साधना और अभिव्यक्ति का यह समुज्ज्वल-पक्ष उसकी भावगत-सृष्टि को पूर्णरूप से शिवत्व-भाव से संपृक्त करके, उन्हें ऐसी भाव-भूमि के उच्च शिखर पर आसीन करता है, जहाँ वे ध्रुव से अटल रहने में सक्षम हैं।

सत्यान्वेषी ये सन्त कभी भी पराश्रय या परावलंबन से पीड़ित नहीं रहे। जीवन की समग्र सुख-भोग-सामग्री का परित्याग करके श्रम, सादगी और अपरिग्रहवृत्ती का अनुसरण कर, इन्होंने जैसा-जीवन, जीया वह समग्र मानव-समुदाय के कल्याणार्थ अनुकरणीय बन, युग-युग को अनुप्राणित करता रहा, अमर, अमिट, सनातन, आनन्दोपलब्धि और मोक्ष के लिये। सद्जीवन, जीने के साधकों, शोधकों और साधारणजनों ने इन संतों के प्रत्यक्ष दर्शन, वाणी की भावधारा में मज्जन और उसके अमृतोपम रस का पान करके जो अनुपम अलौकिक निधि प्राप्त की वह चाहे भौतिक या साँसारिक सुखोपलब्धि का साधन भले ही न रही हो, परन्तु उनके जन्म-जन्मान्तर को सफल बनाने में निश्चयात्मक रूप से सहयोगी रही। इसमें मतान्तर हो ही नहीं सकता।

अन्तर के समस्त कल्मष को समूल नष्ट करने वाली मौखिक सन्तवाणी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का विवेचन करने से पूर्व उनकी सृजनात्मक प्रक्रिया का अगर अध्ययन किया जाय तो प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है कि इन सन्तों के विविध पद, वाणियां, गुरु-वंदना, संसार की नश्वरता, भव-भोगों की क्षण-भंगुरता, कंचन-कामिनी का विरोध, परमसत्ता या परब्रह्म की प्राप्ति अथवा साक्षात्कार-विपयक है। अपने कथ्य को संप्रेपित करने हेतु-इन सन्तों ने उद्‌बोधन और चेतनापरक वाणियों या पदों का भी सृजन किया। संसार की पतनोन्मुखी शृंगार परक भावनाओं को उर्ध्वमुखी तथा विरक्ति परक बनाने हेतु संतों ने विरह के भाव परक पद रचे और वाणी कही। परम्परागत रूपकों, प्रतीकों, बिंबो और अन्योक्तियों के साथ-साथ अतीव प्रभावकारी, सहज, सरस, नित्य के जीवन

में प्रयुक्त होने वाली जागतिक वस्तुओं और पदार्थों के अवलंबन से इन्होंने ऐसी वाणी कही जो समस्त अपठित मानव के मन का संस्पर्श करके उसके अन्तराल में पहुँच जीवन-परिवर्तन का सबल-सक्षम आधार बनी। चारित्रिक-समुज्ज्वलता, जीवन को विकृत करने वाले नशों का विरोध, शुद्ध, सात्विक एवं सत्यानुमोदित जीवन-जीने की श्रेष्ठता विषयक भाव भी संतों की वाणी के प्रमुख विवेच्य और वर्णनीय विषय रहे।

इन जनपदीय या ग्राम्य सन्तों ने गुरु-कृपा के अवलंबन से काया गढ़ खोजा और दिव्य निधि पाई जो ब्रह्माण्ड में है, उसे इन संतों ने पिंड में निरखा और राम नाम के अमृत एवं मधुरतम रस का पान किया। सन्त भावीनाथ के शब्दों में "जीत चल्या सो हर का बंदा, अगली भजन सुधारी।" हर के बन्दे को यह स्पष्ट प्रतीति होने लगती है कि "ऐ सुन्दर काया हंसलो थारो मितर कोनी थारो।" और यह काया कमेड़ी नार जो इतना नखरा करती है उसे एक दिन सिकरा (बाज) उचक कर ले जायेगा। सूफी सन्त रोयल बुगला भक्ति करने वालों को ललकार कर कहता है-"बुगला भगती जो करै रे त्यां ठाव नहीं ठौड़। अनन्त उपाय वे कर रहला रे ओ तो पच-पच मूआ रे करोड़।" यही रोयल उसे चतुर-चकारा कहता है जो "आपौ मार आप में जोवे सो नर असल चकारो।" तत्पश्चात् जीवपण का भास गलित हो जाता है और ब्रह्म का प्रकाश भासित होने लगता है-"जीवपण रो भास गलियो भयो ब्रह्म-प्रकास री।" इसी प्रकाश तले यह अनुभूति होने लगती है कि इस संसार में "पांच तत्त्व गुण तीन पसारा, चेतन एक बहुत विस्तारा।" चेतन के इस असीम विस्तार को जो शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध तथा सब में अलख को नहीं लखता वह अंधा है। "सबद, स्पर्श, रूप, रस, गंधा सब में अलख लखे नहीं अन्धा।"

आशा भारती 'सत री संगत सुख धारा' बताते हुए उसे कामधेनु, कल्पतरु-चिन्तामणी वांच्छित फल-प्रदायक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि "मिटे नहीं त्रास बिना सत्संगत, होवे नहीं परम उधारा।" और वह मुक्ति का अधिकारी नहीं बनता "होवे नहीं मुक्ति अधिकारा।" लोभी मन को सन्त आशा भारती भूंडो रे भूंडो कह कर संबोधित करते हैं। यह मन-माया-कारण भटकता फिरता है "माया कारण फिरे भटकतो" और "भोगों कारण फिरे जग मांही।" डूंगरपुरी अपनी भावभरी वाणी में पात्रता के अनुकूल ज्ञान देने के आदर्श सिद्धान्त को जनभाषा में व्यक्त करते हुए स्पष्ट उद्घोष करते हैं-"बरतन जोय बसतो दीजिये, जांरो मांनै ईरखो न आवै।" इसी तात्विकसिद्धान्त को और स्पष्ट करते हुए जन-जन को उद्बोधित करते हैं :-

काचे घड़े में नीर ना ठमै, ना ठमै कागज पारा।

बुगला मोतीड़ोरो क्या करै, मोतीड़ा हंससोरा चारा।
अंधलो आरसी नै क्या करै, क्या करै मूरख माला।
काफर तसबी को क्या करै, ज्यों घट घोर अंधारा।
बिन दीपक मंदिर किसा, जैसे टाटी में ताला।
बिन किरिया जोगी किसा, जैसे कूप नीर खारा।
बिना फरजन कैसी मावड़ी, किस विध आवे पाना।।

परब्रह्म की परम सत्ता को वही सन्त-सुजान निरख सकता है जिसका शीश धड़ से न्यारा है-"निरखै सन्त सुजान सीस धड़ जाको न्यारो है।" ये सन्त उस देव के ही पुजारी हैं जो सर्वत्र और सबमें व्यापक है। "म्हे पूजू उण देव ने व्यापक सब रै मांय।"

सन्त गुरु खींवाराम का शिष्य लिखमा माली, मन को राम-स्मरण का परामर्श देता हुआ कहता है "रे मन राम सुमर मेरा भाया।" इसी राम नाम से कल्याण होगा। पर वह मैली चादर होने का स्मरण दिलाना भी नहीं भूलता अत: वह कहता है "मन मैला झीणोड़ी चादर ओय। बिन ओयो दुख ऊपजे थोरो तिरणो किय विद्य होय।" आतिथ्य-सत्कार अथवा मेजबानीं में की जाने वाली हिंसा का विरोध किस तरह सन्त लिखमा एक रूपक और प्रतीकों के माध्यम से करता है, उसकी अनुपम झांकी देखिये :

या मिजमानी दीजे प्रेम गुरु अणी अजाबंध रीझे।
ज्ञान की खड़ग किरोध को बकरो झटपट चक्कर कीजे।
कुबुध खालड़ो काढ परेकी नान्हो मांस छणीजे।
कर करणी चूल्हे पर धरणी ज्ञान फूंक ले दीजे।
आसा तिसना इंधण लकड़ी तोरी तोरी अगन लगीजे।
लालच लसण कुबुध काचरी ममता री मिरच बटीजे।
हल्दी अणिया ओखा पीसण, पांचू मसाला कीजे।
सुरत निरत दोनू रांधण बैठी खदबद खदबद सीझे।
जद थारो मांयलो उफणन लागै तो जरणा रो ढकनो दीजे।
चन्नण चौकी जगत बैठणा, प्रेम थाल परसी जै।
जद मेरो सद्‌गुरु जीमण बैठे मन मांगै सो दीजे।

राजस्थान में अफीम का प्रचार सर्वत्र देखा जा सकता है। परन्तु वाणी-गायक सन्त तो इस अफीम का नहीं हर नाम का अमली है, अत: वह कहता है "म्है अमली हर रे नाम रा, म्हांनै हर बिन बायड़ आवै।" संत विवेकनाथ अल्पज्ञ सांसारिक सुखों

के क्षणिक आनन्द में डूबे मनुष्यों को डेडरिया मेढ़क नाम से संबोधित करते हुए छीलरियों की आस का परित्याग करके आध्यात्म के अथाह सिन्धु में वास-निवास करने का सत् परामर्श देते हुए कहते हैं "डेडरिया तज दे. छीलरियों री आसा। अे तो निवासी छिन रुक घड़ी का तू करेनी समदो में वासा।"

परमात्मा को प्राप्त करने के साधन विरह को भी सन्त कवियों और कवयित्रियों ने विस्मृत नहीं किया। संत उगमसी भाटी की सन्त शिष्या तो यहाँ तक कहती है कि जिसके मन में विरह नहीं है उनका जीना व्यर्थ है, घूड़ सा है। "ज्योरे मन में विरह नहीं, ज्योरो घूड़ सो जीणो।" विरहणीआत्मा को जब प्रियतम परमात्मा मिल जाता है, उस समय कितना हर्षोल्लास होता है, उसकी झाँकी संत भानीनाथ के शब्दों में देखिये :-

मेरा आज पिया घर आया तुम बांटो बधाई रंग बिरहणड़ी।
घर आंगड़ परबार बगड़ में आणद् भया पिया पाया मेरे मन में।
आंगण इन्दर झुक आया री।
मेरे दिल बिच लग रही प्रेम झड़ी।
अभी बिरहण मांग संवारै।
पिव से मिलण चली गुरु द्वारे।
सतगुरु मतवाला मिल गया री।
जागी है मेरी प्रेम कली।
नाथ गुलाब मिल्या गुरु रमता।
आशा पूरण कर दी।
देखत पार उतर गया री।
धन धन कहिये मेरी आज घड़ी॥

बहिर जगत नहीं, अन्तर जगत 'घर' का अवलोकन करने का स्मरण दिलाते हुए ये जनपदीय सन्त जिनकी वाणी जन-जन के कण्ठहार बनी हुई मौखिकरूप से प्रचलित अध्यात्म-प्रेमियों और सत्संगानुरागियों द्वारा सोल्लासपूर्ण भक्ति-भावना के साथ गायन करते हुए चेतावनी देते हैं :-

हे मनवा अर मांय देखले,
देही बिच दाता बोले रे।
स्वास स्वास में बोल कुदरती,
हरिभज निरमल होले रे।

भानीनाथ सरण सतगुरु री,
पिया प्रेम रस जोले रे।

उक्त विवरण से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि निरन्तर अन्तर का अवलोकन करने वाले सन्तों ने संसार का बहिरंग-पक्ष नहीं, सदा-सर्वदा अन्तरंग-पक्ष का ही निरीक्षण किया, दर्शन किया। अतः इन समग्र सन्तों की वाणी का अध्ययन कला-पक्ष की दृष्टि से नहीं, भाव-पक्ष की दृष्टि से ही वर्णित किया गया है। भाव-पक्ष से तात्पर्य साहित्य या काव्य अथवा वाणी के अन्तरंग से है, जिसे एक प्रकार की कविता की आत्मा कहा जा सकता है। भाव-पक्ष का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप रस-निष्पति है। भाव, रस-कोटि पर पहुँचकर ही आस्वाद्य बनते हैं। फलतः साहित्य या काव्य के अन्तर में भाव की ही प्रतिष्ठा है और इस दृष्टि से सन्तवाणी सर्वथा सफल प्रमाणित हुई है।

उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाय तो संत-साहित्य-प्रणेताओं का उद्देश्य अपनी सृजन-धर्मिता द्वारा सहृदयजनों का मात्र मनोरंजन करना नहीं, अपितु, सांसारिक-प्रपंचों में पड़े लोगों को सद्पथ एवं सत्य का परिचय किम्वा साक्षात्कार कराना है और ये सन्त अपने इस उद्देश्य में पूर्णरूपेण सफल दृष्टिगोचर होते हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से इन सन्तों ने पाण्डित्य-प्रदर्शन के भाव से कहीं भी एक शब्द तक नहीं लिखा, कथ्य में भी ठेठ अपनी मायड़-भाषा के सर्वांगीण सौष्ठव, स्थानीय रंग, परम्परागत प्रतीक, बिंदु और सांगरूपकों का सहज अवलंबन लेकर इतना कुछ सत्-शिव-सुन्दर कथ्य जिसमें प्रत्येक को अकथनीय आनन्द, चरमसुख, सुपथ का दर्शन और अपनत्व का बोध तथा आत्म-साक्षात्कार होने लगेगा।

वस्तुतः, राजस्थान के सन्तों की मौखिकवाणी का भाव-सौन्दर्य उस अनन्त आकाश की तरह सुविस्तृत है, जिसमें दो डग वाला सांसारिक सीमा में आबद्ध द्विज ओर, छोर का पता नहीं पा सकता। सत्य तो यह है कि सन्तों की इस अजर अमर सनातन, सत्य वाणी का चरम-आनन्द सन्त होकर ही लिया और व्याख्यायित किया जा सकता है। यहाँ तो मात्र एक अल्पप्रयास प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जिसका श्रवण करके मौखिक सन्त-वाणी के भाव-सौन्दर्य के प्रति ज्ञानी चिन्तकों, जिज्ञासुओं को रंच मात्र आनन्दोपलब्धि अथवा अभिरुचि जागृत हो तो भी मैं अपना प्रयास सफल मानूँगा।

साहित्य साधना सदन
केलापाड़ा, जैसलमेर-345001

❑❑

सन्त भक्त कवि ठाकुर गुमानसिंह

— डॉ. लक्ष्मीकान्त व्यास

भारत-भूमि को विश्वगुरु की उपाधि से विभूषित कराने में, अनेक नररत्नों की महती भूमिका रही है। व्यक्तिगत आभा के साथ-साथ मातृभूमि की आभा को दिग्-दिगन्त में प्रसारित करने वाले ये नररत्न वीर, भक्त, सन्त, योगी, कवि और बलिदानी रहे हैं जिनकी जीवन-ज्योति मानव का आदर्श है, अज्ञान तथा किंकर्तव्यविमूढ़ता में आलोक का पुञ्ज है।

मेवाड़ की धरती रत्नगर्भा है। शैव-वैष्णव, शाक्त और जैनमतावलम्बी सम्यक् इसे अपनी धरती मानते आए हैं और इन सभी को प्रश्रय यहाँ प्राप्त हुआ है। सन्तों और भक्तों की सुदीर्घ परंपरा, मेवाड़ के दर्शन, साहित्य और इतिहास की उपलब्धि मानी जानी चाहिये।

भक्त-कवि ठाकुर गुमानसिंह दर्शन-साहित्य के प्रणेता रहे, जो प्रत्यक्षतः राधा-कृष्ण के मिश्रित स्वरूप के उपासक थे, लेकिन उनके द्वारा प्रणीत प्रभूत, साहित्य-सम्पदा-योग-साधना की अनुपम धरोहर है। साहित्यिक सुधीजन इसे भक्ति साहित्य की संज्ञा देते हैं, दर्शन शास्त्री इसे योगसाधना की थाती मानते हैं। रामनाम की महत्ता, गुरु पद की प्रभुता और सांसारिक मोह से निस्पृहता, ने इसे संत-साहित्य की श्रेणी में ला दिया है, चाहे इसे कुछ भी मानें लेकिन मानव मन में आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने और भारतीय योग परंपरा में ध्यान-धारणा-समाधि की ओर प्रशस्त करने का तो यह साधन है। इसके संबंध में यह तथ्य आश्चर्यजनक है कि इतना सब कुछ होते हुए भी आपका व्यक्तित्व और कृतित्व लोक में व्यापकता प्राप्त न कर सका। आपके शिष्य महाराजा चतुरसिंह को जितनी लोक-प्रसिद्धि मिली, आपको न मिल सकी।

ठाकुर गुमानसिंह का जन्म मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश की सारंगदेवोत शाखा में हुआ। उस शाखा के आदिपुरुष सारंगदेव थे, जो राणा सांगा के सहायक रहे। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उनके वंशजों को सारंगदेवोत कहने की आज्ञा प्रदान की थी। आपके पिता कल्याणसिंह थे, जिनका कुंवरपदे (युवराजावस्था) में ही निधन हो गया

था और इनके दादा का उत्तराधिकार इनके अग्रज दलेलसिंह को मिला।

आपके जन्म के संबंध में क्रमशः दो तिथियाँ सामने आती हैं-चैत्र कृष्ण नवमीं वि.सं. 1897 और चैत्र कृष्ण द्वादशी वि.सं. 1897, यहाँ उनके परिजनों द्वारा उपलब्ध जन्मपत्रिका के आधार पर नवमीं के स्थान पर द्वादशी है और चतुरसिंहजी ने इस तिथि को नवमीं माना है। *(कल्याण : वर्ष 26, अंक 1, पृ. 762)*

ठाकुर दलेलसिंह से आपको पितृतुल्य स्नेह मिला। अपने अग्रज के भक्तिमय जीवन का भी गुमानसिंह पर प्रभाव पड़ा। सामन्ती वातावरण में पले होने पर भी यह आध्यात्मिक झुकाव इन बंधुओं की चारित्रिक विशिष्टता मानी जानी चाहिये। आपका विवाह 25-26 वर्ष की आयु में रकमपुरा के चौहानों के यहाँ हुआ। आपके तीन पुत्र हुए।

ठाकुर गुमानसिंह अपने अग्रज को 'राम' के समान पूज्य मानते थे। अतः आपने स्वयं ने, जागीर में मिले अपने गाँव 'दाझिया' को (छोटे भाई का गांव होने के कारण) 'लक्ष्मणपुरा' नाम दिया। सम्प्रति यह गाँव उदयपुर से 30 कि.मी. दूर पूर्व में पंचायत मजावड़ा और तहसील-वल्लभनगर में है।

बचपन के सँस्कारों, आध्यात्मिक अभिरुचि, सतत तीर्थाटन, काशीवास और सद्‌गुरुओं की प्रेरणा से आप महान् योगी बने। विशुद्धानन्द, भास्करानन्द और कमल भारतीजी आपके गुरु रहे, जिन्होंने योग-साधना की शिक्षा आपको दी। यौगिक क्रियाओं को प्रत्यक्ष देखने के साथ-साथ वहाँ आपने उनका प्रयोग भी किया और उन्हीं योगिक प्रक्रियाओं को ग्रंथों में निरूपित किया।

आश्रम-व्यवस्था का निर्वहन करते हुए, आपने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ-जीवन व्यतीत किया, अंत में भी समाज को त्यागा नहीं, बल्कि लक्ष्मणपुरा में ही एक कुटिया बनाकर ये रहने लगे, जिसे 'रामझरोखा' नाम दिया और यहीं आपका शेष जीवन व्यतीत हुआ। आपकी शिष्य-परंपरा में महाराजा चतुरसिंह का नाम प्रमुखतः दृष्टिगत होता है जो रक्त-संबंध में इनके भतीजे भी थे। जब महाराजा चतुरसिंह में वैराग्य वृत्ति जागृत हुई तो आप वृन्दावन में रहे और योगाभ्यास के लिए कमल्ल भारती जी के पास गये। उन्होंने महाराजा चतुरसिंह को ठाकुर गुमानसिंह से योग की शिक्षा प्राप्त करने की सलाह दी, इस प्रकार काका-भतीजे का यह संबंध गुरु-शिष्य में परिवर्तित हो गया। महाराजा चतुरसिंह की ये पंक्तियां इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय हैं :

वय ते गुरु संबंध गुरु, योग गुरु गुरु ज्ञान।
अपने समझो लेत करि, सो गुरु सदा गुमान॥

काका केक कबीर है, गोरख केक गुमान।
मारा अनुभव माय तो, युगल हुआ एक आन॥

गुरुमंत्र के रूप में आपने महाराज चतुरसिंह को जो मंत्र दिये, उसका उल्लेख उनकी रचनाओं में मिलता है :-

चतुर त्रिकुटी के मांयने, है ईश्वर तस्वीर।
नैन उलटि के निरखि लो, आखे गुरु सुन वीरु॥

चतुरसिंह शिष्यत्व ग्रहण करते आभार प्रकट करते हैं :-

गुरु जी म्हानै आछा आप रिझाया।

जूना पुन्न जुगादि जागा, सघला पाप समाया।
बिन गुमान रा जद गुमान गुरु, चातुर चौड़े पाया॥

ठाकुर गुमानसिंह ने योगिक-प्रक्रियाओं को अपने ग्रंथों में सरल रूप से विभिन्न उदाहरणों के साथ स्पष्ट किया है। यह उदाहरण, शैली एक ओर गहन अध्ययन और अनुभव का प्रमाण प्रस्तुत करती है, वहीं जन-शिक्षण-भावना को भी परिलक्षित करती है कि वे इस रूप में अपने ज्ञान को साधारण जनों तक पहुँचाना चाहते थे। 'मोक्ष-भवन' और 'मनीषा-लक्ष-चन्द्रिका' इस शैली के ग्रंथ माने जा सकते हैं। 'योगांग-शतक' और 'अद्वैत-बावनी' का स्तर बहुत उच्च है। वहीं-गुमान-पदावली और 'राम-रत्नमाला' सर्वसाधारण को भक्ति-साधना की ओर प्रेरित करती है।

यह तथ्य तो एकदम स्पष्ट है कि आपका सृजन तो योग-साधना की विवेचना में संलग्न रहा और उसमें साहित्यिकता अपेक्षाकृत गौण है। लेकिन विभिन्न छन्दों का प्रयोग, भाषा की स्पष्टता और बहुभाषा ज्ञान यह भी सिद्ध करता है कि आप में साहित्यिक प्रतिभा भी थी। 'मनीषा-लक्ष-चन्द्रिका' आपके सृजन-कौशल का अद्‌भुत् उदाहरण है।

आपकी रचनाओं को दो स्तरों पर विभक्त किया जा सकता है, प्रथमतः वे ग्रंथ जो मौलिक रूप में आपने प्रस्तुत किये, जिनमें मोक्ष-भवन, मनीषा-लक्ष-चन्द्रिका, योगांग-शतक, गुमान-पदावली, राम-रत्नमाला, लय योग-बत्तीसी और अद्वैत-बावनी है और द्वितीय स्तर पर वे ग्रंथ-जो टीका एवं अनुवाद स्तर पर हैं, जिनमें योग-शास्त्र-पातंजल सुबोधिनी

भाषा-टीका, श्रीराम गीता, पंचरत्न प्रश्नोत्तर-मालिका, भगवद् गीता, अमृत-रत्नसार जीवन मुक्तिदायिनी टीका है। अनूदित ग्रंथों में जनशिक्षण का उद्देश्य अपेक्षाकृत व्यापक-स्तर पर दृष्टिगत होता है।

आपकी रचनाओं का कालक्रम या रचनाक्रम क्या रहा? कहना कठिन है; क्योंकि रचनाओं में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है, अतः जब-जब भी ये ग्रंथ प्रकाशित हुए, उसी क्रम में, इनके रचनाकाल को स्वीकार कर लेना चाहिये। मौलिक रचनाओं में दो ग्रंथ आपके परम्धाम प्रयाण के पश्चात् प्रकाशित हुए और दो में प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं है, वहीं अनूदित ग्रंथ भी आपके जीवन काल में ही प्रकाशित हुए हैं।

आपकी इन रचनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

मोक्ष-भवन : इसका प्रकाशन वि.सं. 1937 में हुआ। इसमें योग के माध्यम से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया गया है। यही कारण है कि इसे 'मोक्ष-भवन' का नाम दिया गया है। मोक्ष-भवन का परिचय देते समय रचनाकार ने स्वयं लिखा है :

भक्ति और या योग में, नवखण्ड किये निधान।
द्वै भक्ति पंचयोग में मन अरू स्तुती पिछान॥12॥

यातै ही यह ग्रंथ को, दीनों नाम दुरस्स।
मोक्ष भवन आनन्द पद, रहहु मत्त पुरस्स॥14॥

अपने जीवन को पार लगाने की प्रार्थना भी गुमानसिंह करते हैं, जहां अन्य सन्तों के जीवन का उदाहरण भी देते हैं :-

रामानन्द दादुराय' रामचरण रामदास।
केतै संत तारै पार आवै नह सेत तै॥

इस ग्रंथ में वार्तालाप शैली एवं प्रश्नोत्तर शैली को अपनाया गया है। इसमें ब्रह्म, कर्म, वृत्तियों, गुणों, इन्द्रियों आदि का व्यापक विश्लेषण किया गया है। 'मोक्ष-भवन' में छन्द योजना एवं विशिष्ट शैली इस भक्त कवि के काव्य शास्त्रीय ज्ञान का बोध कराती है।

मनीषा-लक्ष-चन्द्रिका : ग्रंथ के प्रारंभ में ही लिखा गया है कि इसमें नायिका भेद के आधार पर बुद्धि के लक्षणों को प्रस्तुत किया गया है :-

मेधा गुन निज रमन महं, यह मन धर्यौ उमंग।
लक्षय मनिषा चन्द्रिका, यू थपि नाम उतंग॥

नायिका-भेद को उल्लेखित करता कवि लिखता है :-

प्रथम नारि व्है पद्मिनी, दूजी चित्रिनि होय।
तृतीय शंखनी कहत कवि, फेर हस्तनी जोय॥

पद्मिनीनारी की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे बुद्धि का लक्षण स्पष्ट करते हैं :-

यहै बुद्धि में होत जो, सकल सरस रसलीन।
यथा योग्य गुन सों भरी, वह पद्मिनी कह दीन॥26/112॥

इसीरूप में बुद्धि जो सत, तम और रंजो गुणी है, उसका वर्णन करते लिखा गया है :-

सत रज तम ये तीन गुन, मति बिच एक प्रधान।
सत, स्वकीया, रज परकीया, तम गनिका करि मान॥39/114॥

इसके आगे विस्तृत विवेचन करते हुए 13 प्रकार के शीलों का वर्णन किया गया हैं। कुलटा नायिका का वर्णन भी किया गया है और नायिकाओं के पश्चात् नायक का भी वर्णन किया हैं :-

कहु नायक अहंकार को, मोर मति अनुसार।
पति, उपपति, वैशिक विदित, बुधिवर लेहु विचार॥285/158॥

नायक-वर्णन में अनुकूल, दक्षण, धृष्ट, शठ, उपपति और वैशिक नायक का वर्णन किया गया है।

योगांग-शतक : इसमें अष्टांग योग का वर्णन किया गया है। शारीरिक योग की विभिन्न मुद्राओं को भी इन दोहों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कवि का यहाँ अभिप्राय भक्तों को मोक्ष प्राप्ति हेतु योग का मार्ग बतलाने का रहा है। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है :-

जे नर लख्यो न योग को, अवर मत्त चित्त लाय।
भ्रमे चौराशी के महीं, ज्यों जल समुद्र न पाय॥38॥

अलख नगर की राह को, योग मार्ग शुध जानं।
अवर पंथ ते नां मिलै, पूरण ब्रह्म प्रमान॥39॥

कवि की पूर्ण यौगिक शब्दावली का उदाहरण द्रष्टव्य है :-

इड़ा पिंगला सुखमना, है ये त्री परधांन।
ये तीनों ह्वै एखटी, होय दुःख की हांन॥191॥

अद्वैत बावनी : इस कृति में आत्मा और परमात्मा के भिन्न-भिन्न भाव को एकाकार स्वरूप के स्वीकरण पर जोर दिया गया है।

इस ग्रंथ के प्रतिलिपिकार जो गुमानसिंह के पौत्र रहे हैं, उन्होंने यहाँ उल्लेख किया है कि जब गुरु गुमान को आत्मसाक्षात्कार हो गया था, तब इस ग्रंथ की रचना की गई है। उसी प्रौढ़ता एवं विषय-गांभीर्य की छाप हमें इस ग्रंथ में मिलती है:-

असी धार मन मरड़वे द्वैत चमूंकर चूर,
अंस जगारी हार ने जीत चढ़ायो नूर,
नूर हद चाड़ियो अहं मे एक ही,
नहीं मो ऊपरा भूपको से कही,
राव ओ रंक सह मोर कर आसरे,
असी हूं एक ही और नां पास रै॥16॥

श्री गुमान-पदावली : लौकिकशैली को आधार बनाकर पदों के रूप में ठाकुर गुमानसिंह ने अपनी भावनाओं को प्रस्तुत किया है, बात तो यहाँ भी योग और दर्शन की ही है, लेकिन अपेक्षाकृत सरल रूप में और उदाहरणों के द्वारा, बात को समझाने का प्रयास किया गया है। लोक में इस रचना को व्यापक प्रसिद्धि मिली और आज भी सत्संगों में इन पदों को गाया जाता है :-

मायलड़ो मोती रै बींध्यौ।
मैं मायलड़ो मोती पोयो, मैं घण मोलो मोती।
अण बींध्यो को काम को, है वो पथर समांन।
बींध्यो मूंघा मोल रौ, जाणै संत सुजान।
बींध्यो मैं मायलड़ो मोती॥

यौगिक शब्दावली का प्रयोग तो यहाँ भी व्यापक रूप में हुआ है :-

गगन में अनहद शोर छई।
अनहद शोर छई, गगन में अनहद शोर छई।
मधुर-मधुर मुरली धुन सुनके, सुध बुध भूल गई॥

होरी-शैली की कई रचनाएँ भी इस ग्रंथ में सम्मिलित हैं।

राम-रत्नमाला : राम नाम स्मरण पर जोर देते सहज रूप में यौगिक प्रक्रियाओं को दोहारूप में समझाने का प्रयास किया गया है। योग के अभाव में राम नहीं मिलता। इस तथ्य को अधिक सरल रूप में प्रकट किया गया है :

हृद मंदिर में राम है, गुमन योग तैं पाय।
जैसे तिलक लिलाट में, दर्पण बिन न दिखाय॥13॥

गुमना रामहि पूज रे, सुरता पुष्प चढ़ाय।
चित चन्दन मन धूप कर, अहंता भोग लगाय॥15॥

सर्वसाधारण को शिक्षा के कुछ सूत्र आपने प्रस्तुत किये हैं :-

मैं मेरो मत कर गुमन, तेरौ कछु अन तार।
मैं मैं कर नित मर जनम, रामहि हृदय निहार॥30॥

जब लग गुमना वासना, तब लग मिलै न राम।
जगत् विषय तजु शास्त्र की, तज दे वास तमाम॥

राम-नाम-स्मरण से पुनः जन्म की संभावना नहीं रहती, मोक्ष मिल जाता है:-

माला फेर गुमान ये, मन में राम समाय।
मातु पयोधर पान की, आश रहे नह काय॥

लय-योग-बत्तीसी : लय योग को कुंडलियों के माध्यम से इस कृति में व्याख्यायित किया गया है, जिसका उल्लेख वे स्वयं, प्रारंभ में करते हैं :-

दोहा : *तन मन धन गुरु चरन धरि, करि कै कोटि प्रनाम।*
जिन दीन्हो लय योग यह, वरनो ताहि ललाम॥

कुंडलियां

सब मतन को शिर मुकट, ज्ञान योग को जान।

अब तुर रो लय योग को, है सो सुनहु गुमान।
है सो सुनहु गुमान, अगम बहु सुगम सयाना।
जिन जानी यह सैन, सुफल फल योग प्रमाना।
गुरु गम तारक समज कैं, करो निरंतर वास।
मन मिलि जैहै ब्रह्म में, लय हो जैहै स्वास॥1॥

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि ठाकुर गुमानसिंह के इष्ट, राधा और कृष्ण का मिश्रित स्वरूप है, जिसे, क्रमशः अर्द्धांग-स्वरूप में स्वीकार किया गया है। जो सगुण उपासना का द्योतक है। आपकी रचनाऐं योग-साधनाप्रधान हैं, जिसमें योग के विभिन्न अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि की अवस्थाओं का वर्णन है और उसी के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। कहीं-कहीं तो इनकी रचनाओं के प्रसंगों को तो वे ही समझ पाते हैं, जो यौगिक क्रियाओं को जानते हैं अथवा जो अनुभवी सिद्ध हैं। सर्वसाधारण के लिए उस शब्दावली को समझ पाना कठिन हो जाता है।

इतना होते हुए भी आपका व्यक्तित्व और कृतित्व जनसामान्य से कटकर नहीं रहा। आप लोक से जुड़े। इसके कारण का अनुसंधान करें तो ज्ञात होगा कि आपके काव्य और भक्ति साधना में संत-शैली की विशेषताऐं भी दृष्टिगत होती हैं। संत-शैली के तत्त्वों ने आपको संतों की श्रेणी में ला खड़ा कर दिया है। उस रूप में आपको संत-कवि भी कहा जा सकता है।

संतों के काव्यों में हमें विषय-वासनाओं के त्याग, राम-नाम की महत्ता, सद्जीवन पर बल, बाह्याडम्बरों का विरोध, गुरु की महत्ता-सगुण-निर्गुण में एकत्व, अद्वैत की स्थापना, भेदभाव का विरोध, हरि-स्मरण पर बल आदि विशिष्टताऐं दृष्टिगोचर होती हैं। सूक्ष्म रूप में देखें तो ये समस्त विशेषताऐं हमें ठाकुर गुमानसिंह के काव्य में दिखाई देती हैं। कहीं-कहीं नीतिगत-सौन्दर्य भी परिलक्षित होने लगता है, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो आपसे ही नीति का पाठ पढ़ कर महाराजा चतुरसिंह नीति के दोहों का सृजन कर सके।

योगांग-शतक, गुमान-पदावली, राम-रत्नमाला, अद्वैत-बावनी आदि रचनाओं में इस प्रकार के सूत्र हमें दिखाई देते हैं, जिनके उदाहरण दृष्टव्य हैं :-

सगुण-निर्गुण में एकत्व :

दोय भेद है ध्यान में, निरगुण सुरगुण मांन।
ऐकहि सुरगुण दोय विध, थूल रू सूक्षम जांन।

(योगांग-शतक : 228)

निरंतर नाम-स्मरण पर बल :

सूतां राम सम्भार रे, बैठा राम विचार।
ऊभां गुमना राम रट, चलत हि राम चितार॥

(राम-रतनमाला : 42)

बाह्य-आडम्बर का विरोध :

नहिं तीरथ वृत तप करन, नहिं जाग जपदान।
कलेश विधि वह कुछ नहीं, नाहट करम विधान।
नाहट करम विधान, सिरफ मन ही को पकरो।
तार ब्रह्म के माह, दहर मन ही में जकरो॥

(लय-योग-बतीसी : 28)

सत्संग पर जोर :

सतसंगत हो धर्म तें, देवे पाप कुसंग।
धर्म वीर वह तरन कों, कबहु न करवै भंग॥

(योगांग-शतक : 444)

सद्जीवन की सीख :

जो तूं चाहे परम् पद, जो चाहे सो भाग।
दया राख आशा न कर, नीच संग परित्याग॥442॥

झूठ कपट मद आदि दै, कहै तजो सहमत्त।
गहो दया आदिक धरम, लहो नाम हरि कत्थ॥449॥

एकेश्वरवाद पर बल :

वो ही राम रहीम है, वो ही है अरिहंत।
वो ही वेद कुरान कह, अलख बतावै संत॥435॥

मनुष्य को सदैव तीन बातों को याद रखने पर जोर देते, योगीवर्य लिखते हैं :-

भूले मत त्री वात को, प्रथम मृत्यु रख याद।
दुतिया जग शोभा बने, त्रतिया समरण साद॥

अपने भौतिकजीवन के कर्त्तव्यों का निर्वहन करता यह संत-कवि, आध्यात्मिक जगत् का अनमोल व्यक्तित्व बन गया, जिसने योग-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। उसने अपनी साधना को स्व:-तक ही सीमित न रखा बल्कि उसे पर: तक पहुंचाने का प्रयास भी किया, इस सद्प्रयास में काव्य प्रतिभा उसकी सहायिका बनी, जिसने अन्य भक्तजनों एवं सुधीजनों के समक्ष यह प्रकल्प प्रस्तुत किया। इस संत की भौतिक देह फाल्गुन सुदी अष्टमी वि.सं. 1971 को पंचतत्त्व में विलीन हुई, लेकिन उनकी ज्ञान-आत्मा अद्यतन भारतीयदर्शन को आलोकित कर रही है।

हिन्दी-राजस्थानी विभाग
इंस्टी. ऑफ राजस्थान स्टडीज
(साहित्य संस्थान) राज. विद्यापीठ
उदयपुर-313009

❑❑

लोक देवता रामदेवजी तथा श्री जटगाजी और ढ़ालोप के मेला-महोत्सव

— रतनलाल कामड़ 'सिद्धार्थ'

परिचय :

'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या।' (अथर्ववेद) इस पतित-पावन उर्वरा धरती पर, जब-जब मानव ने अपने कर्त्तव्य को-अपने धर्म को भुला दिया,[1] तब किसी अलौकिक शक्ति ने अवतरित होकर उसका उद्धार व पुनर्जागरण का सत्कर्म किया हैं। जब रक्षक ही भक्षक बन कर, अनाचार-अत्याचार करने लगता है, तब सर्वत्र अराजकता का निन्दनीय वातावरण परिव्याप्त होकर जनता त्राहि-त्राहि कर दु:खी हो जाती है, तब कोई योद्धा, वीर या महावीर उसके परित्राण व सर्वमङ्गल के लिये आगे आता है। जन-सामान्य ऐसे अपने परित्राता (रखवाले) को अपना परम देवता मानकर अपनी पूजा व अर्चना करता है। राजस्थान की वीर-प्रसूता धरती पर गत हजारों वर्षों से ऐसी ही अराजकता की स्थिति रही है, जनता-जनार्दन सामन्ती जुल्मों से त्रस्त हो कर रोती-बिलखती रही हैं। विदेशी आक्रमणों से, कई वर्षों से सतत् संघर्ष करती रही है और उनकी रक्षा के लिए वीर अवतरित होते रहे हैं। राजस्थान में ऐसे ही पाँच वीर या महावीर-पाबू, हरबू, रामदेव,[2] मेहा मांगलिया और गोगा, मङ्गलकारी सिद्ध हुए हैं :

हरबू पाबू रामदे मांगलिया मेहा।
पांचो पीर पधारिया, गोगा नर जेहा॥

जिनकी लोक-कल्याणकारी सेवाओं को जनता आज तक याद करती है, आगे भी सदैव स्मरण करती रहेगी। जनता ने उन्हें हृदय-कमल में स्थान दिया है। राजनैतिक-उत्पीड़न और आयुध-जीवियों के अनाचारों से ही उपरोक्त पाँच महावीरों ने मुक्ति नहीं दिलाई, अपितु देश में परिव्याप्त अज्ञानांधकार को भी दूर कर ज्ञान का सत्प्रकाश फैलाने

का उन्होंने सफलतापूर्वक प्रयोग किया था। इसलिए उन्हीं रखवाले वीरों को जनता ने 'पीर' (धर्मगुरु, मुर्शिद, सिद्धयोगी) के रूप में गुरुत्तर मान्यता भी प्रदान की है। उनकी जन्म-स्थलियों, कर्मभूमियों व अन्यान्य स्थलों पर सैकड़ों वर्षों से मेला-उत्सव मनाये जाते रहे हैं।

उक्त पीरों में से रामदेवजी पीर की ख्याति, सर्वाधिक परिव्याप्त है। राजस्थान ही नहीं, अन्य राज्यों-गुजरात, मध्यप्रदेश और उत्तर-प्रदेश आदि राज्यों में, दूर-दूर तक उनकी मान्यता है। प्रति वर्ष रामदेवरा (रुणिचा) में भरने वाले राष्ट्रीय महत्त्व के मेले में गुजरात, मालवा और महाराष्ट्र तक के विभिन्न धर्मावलम्बियों, कौमों, बहुभाषाविदों, सभी वर्गों के यात्रियों का आगमन इसके ठोस प्रमाण है।

श्री रामदेव जी के जीवन और उनके द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों से संबंधित हजारों वाणियाँ व लोकगीतों की माणिक्य-माला, भक्त-समाज के कंठ पर सुशोभित है। उनके द्वारा रचित व उनके भक्त-कवियों के द्वारा रचित सत्साहित्य में से कुछ तो प्रकाशित हैं, किन्तु, अधिकांश आज भी मौलिक रूप से ही प्रचलित हैं। उनके द्वारा रचित साहित्य में समसपीर के यशोदानस्वरूप वाणियाँ व 24 प्रमाण, साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके समाधिस्थ होने के साथ ही भक्तों ने उनकी कीर्ति को प्रसारित करने के लिए पर्याप्त साहित्य की रचना प्रारम्भ कर दी, जिसका क्रम आज भी गतिशील है, किन्तु भारी खेद का विषय यह है कि श्री रामदेवजी-संबंधी वैज्ञानिक साहित्य, समालोचना व मौखिक साहित्य के लिपिबद्ध करने का अभी तक राष्ट्रीय स्तर पर प्रामाणिक कार्य नहीं हुआ है, जिसके लिए चोटी के विद्वानों या राष्ट्रीय विद्वत्समाज, इस परम्परा के पीर, पीराणा, पण्डित, आचार्यादि स्वयं पूर्णतया अपनी गुरुत्तर जिम्मेदारी से कतई मुकर नहीं सकते हैं। इस साहित्य-साधना के शाश्वत कार्य को, स्वयं इस धर्म के पीरों को आगे होकर श्री गणेश करना चाहिए था, किन्तु अभी तक ऐसा क्रम शायद किसी अन्य पीरजी ने (राष्ट्रीय स्तर पर) शुरू किया हो? मुझे तो व्यापक भ्रमण के बाद भी ध्यान में नहीं आया है। संबंधित धर्मवालेसमाज, जागरूक नागरिक, समाज-सुधारक व समाज के नेतागण-यदि निष्पक्षता से इस धर्म की गादियों पर पीरों, पीराणां, पण्डितों, आचार्यों व धर्मगुरुओं की नियुक्तियाँ करनी चाहिए थी? ताकि धर्मगद्दियाँ व संबंधित समाज अपने सत्त्कर्म की कार्यवाही कर सकें। वरना, भावी पीढ़ी के सैकड़ों प्रश्नों का उत्तर राष्ट्र व समाज कदापि नहीं दे सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसे गंभीरता से लेना होगा। प्रभु हमें सद्बुद्धि, चेतना समर्थता दे।

श्री रामदेवजी का आविर्भाव :

बाबा रामदेवजी के विषय में जन-प्रचलित-लोक-कथाओं एवं उनसे संबंधित लोक-काव्य में उनका जन्म-स्थान-रूणेचा के पास पोकरण बताया गया है। द्वारकाधीश से सुपुत्ररत्न की प्राप्ति का वरदान लेकर अजमालजी पोकरण आये[3] और यहीं पर पश्चिमाधीश रामदेवजी का अवतरण हुआ।

दिल्ली के चन्द्रवंशीय तपधारी तंवरों की वंश-परम्परा में कुन्ती पुत्र अर्जुन की 72वीं पीढ़ी में श्री रामदेवजी महाराज अवतरित हुए हैं।[4] उनके आविर्भाव को लेकर भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। किन्तु भट्टग्रंथों एवं स्वयं रामदेव जी ने उनके 'भाव-प्रमाण' के दशवें पद में अपना अवतार चैत्र सुदी-पंचमी विक्रमी संवत् 1409 में बताया है :-

संवत चतुर्दश साल नव में, श्री भुज आप जगायो।
भणै रामदे चैत सुद पांचू, अजमल घर मैं आयो।।[5]

आपके पिता का नाम अजमाल जी[5] और माताश्री का नाम मेनादे था। आपकी धर्मपत्नी अमरकोट के परमार क्षत्रियों के अन्तर्गत सोढ़ा वंश की थी। उनका नाम नैतल था। आपके सात पुत्र-रत्न कहे जाते हैं, उनके नाम इस प्रकार है : सादोजी, देवराज, गरराज, महराज, भीवोजी, बांकोजी व जेतीजी।

रामदेव जी को भक्त-समुदाय ने विष्णु का षोडश[6] कलाओं से परिपूर्ण अवतार माना है और उनके चरण चिन्ह से अंकित शिला[7] (पगल्याँ) की पूजा-अर्चना भी प्रारम्भ की है। राजस्थान का पश्चिमी भू-भाग उनकी जन्मभूमि व कर्म की लीलाभूमि रही है। इसलिए श्रद्धालु उन्हें पश्चिमाधीश,[8] पश्चिमधणी, पश्चिम का स्वामी, पश्चिम नो पातशाह, पश्चिम का पीर, पीरों का पीर, पश्चिम का सुल्तान आदि उपाधियों से सदैव स्मरण करते रहे हैं। उनके पूजा-साहित्य में विशेषणों का सम्पुट् होने से कालान्तर में भक्तों ने, उन्हें जंबूदीप का धणी, हंसावतार, दीपावतार, कलकी नारायण, अलख,[9] सांवलिया सरदार, कोडीलख कामड़ योगियों का आराधक, लखचौरासी, जीवाजूंण रा धणी, श्यामजी, निष्कलंग अवतार, नैतल[10] का भरतार आदि सैकड़ों लाक्षणिक विशेषताओं से उन्हें विभूषित किया है।

इस प्रकार श्री रामदेवजी का विराट् व्यक्तित्व व कृतित्व व देन शाश्वत है। उनके विराट अवदान के कारण आज भी जनता-जनार्दन, उन्हें विस्मृत नहीं कर सकी है और

भावी संत, भक्त व पीरों की फसल के लिए व स्वयं उर्वराभूमि व कुशल चैतन्यपुरुष की अमरचेतना से सदैव आलोकित करते ही रहेंगे। पाठक-जगत की भावना को देखेते हुए कोई पीर जी, उनके सभी कार्यों व दर्शन को उद्घाटित कर, प्रसारित करने का साहस जुटावेगा?

पश्चिमाधीश उपाधि :

श्री रामदेवज़ी की जन्मस्थली और लीला-भूमि राजस्थान का पश्चिमी भू-भाग रहा है, जो देश के पश्चिमी भू-भाग में होने की एक भौगोलिक-ऐतिहासिक उपाधि है। इनकी पश्चिम दिशा से संबंधित 7 उपाधियाँ भक्त-समाज में प्रसिद्ध हैं-पश्चिमाधीश, पश्चिमधणी, पश्चिम नो पातशाह, पश्चिम का पीर, पश्चिम सुल्तान आदि। ये उपाधियाँ उन्हें, उन भक्तों ने दी होगी, जो मारवाड़ के पूर्व में रहते थे। मारवाड़ में एक नहीं, अनेक ऐसे महापुरूष हुए हैं, जिन्हें पश्चिमाधीश की उपाधि भक्तों ने दी है। रामदेव जी के जीवन-चरित्रों का पूजा-साहित्य में एक नहीं, अनेक जगहों पर पश्चिम[11] से संबंध स्थापित किया गया है। कुछेक उदाहरण यहां प्रमाणरूप[12] में प्रस्तुत हैं :-

1. *देश देलम, पाट मुरधर, धरा पिछम धाम।*

—अलख प्रमाण

2. *परच्यो दियो पिछम का पीर ....।*

—धाठमाल रूपादे की बेल

3. *संग में चढिया पिछम का पीर ....।*

—वही

4. *पछिम धरा में पीर प्रगट्या, कुल तंवरा के।*

—रामदेव जी का ब्यावला

5. *पश्चिम दिशा में मेलो मंडसी, ...।*

—वही

6. *कंवर अवतार पछिम में लीना ....।*

—वही

7. *पिछम देश मुरधर के मांही, गढ़ रुणीचा धाम।*
8. *पाट पूजे पिछम रा ....।*

—अलख-प्रमाण

9. *पूरे पाट पिछम गति रीति, ...।*

—अभय-प्रमाण

पश्चिमाधीश श्री रामदेवजी महाराज की आधुनिक युग में उपादेयता :

श्री रामदेवजी महाराज, जो पश्चिमाधीश व त्रिकालदर्शी थे, के जीवन दर्शन से हमें कई प्रकार से शाश्वत् प्रेरणा व स्थायी महत्त्व की राष्ट्रीय चेतना का आभास आज भी मिलता है और आगे भी सदैव मिलता रहेगा :

''जब तक गंगा में पानी, नभ में सूरज चांद रहेंगे।
जब तक कंठ-कंठ पर, रामदे तेरी मंगल याद रखेंगे॥''

विदेशी-आक्रान्ताओं से हमारी साँस्कृतिक-धार्मिक-भौतिक एवं मानवीय-सम्पदा की सुरक्षा करना, परोपकार व परमार्थ के कार्य करना-कराना, आध्यात्मिक-व्यक्तित्व व प्रकृतिमय वातावरण या प्रकृति का सपूत हो कर सुदृढ़ समाज का निर्माण कर, उसे जनहित में उपयोग करना, अश्वधन, पशुधन, गौधन की संरक्षा व विकास करना, दुष्टों का दमन व संहार[13] कर, उन्हें सद्मार्ग, प्रदान करना, भक्तों-शूद्रों व महिलाओं, शूद्र-महिलाओं की रक्षा करना व उन्हें उच्चस्थान देना, धार्मिक-सांस्कृतिक शुद्धिकरण व भारतीय धर्म व सँस्कृति में उचित स्थान प्रदान करना, समता, भाईचारा व न्याय को समाज में महत्त्व प्रदान करना आदि। इसी प्रकार उनके पूजा-मंत्र में हिन्दू-मुस्लिम एकता के दिव्य-दर्शन मिलते हैं :-

''ओं नमो स्वेत घोड़ड स्वेत पलाण,
तिणि चढ़ियउ अलख रहिमाण।''

मध्यकालीन साँस्कृतिक-संक्रमण के युग में श्री रामदेवजी महाराज, जो कि दलितों के सच्चे व पूरे मसीहा थे। उन्होंने समाज में दलित व महिलावर्ग को उचित स्थान व महत्ता प्रदान कर, समता का आदर्श पाठ पढ़ाया, जिससे दलित-जातियों को इस्लाम-धर्म स्वीकार करने से, उन्हें बचाकर, हमारी साँस्कृतिक विरासत का पुनः अभिन्न अङ्ग बनाकर, उसे सुसमृद्ध किया। इस्लाम और हिन्दू धर्म में आपसी सामंजस्य के कठिन प्रयास कर, हमें कौमी-एकता, राष्ट्रीय एकता व सर्वधर्म सद्भाव की शाश्वत् प्रेरणा का दर्शन कराया। उन्होंने न केवल भारत को, अपितु संसार को अपनी कर्मभूमि बनाया। वे 'परम-तत्त्व' में भी गहरी व पूर्ण आस्था रखते थे। स्वयं श्री रामदेव जी ने अपने चौबीस प्रमाणों में विविध विषयों की प्रेरणा दी है : गुरु-महत्ता,[14] निज स्वरूप, अलख-स्वरूप,[15] बीजमहत्ता, आगमवचन, भक्ति, ज्ञान व कर्मोपदेश आदि के साथ ही माया के वशीभूत भटकते जीव को, उससे परिमुक्ति दिलवाकर, 'अपने आपको पहिचानने' (Know they self) का सद्मार्ग भी बतलाया है।

पश्चिमाधीश श्री रामदेवजी, जो भगवान् के दूसरे अवतार माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई व जैन आदि सभी धर्मों, सम्प्रदायों व जातियों के लोग उनकी पूजा-अर्चना करते रहते हैं।[16] यहाँ प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. ब्रजमोहन जी जावलिया के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है :-

श्री रामदेवजी महाराज ने ब्राह्मणों के क्लिष्ट-कर्मकाण्ड के तिरस्कार और अभारतीय-धर्म में अश्रद्धा रखते हुए उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक सिद्धान्तों से समन्वित एक नवीन-मत (समन्वयात्मक) के प्रचार-प्रसार का प्रयास भी किया। अलख और अल्ला को एक मानते हुए उन्होंने दोनों मतों में सौहार्द व कौमी एकता की भावना भरने का प्रयास किया।[17] इसी प्रकार उनके निम्न पूजा संबंधी मंत्र साहित्य में भी 'अलख-रहिमाण' विषयक सूचना कौमी दर्शन का पाठ प्रस्तुत करती है :-

ओं नमो स्वेत, घोड़ऽ स्वेत पलाण।[18]
तिणि चढ़ियउ, अलख रहिमाण॥

श्री रामदेवजी महाराज के समग्र साहित्य, लोक-साहित्य व उनके विराट् जीवन-दर्शन से, हमें मानवतावादी धर्म, साम्प्रदायिक व कौमी एकता, राष्ट्रीय एकता, विश्व-शान्ति, लोकजीवन की महत्ता, सभी धर्मों के प्रति सम्मादर भाव की भावना व समन्वय की भावना, संतों, भक्तों, धार्मिक महापुरूषों व पीरों के प्रति श्रद्धादि की पावन भावना, सत्य, अहिंसा व कर्मयोग की संबलता व धर्म के दश लक्षणों[19] का समर्थन व मानववादी अर्थवत्ता के सूत्रदर्शन की शाश्वत् प्रेरणा भी मिलती है, जिससे लोक रंजना व मङ्गल का मार्ग प्रशस्त हो सके?

यही, नहीं उनका शाश्वत-जीवन हमें पर्यावरण-चेतना, सुरक्षा व प्रेम, कला-संगीत, लोक-जीवनोपयोगी लोक-भाषा व साँस्कृतिक साधना, आध्यात्मिक एवं कर्म-भक्ति, उपासना को महत्ता व प्रेम, क्षत्रियोचित धर्मनीति, आचार-दर्शन व युद्ध-प्रेम, राष्ट्रीय निर्माण का चिन्तन व अन्तर्राष्ट्रीय-सद्भाव का चिन्तन व सर्वमङ्गल की उदात्त कामना प्रवृति-विराट् तत्त्वदर्शन आज भी उनकी प्रासङ्गिकता व उपादेयता को सिद्ध करता है। उनका अमर दाक्षिण्य व सत्पथप्रेम, लोक में सदैव स्मरणीय रहेगा।

स्वयं श्री रामदेवजी का दुष्टों के दमनकर्ता एवं भक्तों-संतों के त्राणदाता होना, न केवल हमारे राष्ट्रीय गौरव के लिए उपयोगी है, अपितु पूरे विश्व के सर्वाङ्गीण-कल्याण एवं गौरव-गान का शाश्वत व बेजोड़ प्रतिबिम्ब भी है, ऐसी उर्वरतापूर्ण उदात्त-भावनाओं की आज विशेषतौर पर प्रासङ्गिकता है। सत्ता और समाज में उत्पन्न अंत:

बाह्य-दुराचारों व पक्षपातों का विरोध करना, अनाचारियों का संहार कर, धार्मिक-साँस्कृतिक विरासत की रखवाली करना, उनकी व्यक्तिगत लाक्षणिक विशेषता रही है।

'कालीगड़े' के संहार से संबंधित दो पंक्तियों का प्रमाण पुनः देखिये :-

शीश कालिंगा रो काटसी, नानो दड़ियो रमेला।
कालिगड़ों मार सत्-असत् दिखासी॥

श्री रामदेवजी स्वयं दुष्चरित्रों के स्थान पर मानवीय-प्रेम व सद्भाव का, समादर का पाठ पढ़ाते हैं। उनके एक हाथ में 'शस्त्र' और दूसरे हाथ में 'वीणा' है, अर्थात् उनके साथ शक्ति व सरस्वती दोनों साथ-साथ रहती है। इसलिए उनकी वीरोचित कार्यवाही आदि के कारण मेवाड़ के तत्कालीन यशस्वी महाराणा कुंभा ने भी उनकी इस प्रकार संस्तुति की :-

1. यहाँ श्री लिखमा जी माली कृत ऋषि-प्रमाण में निम्नलिखित उल्लेख इसका ठोस साक्षी है :-

कुंभलगढ़ राणो कुंभो जी होता,
रिख नराण पांचा की लाग्या लार।
जमा जमाया धणियां नै ध्याया,
सत रिख भक्ति उतरया पार॥

2. 'वुदर' रचित पश्चिमाधीश रौ छन्द में पद सं. 6 की प्रथम पंक्ति में महाराणा कुंभा के द्वारा श्री रामदेव जी की सेवा-भक्ति करने का प्रमाण इस प्रकार मिलता है :-

"कीधी सेवा रांणै कुंभे, आगै ने करि जोड़ै उभै।"

3. पुनश्च यह कथन अर्थात् महाराणा कुंभा के द्वारा श्री रामदेव जी की सेवा-प्रसंङ्गालोक में उनके कलकी-अवतार का जिक्र आबू में ही कुंथुनाथजी जैन-मन्दिर में सं. 1566 के मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को प्रतिस्थापित कोई कसारा नासल के द्वारा निर्मित 'कलकी अवतार' के भक्त राना पन्ना देव की धातु गात (प्रतिमा) प्रतिष्ठापित है, जिसे घोड़े पर आरुढ़ सैनिकभेष में बताया गया है। इस प्रतिमा पर निम्न विशिष्ट लेख को उत्त्कीर्ण किया गया है :-

"सं. 1566 वर्षे मीगसर सुद 15 मेदपाट देसे कुंभलमेर महादुर्गे श्री राणा जी कुंभकरण राज्य कलकी अवतार रचा पुत्र धर्मराज दत्त रामा चौमुखजी नो पुजणेहारा पना देवनी गात बाल टा रा स टं. 700 वा.। वह हुंता कसारा नासल प. ....।"

यहाँ यह प्रतीत होता है कि यह प्रतिभा श्री रामदेव जी महाराज की है, जिन्हें कुंभाकालीन युग में 'कलकी का अवतार' के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। महाराणा कुंभा का काल सं. 1490-1525 रहा है। अतः ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस मूर्ति में उत्त्कीर्ण मूल संवत् को बदला गया है।

ज्ञातव्य है कि महाराणा कुंभा के द्वारा श्री रामदेव जी की सेवा का एक कारण यह भी हो सकता है कि मेवाड़ के पश्चिमी भाग में उस काल में श्री रामदेव जी के काल का पर्याप्त प्रभाव व्याप्त हो चुका था। बाह्य-आक्रमणों से प्रदेश की सुरक्षा के लिए स्थानीय जनता के सहयोग की अपेक्षा होती है। एतदर्थ महाराणा कुंभा ने भी (अन्य शासकों की तरह) गुजरात की ओर से हो रहे आक्रमणों के प्रतिरोध हेतु श्री रामदेवजी की सेवा व सहयोग लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। गुजरात साह कुतुबुद्दीन ने अकेले भी और मालव सैन्य के साथ भी सं. 1513 से 1515 तक लगातार मेवाड़ और मारवाड़ पर आक्रमण किए थे। श्री रामदेवजी ने अवश्य ही इन आक्रमणों को विफल करने में महाराणा कुंभा को पूर्ण सहयोग दिया था, इसमें कोई संदेह कदापि नहीं हो सकता है।

साथ ही निम्न छंद में भी श्री रामदेवजी के द्वारा कालीगड़ों के मारे जाने का उल्लेख भी विषय को और अधिक स्पष्ट करता है :-

शीश कालिंगा रो काटसी, बाबो दड़ियो रमेला।
कालिगड़ो मार सत् असत् दिखासी,
नर निकलंक इसी विध आसी॥
सभा लोख दल नेजा हलसी॥
सती शूरा लड़े संमुख, कालिंगा सिर होण॥

सामयिक सन्दर्भ में उनकी उपादेयता पर यदि हम दृष्टिपात करें तो वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन-दर्शन में जिन-जिन मूल्यों का परिसर्जन हुआ है, उसके मार्गदर्शक स्वयं बाबा श्री रामदेवजी महाराज जैसे महान् आत्मा, परमाराध्य सता, कर्मयोगी सतगुरुं, लोक के द्युतिमान् देव ही हो सकते हैं, जैसे राष्ट्रीय प्रेम, साँस्कृतिक-आध्यात्मिक विकास

व प्रेम, कौमी एकता, सर्वधर्म-सद्भावना, अहिंसा, भाईचारा, नारी व दलित जागरण व कल्याण, लोकचेतना, मानववादी-विचारधारा व मानवीय प्रेम, राष्ट्रीय व विश्व-पर्यावरण चेतना की सुरक्षा व प्रेम, लौकिक-पारलौकिक मूल्यों में सांमजस्य, साँस्कृतिक चेतना-मूलक जागरण आदि उनकी विराट् व स्थायी मूल्य-सम्पदा (अनमोल मुक्तामणी) ही होगी। ऐसे अद्वितीय महान् चैतन्य सता, सतगुरुओं, संतों व सुधारकों की आज ने केवल भारतवर्ष अपितु समग्र विश्व को आवश्यकता है, ताकि वर्तमान् प्रदूषित राष्ट्र[20] व विश्व जगत अपनी अनेकानेक समस्याओं से परिमुक्त होकर, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के उच्चादर्श के साथ 'जीओ और जीनो दो' के मूलमंत्र का रहस्यानन्द प्राप्त करके 'सर्वे भवन्तु सुखिन्' व 'वसुधैवकुटुम्बकम्' कथनों को पुनः चरितार्थ कर सके। .

श्री जटगाजी और ढ़ालोप में श्री रामदेवजी महाराज का प्रसिद्ध मेला-महोत्सव :

पश्चिमाधीश श्री रामदेवजी[22] महाराज की धर्म, सँस्कृति व भक्त-समुदाय से संबंधित प्रसिद्ध मेला-उत्सव-रूणेचा के अलावा राजस्थान-मेवाड़ प्रान्त एवं भारत-भूमि के विविध अञ्चलों में कई मेला-महोत्सव सदैव भरते आये हैं। यथा; मसूरीया, बंराटिया, जूंजाला, बिचूण, ददू, नरैना, श्री रामदेव जी का चन्दोरिया, श्री अलख का खेड़ा (चित्तौड़गढ़) एवं श्री जटगाजी (मेवाड़) में प्रसिद्ध मेले भरते हैं। ढ़ालोप गाँव, जिला पाली (राज.) में प्रसिद्ध मेला फरवरी, 1988 से निरन्तर भरता आया है। यहाँ हम पाठक-समुदाय का ध्यान आकर्षित कर श्री जटगा जी और ढ़ालोप के प्रसिद्ध मेला महोत्सव पर संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा :-

श्री जटगाजी का प्रसिद्ध मेला :

अरावली की उपत्यकाओं व हरितमायुक्त पर्यावरण में मेवाड़-प्रान्त में श्री जटगाजी मेघभक्त की स्मृति में 'जटगा' नामक पहाड़ी पर शिवरात्रि के साँस्कृतिक पर्व पर प्रसिद्ध मेला भरता आया है। श्री जरगाजी का स्थान उदयपुर से कुंभलगढ़ के मार्ग पर मचीन्द के पास एक पहाड़ी का नाम है, जो राजस्थान में गुरुशिखर, कुंभलगढ़ के बाद सर्वाधिक ऊँची पहाड़ी है, जो तीखरे स्थान (ऊँचाई में) पर मानी जाती है। आज भी इस विचित्र किस्म के अद्वितीय मेले[22] की बड़ी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई है। मेले में श्री रामदेवजी, श्री जटगाजी की पूजा-अर्चना, भजन-कीर्तन व जम्भा जागरण व पर्चे होते हैं। यह सुविख्यात धारणा व प्रसिद्धि है कि मध्यकालीन युग में श्री जटगाजी नामक मेघ-ऋषि, जो श्री रामदेवजी का सच्चा व पहुँचा हुआ भक्त-शिरोमणि था और श्री

रामसापीरजी अपना चमत्कारी हवेर (अश्व-घोड़ा) उसे थमाकर अदृश्य हो गये थे। बारह वर्ष के बाद जब पीरजी पुनः प्रकट हुए तब तक श्री जटगाजी भक्त उनकी प्रतीक्षा करता हुआ, सूखकर, कंकाल-सदृश्य हो गया था। यह भी बताते हैं कि उक्त 12 वर्षीय अवधि स्वयंभू भक्त महिला हेमीबाई बगाणा गोत्र (श्री जटगाजी की धर्मपत्नी) ने उनकी फल-फूलादि से सेवा-चाकरी की, किन्तु कोई ठोस आधार नहीं मिला है।

श्री रामदेवजी ने अपने प्रिय भक्त श्री जटगा जी को पुनः जीवित किया और तभी से उस स्थान पर, श्री रामदेवजी के समय से ही[23] (जटगा पहाड़ी) प्रसिद्ध मेला व चर्चित मेला भरता है, जो आज भी दिनों-दिन चरम यौवन पर है। जिसमें सभी जातियों, समुदायों व विविध धर्मावलम्बी, बिना किसी भेदभाव किए एवं छूआछूत का ध्यान रखे बिना ही भारी समूह में एकत्र हो कर (संभवतः महाशिवरात्रि पर्व पर) महोत्सव मनाते हैं, जो आज यथावत् पूर्व सांस्कृतिक स्वरूप में प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन मेवाड़-प्रान्त में, इस अवसर पर सभी वर्णों के सभी पुरूषों का एक साथ बैठकर भोजन करने की प्रथा रही होगी। मेवाड़ व मारवाड़ के योगियों व नाथ योगीराज श्री बालीनाथजी और उनके प्रसिद्ध शिष्य बाबा रामदेवजी के दलितोद्धार के आन्दोलन का ही प्रचार व प्रभाव मालूम पड़ता है। विदुर कवि विरचित छन्दांश से भी यह तथ्य प्रमाणित हो ही जाता है :-

1. *जाइय जंबूदीप जट गई, ध्याईय पछिम धणी,*
   हंसराज घोड़ों जीण जोड़ों, चौकड़े दीधई चटई।
   सेवग तीरह, जात भीरह, सह वीनती करई॥

2. *लोक दुनी सोह पाए लागै, भेट हुवां दुष दारिद्र भागै।*
   मेदपाट सिवरत का मेला, भोजन करे, बेस सर्व भेला॥

3. *भेला रमै बहन नै भाई, निसा अलष गति लषी न जाई।*[24]

यही नहीं श्री अगरचन्दजी नाहटा (बीकानेर) के साधुवाद से प्रकाशित 'मेवाड़ के कवि विदुर रचित पश्चिमाधीश छन्द' अभिधान वाले शीर्षक-लेख में भी श्री रामदेवजी महाराज के इस श्री जटगाजी के मेला महोत्सव का सचित्र (शब्द-चित्र) व चारु वर्णन व संकेत दिया है।

ध्यातव्य है कि शायद पूरे भारतवर्ष के मानचित्र पर एकमात्र 'जटगाजी का मेला'

अद्‌भुत किस्म का व साँस्कृतिक-सामाजिक व कौमी एकता का अनूठा सङ्गम है, जिसमें मेला-प्राङ्गण में निम्नलिखित तीन प्रमुख स्थानों के श्री रामदेवजी के पावन-देवालयों से इस मेले में उनकी शृंगारिक सवारियाँ, राजशाहीलवाजमें के साथ लाने व पुनः अपने-अपने गंतव्य मन्दिरों में ले जाने की पुरानी परम्परा आज भी सुचारू रूप से चल रही है। ये इन तीन स्थानों से सेवा लाने की ऐतिहासिक परम्परा प्रमुख है :-

(1) गूंदाली गांव की सवारी : 'मावदा' गांव के निकट ही यह 'गूंदाली' गाँव है, जो पुराने जटगा जी के मेला स्थल के निकट ही कुछ दूरी पर स्थित है। वहाँ के श्री रामदेवजी के देवालय से सवारियाँ पुराने मेला-स्थल के पास बनी छतरी से पदार्पण की जाती हैं। इस छतरी के पास ही पुराना गङ्गाजलोत्पति-स्थल व अन्य पर्चे की परम्परा आज भी विद्यमान् है। यहाँ अलख उपासक कामड़-योगी वर्षों से पूजा-अर्चनादि करते आ रहे हैं।

(2) ढोल गाँव की सवारी : यह गाँव उदयपुर से पलासभा जाने वाले बस-मार्ग पर स्थित है। यहाँ मन्दिर के फूल देने का सही पर्चा आज भी प्रचलित है। मन्दिर की सवारी नयनाभिराम होकर ऐतिहासिक व चमत्कार-सम्पन्न बताई जाती है। यहाँ के कामड़िया योगी प्रति वर्ष विविध स्थानों पर विश्राम, कीर्तन व साँस्कृतिक उत्सवों के साथ इस विख्यात मेले में सवारियाँ लाई जाती हैं। यह सवारी मेवाड़ के महाराणा कुंभा की ओर से प्राप्त होने के प्रमाण मिलते हैं।

(3) ढालोप (जिला पाली) की सवारियाँ : ढ़ालोप गाँव, तहसील देसूरी, जिला पाली (राज.) का प्रसिद्ध, ऐतिहासिक व साँस्कृतिक महत्त्व का गाँव बताया जाता है। यहाँ फरवरी, 88 से ही इस ट्रस्ट के सौजन्य से एक भव्य मेला भी प्रतिवर्ष फाल्गुन बदी पंचमी तिथि को लगता है। यहाँ से रामदेव जी की ऐतिहासिक सवारियाँ प्रति वर्ष ग्यारस को ढ़ालोप से राजशाही लवाजमें व श्री पीरजी (महन्त) व उनके 8-9 साधुओं व मेघ-भक्तों के साथ इस जटगा मण्डल के मेले में महाशिवरात्रि पर पदापर्ण होती है।[25] यह इनमें सर्वाधिक प्रमुख, प्रसिद्ध व मूल्यवान सेवा मानी जाती है।

(4) पलासभा की सवारी : इन तीनों सेवाओं के अलावा पलासभा गाँव के श्री रामदेवजी के मन्दिर से भी सवारी लाने की नई, किन्तु 4-5 वर्ष की पुरानी परम्परा हैं।

इस प्रकार निकट भविष्य में यहाँ पर कुल 5-6 देवालयों की सेवाऐं पधरानें में सफलता, एक साँस्कृतिक क्रान्ति ही होगी।[26] इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस प्रकार इस प्रसिद्ध जटगा पर्वत पर 'शिवरात्रि महोत्सव' पर विविध प्रकार की साँस्कृतिक-धार्मिक साधना, कौमी एकता, विविधता में एकता, पर्यावरण-चेतना व आध्यात्मिक सस्वर शंखनाद यहाँ देखते ही बनता है। इसके साथ ही यहाँ पर ढालोप की चमत्कारी सवारियाँ पदार्पण होने के बाद ही यहाँ स्वभावतः गङ्गाजल का प्रादुर्भाव होना व हजारों धूणीयाँ (हिंगुलाज) स्थापित होकर प्रज्ज्वलित होना, आगामी वर्ष में घटित होने वाले मौसम विज्ञान, जनजीवन, मानवजीवनादि की भविष्यवाणियों का सही दिग्दर्शन भी मिलता है। यह श्रेय जटगा पर्वत की पूर्व ऋषि-परम्परा, श्री जटगा भक्त व ढ़ालोप के विशेषकर श्री रघुनाथजी वीर के पुण्य-प्रताप से ही उक्त अलौकिक घटनाऐं यहाँ मेला-प्राङ्गण में सदैव सम्पन्न होती आई हैं। यहाँ ढ़ालोप के प्रसिद्ध मेले पर संक्षिप्त-सूचना इस प्रकार प्रस्तुत की जा रही है :-

ढ़ालोप में श्रीरघुनाथपीर का मेला :

श्री रामदेवजी के पावन देवालय (ढालोप गाँव, जिला पाली में) के परिसर में श्री रामदेवजी की परम्परा का मेला प्रतिवर्ष फाल्गुन बदी पंचमी को ई. 1988 से आज तक भरता आया है। जिसका दूसरा नाम 'श्रीरघुनाथपीर का मेला' भी है। शिवरात्रि के पूर्व प्रतिवर्ष ग्यारस (उक्त तिथि) को प्रारम्भ होता आया है। यद्यपि यह मेला गत 8 वर्षों की पुरानी अवधि का है, किन्तु दिनोंदिन इसकी राष्ट्रीय प्रसिद्धि दिखाई पड़ती है। यह गाँव पूर्व में मेवाड़ रियासत में रहा है। मेवाड़ के महाराणा अड़सी जी (1761-1733 ई) से ढ़ालोप गाँव, घाणोराव रियासत के अन्तर्गत मारवाड़ को अस्थायी तौर से ही दिया था, जो देश आजाद होने तक मारवाड़ राज्य में ही रहा है। जो आज पाली जिले की शोभा बढ़ा रहा है। यह गाँव ऐतिहासिक-साँस्कृतिक-धार्मिक विशेषकर श्री रामदेव जी की परम्परा का ख्यातलब्ध गाँव है। यहाँ पर राजस्थान के मेघ-ऋषि समाज की 'पावन धार्मिक किन्तु पुरानी गुरुगादी' पूजी जाती है। यहाँ की श्री हरचन्द वाणी गादी व धूणीजी एकमात्र प्रसिद्ध पीठ है, दूर-दूर तक पूजी व मानी जाती है। राजस्थान के अलावा हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, गुजरात व मालवा प्रान्त के भक्तगण यहाँ आते रहते हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि यह धूणी राजा हरिश्चन्द्र व रानी तारादे से प्रारम्भ हुई बताई जाती है और श्रीहरचन्दजी पीर इसके दूसरे प्रसिद्ध विस्तारक व आचार्य हुए और तीसरे प्रसिद्ध आचार्य अलख-उपासक श्री सेकुदास जी कामड़ हुए हैं। यह तीन सूत्रीय ढालोप का दिव्य-दर्शन नये-नये रहस्य को अभिव्यक्त करता है। फिर यहाँ पर श्रीरघुनाथजी पीर ने (मेघ-ऋषि) सर्वाधिक प्रसिद्ध व कई पर्चे देकर मेघ-वंश का राष्ट्रीय मान-सम्मान बढ़ाया है। जो वे जातिवादादि की दीवारों से काफी उच्च-योगी

थे। वस्तुतः आज यहाँ श्री रघुनाथ जी पीर की प्रासङ्गिकता महसूस भी होती है, यदि यह संभव हुआ तो यह प्रसिद्ध स्थान विशेष गुणकारी राजस्थान या भारत-वर्ष के मेघवंशादि समाज के लिए शुभ होगा।

श्री ढालोप की चमत्कारी सेवा की जटगाजी के मेले में भूमिका :

पूर्व में, मेवाड़ व महाराणा श्री अड़सी के मारवाड़-जोधपुर राज्यान्तर्गत गाँव ढालोप में श्रीहरचन्द वाणी गादी व धूणीजी पर श्री रामदेवजी महाराज की सवारी जो ऐतिहासिक, चमत्कारी, सिद्ध व नयनाभिराम तथा मनोहारी प्रतिभा सुशोभित है। प्रतिवर्ष बड़े मांगलिक-साँस्कृतिक महोत्सव के साथ यह सवारी वहां के श्रीपीरजी व मण्डली के साथ हरिकीर्तन गीतों व भजनों की मधुर स्वर लहरियों के मध्य श्री जटगा जी के शिवरात्रि पर्व पर, उक्त पहाड़ी पर पदार्पण (शुभागमन) व पुनः अपने देवालय को प्रस्थान होती रही है। यह सिद्ध-प्रतिमा हजारों भक्तों, संतों, मेघ ऋषि भक्तों, आदि अन्य भक्त-समुदाय के द्वारा विशेष पूजा-अनुष्ठान के द्वारा पूजी जाती है। यह विशेष चमत्कारी, ऐतिहासिक व साँस्कृतिक विरासत की एक विशेष धरोधर है।[27] जो सदैव हजारों को आध्यात्म, भक्ति, प्रेम व मानव प्रेम का सर्वोच्च आदर्श के साथ ही राष्ट्रीय व कौमी एकता के दिव्य-संदेश भी प्रदान करती है। यद्यपि ढ़ालोप का मेला मार्च, 1988 से प्रारम्भ हुआ है, किन्तु जटगाजी का मेला कुंभाकालीन व श्री रामदेवजी के युग से माना जाता है। किन्तु यहाँ सवारियाँ पधारनें की परम्परा श्री रामदेवजी के युग से ही शुरू हुई, ज्ञात होती हैं। यहाँ सदैव मेले में आगन्तुक भक्त व संतों, अलख उपासक, कामड़ संतों ने भी हर वर्ष की भांति 1994 से 1996 में भी पूजा व सत्संग कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लिया है। यहाँ दिनोंदिन श्रद्धालुओं की भीड़ बढ़ रही है। ढालोप[28] की सवारी पधारनें पर ही जटगा पर्वत पर गंगाजलोत्पत्ति व अन्य पर्चे घटित होते हैं।

यह सेवा वहाँ स्थापित कर पूजी जाती है, जहाँ पर श्री रघुनाथजी ने पर्चे देकर, सूखे आम्र वृक्ष को हराभरा करके जटगा पर्वत श्रेणी को और ज्यादा गौरवशाली बना दिया। वहीं पर मेवाड़ के यशस्वी महाराणा ने श्री रघुनाथपीरजी के पर्चे वाले स्थान पर छतरी बनावाई थी। यह सेवा उसी छतरी (आम्र के पर्चे वाले स्थल) में पूजी जाती है। इस छतरी से कुछ कदम दूरी पर ही ढोल गांव वाली विराट् छतरी के पास प्रति वर्ष मेले में विविध पर्चे मिलते हैं और भावी भविष्यवाणियां भी होती हैं, जो जटगा पर्वत, ढालोप के पूर्ववर्ती पीरों-श्रीहरचन्दजी, श्रीसेकुदासजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीजीवणदासजी, श्रीदेवीदासजी,[29]-प्रभृति समग्र पीर-परम्परा की अमर साधना, पुण्य-प्रताप व दायित्व को हर वर्ष में पुनः प्रतिपादित करती है, जो पूर्ण श्रद्धा, भक्ति व उपासना की शाश्वत्

सत्प्रेरणा भी प्रदान करती है।[30] वस्तुत : यह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' व 'तमसोमाज्योतिर्गमय' की मुक्तामाला सदृश्य अमर-चेतना प्रदान करती आई है। यह विलक्षण-विरासत मेवाड़-मारवाड़ (घाणेराव सहित) की अद्भुत शैव-साधना-पद्धति व तत्कालीन अमर शासकों के धार्मिक-साँस्कृतिक सौहार्द व उनके दायित्व-भाव की सतत् व पावन संस्तुति भी प्रस्तुत करती है। यहाँ विदुर कवि की निम्न पंक्तियाँ पुन: स्मरण हो उठती हैं :-

1. *''जाईये जम्बूदीप जट गई, ध्याईय पछिम धणी।''*

— पश्चिमाधीश रौ छन्द

2. *''कीधी सेवा रांणै कूंभे, आगे ने करि जोड़े ऊभै।''*

— वही

ढ़ालोप के उक्त 'श्रीरघुनाथपीर के प्रसिद्ध मेले' के अलावा ढ़ालोप की उर्वरा जमीन पर स्थित उक्त श्रीराधूपीर आश्रम के प्राङ्गण में प्रति वर्ष 'गुरु पूर्णिमा महोत्सव' (श्रावणी पूर्णिमा) पर भी लघु मेला भी लगता है, जो गुरु-शिष्य परम्परा का निकट सम्पर्क व विद्या-विकास की प्रेरणा देता है जिसका आयोजन सादड़ी व बाली-चौताला की सक्रिय युवापीढ़ी व कार्यकर्ताओं का सत्कर्म प्रशंसा-योग्य है।

इस राष्ट्रीय सम्पदा वाले इस श्रीरघुनाथपीर आश्रम पर प्राय: धार्मिक-साँस्कृतिक व सामाजिक महत्व की चेतना की दीपशिखा व गंगाजल की पीयूष-धारा-आम नागरिकों, समग्र भारतीय प्रज्ञा व विश्व-मङ्गल की कल्याणधर्मी उर्वरा प्रदान कर सकती है।

आओ-आओ राघूपीरां, स्वागत है ढ़ालोप में।
एक बार पुन: धूम मचाओ, इस पीरों के देश में।।1।।

आओ-आओ राघूपीरां, स्वागत है ढ़ालोप में।
एक बार पुन: दिखाओ, आप अपनी पीराई।।2।।

निष्कर्ष :

श्री रामदेवजी महाराज की लीलाभूमि व कर्मभूमि मारवाड़ प्रान्त रहा है। किन्तु मेवाड़ की गौरवशाली, राष्ट्रभक्ति व मीराँबाई की धरती पर महाराणा कुंभा जैसे भक्तों के उदाहरण (नराण व पांचा) व सेवा, श्री जटगाजी भक्त का साधनामय, श्री राजूपीर व ढालोप के पीरों का दायित्व व मेघ ऋषियों के शाश्वत् जागरण, सर्व समाज के प्रति प्रेम, अरावली की धार्मिक-साँस्कृतिक उपजाऊ जमीन, हल्दीघाटी का महासमर,

इसके पूर्व मेवाड़ के शैव-शाक-वैष्णव-योगाचार्यों की परंपरा की हारीतराशि, श्रीमहेन्द्रनाथ व श्रीगोरखनाथ की तपोभूमि मेवाड़ होने से श्री रामदेवजी की सँस्कृति की परम्परा का विशेष प्रभावी असर मेवाड़ प्रान्त व विशेषकर जटगा व अरावली परिक्षेत्र मे रहा है। साथ ही ढालोप की बेजोड़ पीरों की परम्परा में मेवाड़ के पीरों विशेषकर अलख उपासी पीरों के त्याग व तपस्या को भी भुलाया नहीं जा सकता है।

यह शोध की सामग्री श्री जटगाजी व ढ़ालोप के मेला प्रकरण के साथ भावी भविष्यवाणियों के दर्शन से युक्त है। अनेकानेक गंभीर रहस्यों व भावी मंगल-चेतना भी प्रशस्त करेगा। आशा है, पाठक-समाज लेखक का मनोबल बढ़ायेगा।

सन्दर्भ सूची :-

1. (i) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्त्थानमधर्मस्य तदात्त्मानं सृजाम्यहम्॥7॥
(ii) परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥8॥
—श्रीमद्भगवतगीता, च. अध्यायं

2. (i) बाल नाथ जी रा दस्तक भारी रे।
मारीयो राकस जय-जय कारी रे॥
—हरजीभाटी की वाणी
(ii) घर अजमाल जी रे बिड़द बधारियो, दैत मारीयो बंको।
—महाराजा मानसिंह, वाणी

3. (i) पौ ऊगै रो भयो परगलौ, पिंडत पोकरण में पांव धरै॥
—हरजीभाटी, रचित वाणी की पंक्ति
(ii) 'रूणेचा' या 'रामदेवरा' गाँव की संस्थापना स्वयं श्री रामदेवजी ने की है।

4. तँवरों के राव की बही, ग्राम आसलपुर, जोबनेर।

5. (i) तुलना करें :
श्री माता जस मातंगणि, पिता धन रय, जांण।
—विदुर कृत पश्चिमाधीश रौ छन्द
(ii) 'सामर मेघ' की टीका प्रकाश में आई है, किन्तु व्यापक खोज अपेक्षित है।

6. युद्ध, शास्त्र-विद्या, संगीत, कला, पद-रचना आदि।

7. एक भजन की पंक्ति प्रस्तुत है :–'पहलेड़ो पांव जूंजाला दीदो, दूजो देवरा माई ओ, रामा।'

8. देश देलम पाट मुरधर, धरा पिछम धाम।
ज्यां घर बसे, राजा राम।

—अलख प्रमाण (प्रमाण)

9. ओं नमो स्वेत घोड़उ स्वेत पलाण,
तिणि चढ़ियउ अलख रहिमाण।

—पूजा मंत्र

10. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के सौजन्य से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी, 1996 में लेखक ने एक बृहद् शोध-लेख प्रेषित किया है। 'सोढ़ा जाति का इतिहास' (राष्ट्रीय संगोष्ठी, 9-10-11 मार्च, 1996)।

11. शोध-पत्रिका, उदयपुर, वर्ष 22, अंक 2 (अप्रैल-जून, 1971) में प्रकाशित श्री अगरचन्द जी नाहटा के लेख।

12. राजस्थान के लोक देवता पश्चिमाधीश रामदेवजी, डॉ. बी.एम. जावलिया का (मरू-भारती पत्रिका) शोध लेख।

13. राकस मार राम घर आया, मोतियां देव बधाया।

—हरजी भाटी की वाणी

तुलना करें :-
"दड़ी रमतां दैत् मारियो"

—लिखिमोजी माली की वाणी की पंक्ति

14. सुणलौ गुरु गन ग्यान निहारी,
गुरु किरपा गोविन्द गत जाणौ, आवै भरोसो भारी।।टेर।।

—गुरु प्रमाण

15. अन तुम सांभलौ जुग संत सारा, अलख रा प्रमाण।
चार जुगा री राम पूछौ, अलख गुरां न्यारा रा पांव पूजौ।
पांव पूज्यां पारख पड़ेली, राजा रामदे सांची भणै।।टेर।।

—अलख प्रमाण

16. पूरे भारत में श्री रामदेवजी के अनेक मन्दिर व भक्त हैं। विदेशों में भी उनके मन्दिर मिलते हैं। श्री रामदेवजी सच्चे भाव, श्रद्धा के सच्चे देव हैं। रूणेचा में 4-5 पीरों की जीवित समाधियां हैं।

17. राजस्थान के लोक देवता पश्चिमाधीश श्री रामदेवजी (शोध-लेख) मरू-भारती (त्रैमासिक), बीकानेर, पृ. 1
18. लेखक की खोज यात्रा में श्री रामदेवजी महाराज के साहित्य में पकार, चकार, रकार, अकार, हकार, ढकार, मकार का आध्यात्मिक व दार्शनिक महत्त्व उद्घाटित होता है। विद्वत्समाज व धर्माचार्यों को इसकी अर्थवत्ता सप्रमाण प्रस्तुत करनी चाहिए—लेखक
19. धृतिर्क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
20. (i) श्री रामदेवजी महाराज भादवा सुदी एकादशी वि.सं. 1442 को रूणेचा (रामदेवरा के रामसागर की पाल पर) में ध्यानावस्था में जीवित समाधी ली।

    —बाबा रामदेव : इतिहास एवं साहित्य, डॉ. विश्नोई, 1989, जोधपुर, पेज सं. 95

    (ii) म्हारी गुफा रा रामदेव जी घणा एनाण।
    कोई आंटी डोरा कांगसी॥

    — डालीबाई के वचनांश

    श्री रामदेवजी से एक दिन पूर्व अर्थात् वि.सं. 1442 भादों दशम् को डालीबाई ने वहाँ (रूणेचा में) समाधी ग्रहण की।
21. कविया चिमन जी कृत 'रामदे चरित' व 'पिछमी पीर रा छन्द' लघु रचनाएं पठनीय व टीका योग्य है। ये मूलतः स्तुति काव्य हैं।
22. (i) बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, डॉ. सोनाराम विश्नोई, जोधपुर, 1989, पृ. 98

    (ii) मेघवंश-इतिहास (ऋषि पुराण) अजमेर, वि.सं. 2050, पृ. 272
23. उक्त श्री जटगा भक्त के नाम से, अरावली की उक्त विस्तृत पहाड़ी भाग का नाम ही 'जटगा पहाड़' प्रसिद्ध हो गया।
24. श्री जटगा जी से संबंधित कई रचनाएं अप्रकाशित किन्तु विशिष्ट श्रेणी की हैं। 'जटगाजी रो छन्द' भी मूल्यवान लघु रचना है, जिसका आलोचनात्मक पाठ व अध्ययन भी लेखक ने स्वयं तैयार किया है।
25. श्रीद्वीपनाथजी (देलवाड़ा) का साक्षात्कार।
26. संबंधित मेघवंश के चौकला, श्री राजूपीर की धूणी व मन्दिर के पुजारी परिवार के सक्रिय प्रयत्नों से यह कार्यवाही लोकमंगलकारी ही होगी।
27. दृष्टिकोण (पाक्षिक) उदयपुर का 1 अप्रैल, 1995 का अंक।

28. श्रीहरचन्दपीर ने वि.सं. 1725 के आसपास ढ़ालोप में ध्यानावस्था में जीवित समाधि ग्रहण की। जबकि उनके दीक्षित होने का समय वि.सं. 1700 माना जाता है।
29. मेघवंश का इतिहास, स्वामी श्री गोकुलदास जी, अजमेर, वि.सं. 2050, पृ. 187
30. (i) दृष्टिकोण (पाक्षिक) उदयपुर का 1 अप्रैल, 1999 का अंक (पृ. 3 पर)।
    (ii) लेखक ने उक्त 'ढ़ालोप की धूणी व जटगाजी' पर एक-एक लघु ग्रंथ व एक-एक बृहत्शोध ग्रंथ भी पहली बार लिखें।—द्रष्टव्य : 'दृष्टिकोण', उदयपुर का (दिनांक 1 नवम्बर, 1999) अंक में प्रकाशित सूचना।

सन्दर्भ ग्रंथ :-

1. श्री स्वामी गोकुलदासजी के साहित्य की सूची इस प्रकार है :
    1. श्री रामदेवजी के जमा-जागरण की विधि।
    2. अलख-उपासना।
    3. रामदेव चौबीस प्रमाण।
    4. गोकुलदास भजन-माला।
    5. भजन-विलास।
    6. मेघवंश-जाति के रस्म रिवाज।
    7. मेघवंश-इतिहास।
    8. धारूमाल रूपांदे की बड़ी बेल।
    9. रामदेव जी ब्यावला।
    10. पड़दा-प्रमाण

    प्रकाशक : आर्य ब्रदर्स बुकसेलर, पुरानी मण्डी, अजमेर (राज.)

1. मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग-2, मुंहता नैणसी।
2. मुंहता नैणसी की ख्यात, भाग-3, मुंहता-नैणसी।
3. जोधपुर राज्य का इतिहास (प्रथम खण्ड), गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा।
4. मारवाड़ का इतिहास, पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ।
5. राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, जगदीशसिंह गहलोत।
6. राजपूताने का इतिहास, भाग तृतीय, जगदीशसिंह गहलोत।
7. राजस्थान का इतिहास, कर्नल टॉड, हिन्दी अनुवाद, केशवकुमार ठाकुर।
8. तंवर वंश का इतिहास—जोगीदान बारहठ।
9. मध्ययुगीन भारत, डॉ. कालूराम शर्मा तथा डॉ. प्रकाश व्यास।
10. सोढ़ायण—डॉ. शंकिदान कविया।

11. श्रीमद्भगवतगीता—गीता प्रेस, गोरखपुर।
12. श्रीमद्भगवतगीता—साधक संजीवनी, स्वामी श्री रामसुखदास जी महाराज।

हस्तलिखित साहित्य :-

1. लेखक के निजी संग्रह में उपलब्ध साहित्य की सूची :-
राज विनोद, इन्द्रप्रस्थ की हिन्दी सामग्री, अलख शब्दी, नाथाष्टक, 24 प्रमाण साहित्य, श्री जटगाजी व ढालोप दिक्‌दर्शन, जटगाजी रो छन्द, परमार्थसार भाषा, रूंपादे री वेल, सत्गुरु श्री राजूपीर, श्री रघुनाथजी, पीरदर्शन।

पत्रिकाएं :-

1. मरू-भारती, बीकानेर।
2. शोध-पत्रिका, उदयपुर।
3. मधुमती।
4. वरदा।
5. इंडिया टुडे (15 जुलाई, 1996) के पत्रांक 11 पर उनावा की दरगाह-मीरादातार पर सामग्री।

वरिष्ठ शोध सहायक
प्रभारी अधिकारी
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
शाखा-कार्यालय, उदयपुर (राजमहल परिसर)

❑❑

सन्तमत की पृष्ठभूमि और वैष्णव सम्प्रदाय

— ओमप्रकाश शर्मा

ज्ञान-काण्ड-प्रतिपादक उपनिषद्युग के अवसानोपरान्त हम एक ऐसे युग में पदार्पण करते हैं, जहाँ विप्लव, विद्रोह एवं पुनर्निर्माण की दृष्टि नजर आती है। यद्यपि उपनिषदों ने भारतीय समाज को एक नवीन दृष्टि प्रदान की थी और कर्मकाण्ड के स्थान पर बौद्धिक चिन्तन को प्रश्रय दिया था फिर भी वे सर्वसाधारण की सहमति प्राप्त नहीं कर सके। सर्वधारण का अभी भी यज्ञ-योगादि प्रक्रियाओं में काफी विश्वास था। ऐसी स्थिति में जब जैन व बौद्धादि नास्तिकवाद व क्राँतिवाद का डिंडिमनाद कर रहे थे तब वैष्णव व शैवमतावलम्बियों ने सारी स्थिति की समीक्षा कर, एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया, जिसके फलस्वरूप षड्दर्शनों का जन्म हुआ। पूर्वमीमांसा ने वैदिक कर्मकाण्ड को अपनाया। बादरायण के ब्रह्म-सूत्र ने ज्ञान-काण्ड को अपनाया जिसमें आगे चलकर अद्वैतधारा-प्रवर्तक श्री शंकराचार्य का जन्म हुआ।

वैष्णव-धर्म की प्राचीनता भगवद्गीता में खोजी जा सकती है। ईसा की 5-6 शताब्दी में जब गुप्त, साम्राज्य का पतन हुआ तब भागवत-धर्म का प्राबल्य उत्तरभारत/ में क्षीण हो गया और इसका क्षेत्र दक्षिण हो गया। वहाँ जिन्होंने भागवत धर्म के गेय पदों की रचना की, वो आलवार कहलाये और जो इसके शास्त्रीय विवाद में लगे रहे वो आचार्य कहलाये। इस तरह के विभिन्न 12 आल्वार संत दक्षिणभारत में रहे जिनके युग का 7-8वीं शताब्दी में अवसान हो गया। इस युग के बाद तीन तरह की विचारधारा मिलती है। शवरस्वामी एवं कुमारिलभट्ट की शाखा के अनुयायी कर्मकाण्डी कहलाये। ज्ञान काण्डी लोग शंकराचार्य एवं उनके अनुयायी तथा उपासना काण्डी में नाथ मुनि व रामानुज-सम्प्रदाय के परवर्ती लोग बने रहें।

शंकराचार्य के अद्वैतदर्शन में भक्ति का स्थान नगण्य था। अतः वैष्णवाचार्यों ने इसका खण्डन किया। फलस्वरूप 12वीं शताब्दी में निम्नांकित सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

1. श्री सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापक - रामानुज
2. ब्रह्म-सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापक - मध्वाचार्य

3. रुद्र-सम्प्रदाय प्रतिष्ठापक - विष्णुस्वामी
4. सनकादिसम्प्रदाय-प्रतिष्ठापक - निम्बार्काचार्य

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में रामानुज का श्री सम्प्रदाय तथा विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। रामानुज के 4-5 पीढ़ी बाद इसी परम्परा में रामानन्द ने जन्म लिया जिनके मन्तव्यों की पृष्ठभूमि में कबीर ने अपनी निर्गुणी ज्ञानमार्गी-शाखा एवं तुलसी ने अपनी रामाश्रयी भक्ति-शाखा का प्रवर्तन किया। विष्णुस्वामी के अनुयायी वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र विट्ठल के विचारों से प्रभावित होकर आठ प्रतिभावान शिष्यों ने पदार्पण किया जो सगुण मार्ग अष्टछाप के भक्त कहलाये, जिनमें सूरदास प्रमुख हैं।

राजस्थान में कृष्णभक्ति-साहित्य विपुल मात्रा में लिखा गया है। यहाँ के कवियों ने कृष्ण की ब्रजलीला के अलावा उनके दुष्टदलन स्वरूप को भी चित्रित किया है। पृथ्वीराज राठौड़ की "वेलि क्रिसन रुकमणी री", साइयां झूला कृत "रुषमणी हरण", पद्मा तेली का "रुकमणी विवाहलो", मुरारिदान का "गुण विजै विवाह" और जसनाथी-सम्प्रदाय का "किसन जी रो विवाहलो" आदि कई रचनाओं के अलावा स्फुट रूप से काफी साहित्य मिलता हैं जो श्री कृष्ण को राम के समान ही जननायक के रूप में चित्रित करता है। राजस्थान के कृष्ण-भक्तों में मीराँबाई का सर्वोपरि स्थान है। इसके अलावा चन्द्रसखि, बख्तावर, सम्मानबाई, रणछोड़ कुंवरि, राणी वांकावती, सुन्दरकंवरी आदि कवयित्रियों ने सरस भाषा के माध्यम से पदों की रचना की है जो जन-जन में विख्यात हैं। किशनगढ़ के राजा सावंतसिंह और बणी-ठणी का कृष्ण-प्रेम सुविख्यात है। नागरीदास उपनाम से उनकी छोटी-बड़ी 73 भक्ति रचनायें नागर-समुदाय में प्रकाशित हुई है।

मीराँबाई के निधन के बाद राजस्थान में श्री कृष्णभक्ति की धारा बराबर बनी रही। 17-18वीं शताब्दी में यहां निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभसम्प्रदाय एवं निष्कलंक आदि विभिन्न सगुण-सम्प्रदायों का वर्चस्व बढ़ा जिसने राजस्थान में श्रीकृष्ण की भक्ति-धारा को एक नवीन आयाम दिया।

निम्बार्क-सम्प्रदाय:- निम्बार्क-सम्प्रदाय के उपदेष्टा श्री हंस भगवान् माने जाते हैं। भागवत-पुराण में लिखा है कि श्री हंस भगवान् ने सनकादि को उनके योग सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया था। सनकादि से यह उपदेश देवर्षि नारद को प्राप्त हुआ। देवर्षि नारद ने उक्त ज्ञान निम्बार्क को प्रदान किया। इन सभी नामों में निम्बार्क का व्यक्तित्व ही ऐतिहासिक है, अत: साहित्य के क्षेत्र में इसे निम्बार्क अभिधान प्राप्त हुआ।

निम्बार्क हैदराबाद में गोदावरी के तीर के पास स्थित मूंगीपटन, के निकट अरुणाश्रम में उत्पन्न हुये थे। आजकल यह स्थान "पेठण" कहा जाता है। इनके पिता का नाम

कुछ लोग जगन्नाथ एवं माता का नाम सरस्वती बताते हैं। भाण्डारकर वेएलरी जिले के निंनापुर स्थान को निम्बार्क की जन्मस्थली मानते है।

इनका मूल नाम नियमानन्द था। एक बार इनके गाँव में एक दण्डी सन्यासी पधारे। नियमानन्दजी ने दण्डी स्वामी को भोजन का निमन्त्रण दे रखा था। सन्यासी सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते थे। सूर्यास्त हो रहा था और भोजन में अभी विलम्ब था। इस धर्म-संकट में नियमानन्दजी ने अपने योग-बल से नीम के वृक्ष के ऊपर इंगित कर सूर्य का दर्शन करवाया। तब सन्यासी ने भोजन तो कर लिया किन्तु वे नियमानन्द के प्रभाव को समझ गये। तभी से निंब पर अर्क दिखाने के कारण निम्बार्क नाम पड़ गया। निम्बार्क-विक्रांति नामक ग्रन्थ में और भी कई चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख हैं। जो समय-समय पर निम्बार्क ने दिखाये थे। कुछ लोग उपरोक्त घटना स्थल का सम्बन्ध ब्रजक्षेत्र के नीमगांव से जोड़ते हैं जो सही नहीं है क्योंकि उनका कार्य-क्षेत्र दक्षिण ही था।

निम्बार्क सम्प्रदाय के लोग इनका आविर्भाव द्वापर-युग मानते हैं। इस मान्यता को शोधकर्ताओं ने मान्यता नहीं दी है और उन्होंने निम्बार्क का समय 12-13 शताब्दी माना है। डॉ. भाण्डारकर इनका समय 1219 संवत् मानते हैं। भक्ति-परम्परा वाले लोग कहते हैं कि शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध खड़े होने वाले चार वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क भी है। अत: उन्हें लोग रामानुज का परवर्ती सिद्ध करते हैं। आचार्य रामकृष्ण के अनुसार ये रामानुज के परवर्ती हैं। अत: ये 12वीं शताब्दी के पूर्ववर्ती नहीं ठहरते हैं।

निम्बाई दर्शन के मूल सिद्धान्त श्री मद्भागवत के 11 वे एकन्ध के 13 अध्याय में वर्णित हैं। इस सम्प्रदाय में परमात्म तत्व ही उपास्य है। दशश्लोकी के अनुसार परमात्मा श्री कृष्ण ही हैं और वे ही इस सम्प्रदाय के ध्येय हैं। श्री कृष्ण के वामांग में विराजित राधा भी इस सम्प्रदाय हेतु उपास्य है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में राधा और कृष्ण की अनेक प्रकार से दार्शनिक व्याख्यायें हैं। वस्तुत: राधा एवं श्री कृष्ण दोनों अलग-अलग होते हुये भी तत्वत: एक ही हैं। इस प्रकार से उपास्य का सम्पूर्ण स्वरूप युगल-उपासना में सिद्ध होता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में आगे चलकर सखीभाव की उपासना का भी प्रवेश हुआ। भक्त अपने को युगल की सखी मान कर इनकी नित्य लीलाओं में प्रवेश की कामना करता है। स्वयं श्री निम्बार्काचार्य को श्री रंगदेवी का स्वरूप माना जाता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में सन् 1510 में श्री हरि व्यास देवजी हुये। इनके एक प्रमुख शिष्य श्री परसुरामदेवजी ने इस सम्प्रदाय का राजस्थान में व्यापक प्रचार किया।

परशुरामदेव का जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत खण्डेला गाँव में हुआ था। इनका समय पूर्णतया निश्चित नहीं है फिर भी कुछ प्रमाण मिले हैं, जिनके आधार पर काफी तथ्य उजागर हुये है। किशनगढ़ के महाराजा ने श्री किशनसिंह को 101 बीघा भूमि प्रदान की थी जिससे पता चलता है कि ये उस समय तक विद्यमान थे। इनकी समाधि व मन्दिर का निर्माण 1632 ई. में किया गया था। अतः सिद्ध है कि इस समय से पहले इनका निधन हो चुका था। 15 वर्ष की अल्पायु में ये वृन्दावन चले गये थे जहां श्री हरि व्यासदेवजी ने इनको दीक्षा दी। गुरु के आदेशानुसार ये सलेमावाद आ गये और वहाँ पर पीठ की स्थापना की। नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में इनके योगदान की प्रशंसा की है।

परशुरामदेव के साहित्य में विप्रभती नामक हस्तलिखित ग्रन्थ (वि.सं. 1677) मिलता है जिसमें परशुराम देव की वाणी तथा अन्य 13 ग्रन्थ तथा चरित्र-ग्रन्थों का संकलन है। परशुराम, सागर नामक एक अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ है जो वि.सं. 1837 में लिपिबद्ध किया गया था। इन दोनों पुस्तकों में 28 रचनाओं का समावेश है। इनका साहित्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लेकर चला है जहां सगुण व निर्गुण, धारा का व्यापक समन्वय उपलब्ध है। साहित्य ब्रज-मिश्रित-राजस्थानी में लिखा हुआ है।

परशुरामदेव के बाद सलेमाबाद निम्बार्क-सम्प्रदाय की प्रधान पीठ बन गया है। इनके बाद इनके शिष्यों प्रशिष्यों ने सलेमावाद की गद्दी पर बैठकर इस सम्प्रदाय का सारे भारत वर्ष में प्रचार-प्रसार किया है। सलेमाबाद में परशुराम जी के सभी उतराधिकारियों का वर्तमान तक विवरण मौजूद है। सलेमावाद के अलावा किशनगढ़, रेनवाल, हस्तेड़ा, लूणवा, पलसाना, श्रीमाधोपुर, होर, दूलहपूरा चला, सिरोही, नीमकाथाना, उदयपुर, लोहार्गल, चिड़ावा, फतहपुर, पीपाड़, बीकानेर, जैतारण, रास, रायपुर, नीमाज, जोधपुर, फलौदी, भरतपुर, अलवर, लावा आदि विभिन्न स्थलों पर इस सम्प्रदाय के मन्दिर व मठ बनाये गये हैं।

जोधपुर राज्य की सनद, परवाना-बहियों को देखने से पता चला है कि तत्कालीन नरेशों ने इस सम्प्रदाय को भारी मात्रा में अनुदान दिया। यह अनुदान कभी गाँवों के रूप में, कभी नमक के रूप में, कभी परगनों से कर वसूली के रूप में उपलब्ध है। इसी तरह से मेवाड़ के ताम्रपत्रों से विभिन्न समय में सलेमाबाद पीठ को दिये गये अनुदानों पर रोशनी पड़ती है। अन्य विवरणों से जयपुर एवं किशनगढ़ राज्यों द्वारा इस पीठ को दिये गये अनुदानों का पता चलता है।

वल्लभ सम्प्रदाय:- इस कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय की स्थापना वल्लभाचार्य ने की थी। इनके पूर्वज आन्ध्र प्रदेश के तैलंग थे। इनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट दीक्षित वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे। सन् 1477 में वे काशी में बस गये थे। इसी बीच काशी पर मुगल आक्रमण की अफवाह फैली और श्री लक्ष्मण भट्ट अपने परिवार के साथ अपने प्रदेश को चल पड़े। रास्ते में रामपुर जिले के चंपारण्य प्रदेश में इनकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। बालक आठमासा होने से संज्ञा शून्य जैसा था अत: उसे मृत समझकर शमी वृक्ष के नीच सूखे पत्रों से ढक कर रख दिया। प्रात: देखने पर बालक स्वस्थ नजर आया तो उन्होंने वहीं उसका नामकरण संस्कार कर दिया। यहीं बालक आगे चलकर वल्लभाचार्य नाम से विख्यात हुआ। वल्लभाचार्य की जन्म तिथि सन् 1478 है हालांकि इसके बारे में विद्वानों में विवाद है। वल्लभाचार्यजी के दो पुत्र हुए। ज्येष्ठ पुत्र का नाम गोपीनाथ और द्वितीय पुत्र विठ्ठलनाथ थे।

वल्लाभाचार्य ने पुष्टिमार्ग नामक भक्ति मार्ग की स्थापना की। यह मार्ग श्रीकृष्ण के अनुग्रह को ही सर्वश्रेष्ठ व भजनीय मानता है। शुद्धाद्वैत नाम से इसके दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की गई। हालांकि यह सिद्धान्त पहले विष्णु स्वामी स्थापित कर चुके थे किन्तु लम्बे अन्तराल के कारण लोगों को विस्मृति हो गई थी। इस सिद्धान्त के समर्थन में वल्लभाचार्य ने तत्वदीप निबन्ध भगवत गीता टीका, अणुभाष्य, सुबोधिनी टीका, पूर्वमीमांसाभाष्य षोडशग्रन्थ, पत्रावलम्बन, पुरुषोत्तम-सहस्रनाम, सेवाफल-विवरण, मदुराष्टक, प्रेमावृत, न्यायादेश-त्रिविध-नामावली आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके पुत्र विठ्ठल ने भी अनेक ग्रन्थों की रचनायें की जिनमें विद्वन्मण्डन, अणुभाष्य का अंतिम शेष-भाग, सुबोधिनी पर टिप्पणी, भक्ति-निर्णय, शृंगाररस-मण्डल, निर्णय-ग्रन्थ, षोडश ग्रन्थ पर टीका, निबन्ध प्रकाश पर टीका, भक्ति हंस, भक्ति हेतु आदि विख्यात हैं। श्री वल्लभाचार्य के 84 शिष्य हुए। इन शिष्य सेवकों पर 84 वैष्णवों की वार्ता तथा गोस्वामी विठ्ठलनाथ के 252 वैष्णव भक्तों की वार्ता उपलब्ध है।

वल्लभ-सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित रूप देने में गोस्वामी विठ्ठलनाथ का काफी योगदान है। श्री नाथजी के मन्दिर में सेवा-पूजा की नूतन-विधि वार्षिक-उत्सव, व्रतोपवास आदि की विधि को इन्होंने नवीन रूप प्रदान किया। अपने पिता के चार शिष्य कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास के साथ अपने चार शिष्य चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी और नन्ददास को मिलाकर इन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। इन्हीं आठ शाखाओं के पद श्रीनाथजी के मन्दिर में गाये जाते हैं। संवत् 1642 (सन् 1585) में इनका निधन हो गया।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि राजस्थान में इस सम्प्रदाय का कब आगमन हुआ। पुष्कर में एक वल्लभ-घाट है जिसके बारे में कहा जाता है कि वल्लभाचार्य की स्मृति में यह घाट उनके प्रशंसकों ने बनाया है। यह माना जाता है कि वल्लभाचार्य ने इस जगह तीर्थाटन के क्रम में विश्राम किया था। दौ सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से पता चलता है कि तत्कालीन आमेर के राजा भारमल, मेड़ता के शासक जयमल, मीराँबाई व उनकी ननंद अजबकुंवरी, बीकानेर के पृथ्वीसिंह व उनका पुत्र कल्याणसिंह गोस्वामी विठ्ठलनाथ के सम्पर्क में आये थे। इससे यह भी विदित होता है कि (1572-1642 वि.सं.) इस समय यह सम्प्रदाय बीकानेर, आमेर, मारवाड़, मेड़ता आदि स्थानों में ख्याति प्राप्त कर चुका था। 9 अप्रेल, 1669 ई. को औरंगजेब ने सारे हिन्दू-मन्दिरों को ध्वस्त करने की आज्ञा जारी की, तब इस सम्प्रदाय के वंशज अपनी-अपनी मूर्तियाँ लेकर गोवर्धन से निकल गये। द्वारिकाधीश की मूर्ति संवत् 1720 में अहमदाबाद लाई गई तत्पश्चात् इस स्थान को असुरक्षित समझकर संवत् 1726 में इस मूर्ति को मेवाड़ लाया गया। वि.सं. 1727 (1670 ई) में महाराणा राजसिंह के सौजन्य से आसोटिया नामक स्थान पर भगवान् की मूर्ति स्थापित की गई। संवत् 1776 में चैत्र कृष्णा 9 को यह मूर्ति कांकरोली मन्दिर में पधराई गई।

श्रीनाथजी की मूर्ति श्री दामोदरजी के पास थी। संवत् 1726 (1669 ई.) में अपने चाचा गोविन्दजी के साथ में चौपासनी गाँव पहुंचे।

अब तक इतिहासकारों में यही धारणा थी कि श्रीनाथजी यहाँ चौपासनी गाँव में कुछ समय तक विराजे थे और फिर मेवाड़ पधार गये और यह स्थान श्रीकृष्ण की पवित्र-स्थली बन गया। किन्तु अब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि श्रीनाथजी के यहाँ पधारने से पहले ही उनके पूर्वज यहाँ विद्यमान थे और प्रभु श्री श्याम-मनोहरजी का मन्दिर भी इस घटना से पहले बना हुआ था। उन्होंने ही श्रीनाथजी के विग्रह को अपनी ही भूमि कदमखण्डी नामक स्थान पर रखकर बाद में मेवाड़ तक पहुँचाने में पूर्ण सहयोग दिया।

विक्रम संवत् 1728 में महाराणा राजसिंह ने बनास नदी के किनारे सिहाड़ नामक ग्राम में श्रीनाथजी की मूर्ति को फाल्गुन कृष्ण 7 को स्थापित करवाया। इसके साथ ही नवनीतप्रियजी एवं विठलनाथजी की प्रतिमायें भी स्थापित की गई।

पहले मथुराधीशजी की मूर्ति को काँकरोली में स्थापित किया गया था। कुछ वर्षों बाद इस मूर्ति को बूंदी ले जाया गया। महाराजा दुर्जनशाल (1744 ई.) के समय इस मूर्ति को कोटा में स्थापित किया गया।

तत्कालीन शासकों एवं जनता पर इस सम्प्रदाय का भारी प्रभाव था। राजस्थान के लोगों व राजा-महाराजाओं ने तन-मन-धन से सहायता देकर इस सम्प्रदाय को राजस्थान में पल्लवित किया। नाथद्वारा रेकार्डस से मेवाड़ के शासकों द्वारा दिये गये विभिन्न अनुदानों का पता चलता है। श्रीनाथजी भण्डार कोटा से कोटा-राज्य की ओर से दिये गये विभिन्न दान-पुण्यों का पता चलता है। जोधपुर की सनद-परवाना बहियों के देखने से पता चलता है कि इस राज्य से नाथद्वारा कांकरोली एवं कोटा के मन्दिरों को समय-समय पर प्रचुर मात्रा में अनुदान दिया गया। नाथद्वारा की ''ब्रह्मसम्बन्ध'' की फाइलों से जनता द्वारा दिये गये विभिन्न अनुदानों का भी पता चलता है।

निष्कलंक सम्प्रदाय:- बागड़ प्रदेश हजारों वर्ष पुराना प्रदेश है और इसका इतिहास भी इतना ही पुराना है। 15वीं शताब्दी से यहां भक्तों का सूत्र मिलना प्रारम्भ होता है। 18वीं शताब्दी तो वागड़-संत-परम्परा का स्वर्णकाल कही जा सकती है। इस काल में सन्तमावजी (1771-1801 वि.सं.) ने निष्कलंक-सम्प्रदाय को जन्म दिया। उन्होंने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया तथा छूआछूत का विरोध किया। मावजी का जन्म औदीच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। माता का नाम केशरीबाई तथा पिता का नाम दालमरुसी था। भगवद्भक्त पिता का मावजी पर काफी प्रभाव पड़ा और उनमें वैराग्य की वृति ने जन्म ले लिया। 12 वर्ष से इन्होंने तपस्या चालू की और संवत् 1784 में इन्होंने वेणेश्वर धाम की स्थापना की। वेणेश्वर-मन्दिर में इस आशय का शिलालेख संवत् 1850 माघ शुक्ला एकादशी का लगा है। बाद में उन्होंने धर्मोपर्देशक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। शिष्यों प्रशिष्यों की संख्या बढ़ी और यह विचारधारा निष्कलंक-सम्प्रदाय के रूप में जानी जाने लगी। मावजी ने चार विवाह किये गये थे। इनका देहान्त संवत् 1801 में हुआ।

निष्कलंक सम्प्रदाय में मावजी को कल्कि-अवतार के रूप में माना जाता है। मावजी ने अछूतों को अधिक प्रश्रय दिया। मावजी के ये अनुयायी बाद में 'साध' कहलाये। मावजी का मुख्य मन्दिर साबला में है जहां इन्हें शंख, चक्र गदा पद्म विभूषित चित्रित किया गया है। इसके अलावा डूंगरपुर में पूंजपुर, वेणेश्वर, ढाला वाला तथा मेवाड़ राज्य में शेषपुर तथा बांसवाड़ा में पालोदा गाँव में मावजी के मन्दिर है। सावला में आज भी मठाधीश विराजते है। मावजी के बाद उनके पुत्र तथा पत्नी क्रमश मठाधीश बने। यह परम्परा अभी भी निर्बाध रूप से चल रही है। गद्दी के मठाधीश अविवाहित रहते हैं और किसी ओदीच्य ब्राह्मण को शिष्य बनाते है।

मावजी ने पाँच विशालकाय ग्रन्थों की रचना की जिनमें उनकी वाणी सुरक्षित

है। इन ग्रन्थों में छन्दों की संख्या 72 लाख 96 हजार बतलायी जाती है। वाद-विवाद की शैली में लिखे इन ग्रन्थों को चौपड़ा कहा जाता है।

इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है :-

1. प्रेम-सागर-डूंगरपुर राज्य के पूंजपुर गांव में है।
2. मेघ-सागर-डूंगरपुर राज्य के सावला गांव में है।
3. रतनसागर-बांसवाड़ा में सूथारवाड़ा हरिमन्दिर में।
4. श्याम-सागर-मेवाड़ के शेषपुर स्थित हरिमन्दिर में।
5. अनन्द-सागर-इसे बाजीराव पेशवा ले गया था।

इन ग्रन्थों में भविष्यवाणी, गोपीकृष्ण संवाद और श्री कृष्ण की लीला आदि हैं। प्रेम-सागर के माहाव्य-मंजरी नामक ग्रन्थ में मावजी ने अपने आपको विष्णु का दसवां अवतार घोषित किया है। इसी तरह से मावजी से ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र इत्यादि वाद विवाद में परास्त हो जाते हैं। इन विभिन्न चौपड़ो में मावजी ने अपने अनुयायियों को धार्मिक आचरण सम्बन्धी निर्देश दिये हैं, यथा वैदिक पूजा अनुष्ठान तीर्थाटन, जपस्मरण, सर्वसमभाव, इन्द्रिय-निग्रह, सत्कर्म-प्रवर्तन इत्यादि। रतन-सागर ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

सन्त मावजी से पूर्व सन्त दुर्लभरामजी इसी राज्य में पैदा हो चुके हैं। सन्त गवरी बाई (1815-1865) मावजी की परवर्ती परम्परा में आती है। इनकी गवरी, कीर्तन महता प्रकाशित है।

सन्दर्भ सूची :-

1. प्रारंभिक वैष्णव-मत का इतिहास- राय चौधरी।
2. औरंगजेब- यदुनाथ सरकार, भाग 3.
3. काँकरोली का इतिहास- कण्ठमणि शास्त्री।
4. पुरुष-संभव महाकाव्यम्- महाकवि हरिराय।
5. कोटा राज्य का इतिहास- डॉ. मथुरालाल शर्मा।
6. डूंगरपुर राज्य का इतिहास- गो.ही. ओझा।

वरिष्ठ शोध सहायक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर (राज.)

दादू-शिष्य-रज्जबजी

— श्री गोपालनारायण बहुरा

रज्जब तैं गज्जब किया, बाँध्या सिर पर मौड़।
आया था हरिभजन कूं, करी नरक में ठौड़॥

इसी विकृत दोहे को सुनकर रज्जब नाम से मेरा सबसे पहला परिचय हुआ था और इसी के माध्यम से मैंने उस परम सन्त की कहानी सुनी थी। बात यह थी कि भूरादास नाम का एक दादूपन्थी युवक हमारी जागीर के गाँव में ताल्लुकेदार (प्रबन्धक) था। उसी ने मुझे यह दोहा और दादू-शिष्य रज्जबजी की कथा भी सुनाई थी।[1] बाद में स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायणजी शर्मा विद्याभूषण ने अपने लेख 'महात्मा रज्जबजी' के कुछ अंश मुझ से नकल कराये थे, जो उन्होंने कलकत्ता के 'राजस्थान-समाचार' में प्रकाशित कराया था। उसमें इस उपदेश वाक्य का यह रूप था—

कीया था कुछ काज कैं, सेवा सुमिरण काज।
दादू भूल्या बंदगी, सर्‌या न एकौ काज॥

यही वचन रज्जब के लिए जीवनदीप बन गया और वह दादू के शिष्यों में सिरमौर हो गये।

रज्जब जयपुर से दक्षिण में कोई 13-14 किलोमीटर दूर साँगानेर-कस्बे के रहने वाले थे। उनका पूरा नाम रज्जबअलीखाँ था और वे आँबेर के महाराजा मानसिंह प्रथम की सेवा में एक लघुनायक अजबअलीखाँ पठान के पुत्र थे। परमात्मा ने उनको सुन्दर

---

1. बाद में भूरादास उसी गाँव में बस गया, उसने हमारी नौकरी छोड़ दी बाल बच्चे हो गये और उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया जिससे वह परम दुखी हो गया। तब मैंने उसको एक दिन उक्त दोहे की पैरोडी सुनाई—

भूरा तूं सूरा नहीं, लिवा करमड़ा फोड़।
हरि सुमरण कीया नहीं, करी नरक में ठौड़॥

स्त्री और बच्चों के मर जाने पर उसने शेष-समय भजन में ही बिताया।

और स्वस्थ-शरीर दिया था और उन दिनों की प्रथानुसार कसरत-कुश्ती और शस्त्र-शिक्षा के कारण वे एक कद्दावर गवरु जवान के रूप में उभरे थे। शिक्षा उनकी साधारण ही हुई थी, परन्तु रज्जब, प्रकृति से ही शान्त, मननशील और सत्संग-प्रेमी थे। पहुँचवान हरिभक्त, साधुओं से मिलने और सत्संग द्वारा ज्ञान-प्राप्त करने की लालसा उनके मन में सदैव बनी रहती थी। साधु-सन्तों और फकीरों की संगति में भगवत् चर्चा करते रहने के कारण उनकी ज्ञान-पिपासा दिनों-दिन प्रबल होती ही गई।

युवावस्था-प्राप्त होने पर इनके पिता ने आँबेर में रहने वाले, समान-कुल में उनका विवाह-करना स्थिर किया। समय पर बारात-सज कर सांगानेर से आंबेर गई। उन दिनों आंबेर के महावटा सरोवर की पाल के पास मार्ग के दाहिनी और पहाड़ी की तलहटी में महात्मा दादूदयाल जी ठहरे हुए थे। सहज-सन्त-प्रेमी-साधु-दर्शनोत्सुक, रज्जबजी का मन, दादूजी के दर्शन के लिए मचल उठा और वे वर (दूल्हे के) वेश में ही अपनी मण्डली-सहित उस स्थान पर चले गये जहाँ महात्माजी ठहरे हुए थे। उनको देखकर दादूजी की पैनी दृष्टि ने उनको पहचान लिया और उन्होंने उपर्युक्त-वाक्य कहे।

भवभूति ने एक स्थान पर कहा है कि गुरु तो समान रूप से ही विद्या वितरित करता है परन्तु शिष्यों की योग्यतानुसार उसका प्रतिफल भिन्न-भिन्न होता है यथा सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से पड़ता है परन्तु विकरण पात्र की अनुरूपता के अनुसार होता है। मणि तो उसके पूर्ण-बिम्ब को ग्रहण कर लेती है परन्तु राख के ढेर में उसकी कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं होती। इसीप्रकार यदि कोई और दूलह होता तो साधु को नमस्कार करके, उसको कुछ भेंट चढ़ाकर और उसकी बात को सुनी अनसुनी करके अपने काम से विवाह-स्थान को चला जाता। परन्तु रज्जबजी के हृदय में तो वह वाक्य 'नावक के तीर' की तरह पैठ गया। वे आत्मविभोर होकर साँसारिक जीवन से तुरन्त ही विरक्त हो गये। वे वर के कपड़े उतारने लगे परन्तु दादूजी ने कहा, नहीं, जिसमें पाया उसीमें रहो। अतः गुरु की आज्ञा मानकर वे आजीवन उसी दूलह के वेश में रहे। जब पोशाक पुरानी हो जाती तो फिर कोई भक्त, नई पोशाक बनवाकर उनको पहना देता। उन्होंने विवाह करने से इनकार कर दिया और शुद्ध सात्विक-मन से ब्रह्म के मार्ग में निरन्तर यात्रा करने को निकल पड़े। वे आजीवन कुंआरे रहे और अपने सद्गुरु दादूदयाल जी की सेवा एवं सत्संग को ही सर्वोपरि मानते रहे। रज्जब जी में हुए इस विलक्षण परिवर्तन के विषय में तत्मकालीन रामसनेही भक्तवर रामचरणजी ने कहा है :-

दादू जैसा गुरु मिलै, शिष रज्जब सा जाँण।
एक सबद में उधरजा, रही न खैंचा ताण॥

रज्जब कूं दादू दिया, एक सबद में ज्ञान।
'रामचरण' सब छांड़िकै, हो गया गुरु समान॥

जनगोपाल कृत 'दादू जन्मलीला परची' से ज्ञात होता है कि दादूजी आँबेर में सम्वत् 1636 से 1648 अथवा 1650 तक रहे थे। इसी बीच में रज्जब जी वहाँ विवाह करने आये थे। राघवदास कृत भक्तमाल के 380 वे पद्य में लिखा है—

"रज्जब अज्जब राजथान आँबानेरि आये,
गुरु के सबद प्रिया व्याह संग त्याग्यो है।"

पुरोहितजी ने उनकी तत्कालीन अवस्था और जन्म संवत् का गणित इस प्रकार किया है "रज्जबजी का जन्म संवत् कहीं लिखा नहीं मिलता परन्तु साधुजनों में यह बात विख्यात है कि वे 122 वर्ष की अवस्था में संवत् 1746 में परमपद को प्राप्त हुए थे। इस हिसाब से 1746-122=1624 संवत् में उनका जन्म हुआ था। लगभग 20 वर्ष की अवस्था में वे विवाह के लिए आंबेर गये होंगे। अत: उक्त घटना अर्थात् रज्जबजी का दादूजी के शरणापन्न होना संवत् 1644 की है।

रज्जबजी के शरीर-त्याग के विषय में पुरोहितजी ने लिखा है- उन्होंने अपने शरीर को अज्ञात स्थान पर जंगल में छोड़ा था। इसके लिए वे एक साधु अथवा फकीर का हाथ पकड़े-पकड़े टोंक की तरफ जंगल में चले गये और वहाँ समाधिस्थ हो गये। वहीं उनके पुद्‌गल को जानवरों ने खा लिया। 'मांटी भखै जिनावरां महा महोच्छव होय' के अनुसार उनका 'हवा-दाग' हुआ। वे न जलाये गये, न गाड़े गये। कुछ दिनों के बाद ही उनके मरने का पता चला। यह घटना संवत् 1746 की है। गाँव टांटोली में एक चबूतरे पर उनके चरण बताए जाते हैं :-

प्रथम दर्शन में ही गुरु के परायण होकर रज्जबजी-प्राय: दादूजी के साथ ही रहा करते और उपदेश तथा सत्संग का लाभ उठाते रहते थे। कभी-कभी 'रामत' करने भी चले जाते थे परन्तु ऐसा बहुत कम होता था। दादूजीभी प्राय: स्थल-स्थल, पर घूमते रहते थे और रज्जबजी उनके साथ होते थे। मण्डली के जो लोग साथ चलते वे नित्य नये पद और स्तुतियों की रचना करके उनको सुनाते। रज्जबजी उनमें अग्रणी थे। दादूजी भी रज्जबजी की बहुत कद्र करते थे और सदा सादर 'रज्जबजी' कह कर ही पुकारते थे। इधर रज्जबजी भी गुरु की सर्वतोभावेन सेवा करते, अनुभव के पद बनाकर सुनाते, अध्यात्म-प्रसंगों पर चर्चा करते और सदृष्टान्त व्याख्यान देते। दादूजी भी उनको सुनकर प्रसन्न होते। रज्जबजी अपने दृष्टान्तों और नये-नये उपमानों के कारण सम्पूर्ण दादू-समाज में सर्वोपरि माने जाते थे।

ऊपर कहा गया है कि रज्जबजी बचपन से ही कसरत, कुश्ती और व्यायाम के शौकीन थे इसलिए उनका शरीर बलिष्ठ और लम्बा चौड़ा था। गुरु-सेवा में वे हरदम रहते ही थे। एक दिन दादूजी चौकी पर बैठे स्नान कर रहे थे। स्नान के पानी से चौकी के आस-पास की मिट्टी गीली हो गई। गुरु ने खड़ाऊँ लाने को कहा। दादूजी का शरीर दुबला पतला था। रज्जबजी ने चौकी समेत उनको उठा कर खड़ाऊँ के पास रख देने का प्रयत्न किया परन्तु उनसे चौकी नहीं उठी। गुरु के इस चमत्कार के आगे वे प्रणत हुए और तुरन्त खड़ाऊँ ले आए। इसी प्रकार दादूजी मण्डली के साथ 'कहीं' जा रहे थे। बीच में एक नाली बह रही थी। दूसरे शिष्यगण रास्ता बनाने के लिए पत्थर और मिट्टी डालने लगे परन्तु रज्जबजी अपने लम्बे-चौड़े शरीर-सहित स्वयं पसर गये और गुरुदेव को उस पर से निकल जाने की विनय की। ऐसी थी रज्जबजी की गुरु भक्ति।

महात्मा दादू दयाल जी को रज्जबजी एक बार अपने 'अस्थल' पर सांगानेर भी ले गए और वहाँ उन्होंने 'गुरु-महोत्सव' मनाया। बहुत समय-तक गुरु को अपने यहाँ रखा तथा अपने शिष्यों के यहाँ भी ले गए। खूब सेवा और सत्संग हुआ।

यद्यपि रज्जबजी बहुत शिक्षित नहीं थे परन्तु उनमें विलक्षण प्रतिभा और मेधा का योग असाधारण था। जिज्ञासुओं के प्रश्नों का तुरन्त उत्तर देने और शङ्काओं का समाधान करने में वे दादूजी से भी अधिक पटु माने जाते थे। एक बार दुरसा (आढा) नामक चारण अपनी कविता के बल पर स्थान-स्थान पर विजय प्राप्त करता हुआ रज्जबजी के पास आया और यह दोहा पढा—

बावन अक्षर सप्त स्वर, कण्ठ भाषा छत्तीस।
इनके ऊपर जो कथै, तो जानो कवि ईस॥

योग और अध्यात्म-विद्या के अनुभवी रज्जब ने तुरन्त यह दोहा कह दिया:-

बावन अक्षर सप्त स्वर, कण्ठ भाषा छत्तीस।
इनके ऊपर उरभजन, अण अक्षर जगदीश॥

इस परमतत्त्व-बोधक उत्तर को सुन कर-चारण चकित रह गया और उसने रज्जबजी का शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की। रज्जबजी ने कहा, 'शिष्य ही बनना है तो दादूजी महाराज के शिष्य बनो जिससे तुमको परमबोध की प्राप्ति हो सकेगी।'

कहते हैं कि परिचय होने पर बादशाह शाहजहाँ के यहाँ से रज्जबजी को पालकी और चँवर भी प्रदान किये गये थे।

'दादूजन्मलीला में लिखा है कि संवत् 1660 में जब दादूजी नरायणा में परमपद को प्राप्त हुए तो रज्जबजी वहीं उपस्थित थे। कहते हैं कि इसके बाद वे किसी की ओर देखते नहीं थे, प्रायः नेत्र बन्द ही रखते थे। गुरु के देहावसान पर उन्होंने अपने मनोभाव इस प्रकार प्रकट किये—

दीन दयाल दिये दुख दीनन दादूसी दौलत हाथ सौं लीनी।
रोष अतीतन सौं जु कियो हरि रोजी जु रंकन की जग छीनी॥

ग्रीब नवाज गरीब हते सब संतन सूल जु अति गति दीनी।
(हो) रज्जब रोय कहै यहु काहे जु त्राहि जु त्राहि कहा यह कीनी॥

दादूजी मात बुलाय पिता हरि बालक बाल सु गोद ते डारे।
साई समीर लियो घन दादू चहूं दिसि चातक चित्त पुकारे॥

आदित आप सरोवर दादूजी तोषत ही सफरी सिष गारे।
(हो) दादू को गान दुषी सिष रज्जब प्रीति प्रचण्ड सु अन्तर जारे॥

दादूजीकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र गरीबदासजी पाट बैठे। वे रज्जबजी से कुछ अप्रसन्न से रहे इसलिए वे कुछ समय के लिए काशी चले गये। स्वामी सुन्दरदासजी और रज्जबजी में बहुत प्रीति थी। इसलिए वे भी उनके साथ काशी में रहे। कुछ समय (तीन वर्ष) बाद ये लोग वापस आ गये। उस समय रज्जबजी ने गरीबदासजी की प्रशंसा में कुछ पद्य भी कहे थे।

रज्जबजी और सुन्दरदासजी के घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण ही रज्जबजी के मृत्यु-समय का अनुसन्धान किया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि रज्जबजी टींटोली में नहीं, अपने निवास सांगानेर में ही ब्रह्मपद को प्राप्त हुए थे। सुन्दरदासजी को इसका पता नहीं था। वे संवत् 1742 के बाद 1746 सं. में रामत करते हुए सांगानेर पहुंचे। वहाँ पर लोगों ने इस आशंका से कि रज्जबजी की मृत्यु के समाचार से उनको आघात पहुँचेगा, उनसे इस विषय में कुछ नहीं कहा। परन्तु, किसी तरह उनको पता चल ही गया। तब से ही वे व्यथित हो कर रुग्ण होते चले गये। औषधि-लेना भी बन्द कर दिया। कहते 'बैद हमारो रामजी, औषधि हरि को नाम।' अन्त में, संवत् 1746 की कार्तिक शुक्ला 8 बृहस्पतिवार को वे परमपद को प्राप्त हो गये। पुरोहितजी के अनुसन्धानानुसार रज्जबजी एवं सुन्दरदास जी का मृत्यु संवत् एक ही अर्थात् संवत् 1746 था। सुन्दरदासजी' की मृत्यु तिथि उनके दाह-स्थान पर एक पत्थर पर इस प्रकार खुदी हुई बताई जाती है, जो पुरोहितजी ने स्वयं देखी थी—

संवत् सत्रासौ छियाला, कातिक सुदि अष्टमी उज्याला।
तीज पहल (र) भरस्पतिवार, सुन्दर मिलिया सुन्दर सार॥

रज्जबजी दादूवाणी का प्रचार और व्याख्या करते थे तथा स्वयं भी अपनी वाणी और साखियों आदि का दृष्टान्तों और उपमाओं सहित व्याख्यान करते थे। स्वयं दादूजी भी उनकी कथाओं से बहुत प्रमुदित होते थे। रज्जबजी अपने शिष्य भी बना लेते थे। राघवदास कृत भक्तमाल में उनके दस शिष्यों के नाम दिये हैं:- गोविन्ददास, खेमदास, हरिदास, छीतरदास, जगन (जगन्नाथदास), दामोदरदास, केशवदास, कल्याणदास (बड़ा), कल्याणदास (छोटा) और बनवारीदास। 'रज्जब वाणी' में रामदास, अमरदास और मोहनदास के नाम और दिये हैं। एक नारायणदास का नाम और मिलता है जो मारवाड़ में जा बसा था।

ये शिष्य अलग-अलग गाँवों में जाकर बस गये और उन्होंने अपने-अपने स्थान कायम कर लिए, जो 'रज्जब द्वारे' कहलाते हैं। पुरोहितजी ने लिखा है (1) सांगानेर मुख्य स्थान है, परन्तु वहाँ अब रज्जब द्वारे में कोई नहीं रहता। गोविन्ददास की शिष्य-परम्परा में कोई योग्य व्यक्ति नहीं हुआ। यह रज्जब द्वारा सांगानेर में 'व्यासों के घेर' नामक स्थान में है। वहाँ एक छोटी सी पालकी, दो चँवर और कुछ पोथियाँ रखी हैं। हमने यह स्थान देखा है। अन्य रज्जब द्वारे (2) पाटण (3) बाँसखोह (4) डिग्गी (5) चौसला (6) टोंक एवं अन्य कई गाँवों में (7) डोडवाड़ी (8) निबाई (9) टींटोली और (10) भादवा तथा मेवाड़ और मारवाड़ में भी कई गाँवों में बताए जाते हैं।

अपने जीवन-काल में रज्जबजी, दादूजी के साथ तथा उनकी मृत्यु के बाद इन्हीं स्थानों पर घूमते रहते थे— रामत करते रहते थे। रज्जबजी की शिष्य-परंपरा के साधु 'रज्जब-पंथी' अथवा 'रजबावत' कहलाते हैं।

ऐसा माना जाता है और लगता भी है कि रज्जबजी की शिक्षा किसी परिपाटी के अनुसार विधिवत् नहीं हुई थी। वे तो सहजप्रतिभासम्पन्नस्वयंप्रज्ञ और बहुश्रुत-सन्त थे। सर्वोपरि, उनके ऊपर गुरु का हाथ था। इसके बल पर ही वे रचनाऐं करते रहते थे। अध्यात्म ही उनका प्रमुख विषय था। प्राकृतिक, लौकिक तथा पौराणिक आदि घटनाओं कथाओं और उपाख्यानों का उपयोग वे अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्तों

के रूप में किया करते थे। गुरुदेव की स्तुति और प्रार्थना एवं चमत्कार-वर्णन तो सर्वत्र ही दिखाई देता है। एक अनन्त, अखण्ड, अज सर्वव्यापी निरंजन ही उनका आराध्य है। अत: सूफी-आदि परमात्मविषयकसाधना और परमयोगियों की अनहद-नादानुभूति आदि विषयों का भी उनकी रचना में स्वत: समावेश हुआ है। इस प्रकार रज्जबजी की रचनएें उनके अव्यक्त, अगोचर, निराकर-निर्गुण-ब्रह्म की उपासना-सम्बन्धी विशाल और अनुपम-अनुभूतियों का बेजोड़ संग्रह है जो उनकी कृतियों के 'अंग'—निरीक्षण से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

रज्जबजी की दो कृतियां प्रसिद्ध हैं,—एक 'वाणी' जो 'रज्जब-वाणी' भी कही जाती है और दूसरी 'सर्वङ्गी'। वाणी में साखी, दोहा, अरिल्ल, सवैया, छप्पय, त्रिभंगी, सोरठा, चौपाई, आदि छन्दों में विविध विषयों का बड़ी उत्तमता, और पहुँच के साथ वर्णन हुआ है। इसकी संक्षिप्त सूची से ग्रन्थों का सामान्य परिचय प्राप्त हो सकेगा—

(1) साखी-193 अंगों में रज्जबजी का समस्त ज्ञानपुंज समाविष्ट है। इसमें 5352 छन्द हैं।

(2) पद-20 राग रागिनियों में 109 पद हैं।

(3) सवैया- 26 अंगों में 117 छन्द।

(4) गुण छन्द-दोहा, त्रिभंगी आदि।

(5) गुण अरिल्ल-9 अंगों में 82 छन्द।

(6) तेरह लघुग्रन्थ- 1. प्रथम बावनी, 2. बावनी अक्षर-उद्धार, 3. पन्द्रह तिथि, 4. सप्तवार, 5. गुरु उपदेश आतम उपजि, 6. अविगति लीला, 7. अकल लीला, 8. परम पारिख, 9. उतपति-निर्णय, 10. गृहवैराग्यबोध, 11. पराभेद, 12. दोषदरीबै, और 13. जैनजंजाल।

(7) कवित्त छप्पय- 40 अंगों में 89 छप्पय।

(8) शिष्यों द्वारा रचित महिमा छन्द—इसमें चैनदास, रामदास, खेमदास, रामदास, कल्याणदास और मोहनदास आदि सन्तों के द्वारा रचित, रज्जबजी की महिमा का वर्णन है।

रज्जबजी की दूसरी कृति एक विशाल संग्रह-ग्रन्थ 'सर्वंगी' है जिसको 'सर्वांग' अथवा 'सर्वांगयोग' भी कहते हैं। इसमें दादूजी की वाणी और रज्जबजी की अपनी वाणी के अतिरिक्त दृष्टान्त-समविषयक अनेक अन्य सन्तों, महात्माओं, भक्तों, फकीरों और कवियों की साखी, पद, वाणी और रचनाऐं संकलित हैं। इसमें सब मिलाकर 146

अंग हैं जिनमें दादू, रज्जब, कबीर, कृष्णदास, अरहंतदेव, हरदासिंह, नापा, नामदेव, महमद, जनगोपाल, वाजिद, परमानन्द, सूरदास, बखना, अहमद, नानक, गोरख, गोस्वामी तुलसीदास, छीपा, रैदास, परमानन्द, अग्रदास, हरदास, पीपाजी, माधोदास, वीसा, परसराम, दीनदयाल, सोम, चतुर्भुज, चत्रदास, जगन्नाथ, गरीबदास, मुकुन्द, बेनीदास, फरीदा, ख्जाचन्द, जगजीवन, खेमदास, अमरदास, भींव, विष्णुदास, जैमल, सेन, बीसा, अग्रदास, रुद्रनाथ, अंगद, सुखानंन्द, कुतुब, हणवन्त, त्रिलोचन, नरसी, नारायण, रामानन्द, विद्यादास, सांवलिया, परसराम, त्रिलोकदास, बींझल, माथुर, नागरदास, शिवश्रमदास, प्रिथीनाथ, कीतो, बलदास, चरपट, हरिसिंह, नागर, रामदेव, संतदास, गोपाल, पूरणदास, बेलियानन्द, बोहिथदास, सेख बहावदी, धना, श्रीपति, सीहा, आदि की रचनाएं सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त शंकराचार्य, भर्तृहरि,. वसिष्ठ आदि के सँस्कृत, पद्य, महात्माओं द्वारा रचित निर्गुण की आरतियाँ तथा मौलाना रूम, मनसूर, खुसरो, अहमद, क़ाजी महमूद आदि सूफी-सन्तों के फारसी बैतों आदि का भी इसमें विषय और प्रसंगानुसार समावेश किया गया है।

सर्वंगी की बहुत थोड़ी ही प्रतियाँ यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं और उनमें भी भिन्नता है, इसलिए उसका मूलस्वरूप ज्ञात कर लेना कठिन है। स्व. पुरोहित हरिनारायणजी के संग्रह में (जो अब सुरक्षित हैं) एक गुटके (सं. 14) में सर्वांग योग पत्र 162 से 507 तक उपलब्ध है। यह गुटका बहुत जीर्ण है और संवत् 1732 से 1743 के बीच का लिखित माना गया है, अतः रज्जबजी के समय का भी हो सकता है। पुरोहित जी ने इस ग्रन्थ का संकलन-काल संवत् 1650 से 1740 के बीच माना है क्योंकि इसमें स्वयं रज्जबजी की भी अधिकांश वाणियां सम्मिलित हैं। रज्जब वाणी में समस्त वाणियाँ उनकी हैं, सर्वंगी में उनके बहुत से पूर्ववर्ती प्राचीन महात्माओं और सन्तों के वचन भी संकलित हैं। इन रचनाओं से रज्जबजी के अध्यात्म-सम्बन्धी विपुल-ज्ञान और प्रतिभा का परिचय मिलता है। साथ ही, उनकी अथक-परिश्रमशीलता, धैर्य, ज्ञानपिपासा, सत्संगप्रियता और सम्पादन-पटुता का भी अनुमान लगाया जा सकता है। ब्रह्म, जीव, माया, प्रपंच, इन्द्रियग्राम, देह-आत्मा सम्बन्ध आदि विषयों का उनको विशदज्ञान था।

रज्जबवाणी के तो अब तक तीन चार संस्करण निकल चुके हैं, जिनमें डॉ. ब्रजलाल वर्मा संस्करण (1963) और हिन्दी व्याख्या सहित पुष्कर के स्वामी नारायणजी (1967) का संस्करण मुख्य हैं। 'सर्वंगी' के सर्वांग प्रकाशन का मुझे कोई ज्ञान नहीं है। अभी 1980 ई. में कैथोलिक विश्वविद्यालय, ल्यूवेन (Lauven) के श्री विनान्द एम. कैलिवर्ट (Vinand M. Chllewaert) ने सर्वङ्गी का एक संस्करण निकाला है, जिसमें ग्रन्थ के

सभी अंगों की सूची एवं रज्जबजी के 848 पद्यों (पद, साखी व अरिल्ल आदि) का सम्पादन एवं अनुवाद सम्मिलित है, कुछ व्याकरण पर भी विचार किया है। एक अध्याय में रज्जबजी के सिद्धान्तों और मान्यताओं का भी विवरण है। परन्तु सम्पूर्ण 'सर्वङ्गी' की सामग्री का प्रकाशन सम्भवतः नहीं हुआ है। ऐसा प्रकाशन परम आवश्यक है क्योंकि इस संग्रह-ग्रन्थ में भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े महात्माओं के वचन संकलित हैं और उनके एकत्र अध्ययन से भारत राष्ट्र की एकता एवं समान चिन्तन प्रणाली का ज्ञान हो सका है। रज्जबजी की भाषा तो साधु की भाषा है उसमें भावाभिव्यक्ति के लिए किसी क्षेत्र या प्रान्त की भाषा या बोली का प्रतिबन्ध नहीं है। सहज स्वाभाविक रूप से वे अपनी बात कहते हैं। परन्तु जिन विविध सन्तों की वाणियों, साखियों, पदों, कवित्तों और राग-रागिनियों के माध्यम से अपने विचार प्रतिपादित किए गये हैं, वे भी भारतीय भाषाओं की विविधता में एकता के दर्शन कराने वाले हैं। यह महान् संग्रह सन्त-साहित्य ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की एक अमूल्य निधि है और यहाँ की राष्ट्रीय एकता का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

रज्जब की साधनाप्रणाली भारतीय योगशास्त्र से भिन्न नहीं है। वह भी मन, प्राण, आत्मा, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के एक दूसरे में अन्तर्लय की अवधारणा पर आधारित है। पिण्ड के ब्रह्माण्ड से समाने की बात उन्होंने इस प्रकार कही हैं:-

आतम अगम अकास भवन तिहिं बसै विसंभर।
मन सु पवन ससि सूर, प्रीति परिदक्षिन ऊपर॥

तारे तत तहां चलैं, संत हुइ सेवक सारे।
इन्द्री आभे पंच, गगन में गुप्त सुआरे॥

खिवै न मनसा बीज, सलिल सूखै नहिं लेसै।
जन रज्जब भू संत, देखिलै सूक्ष्महि देसै॥

रज्जब-वाणी; उपदेश को अंग; क-2

रज्जब ब्रह्म विहंग के, आतम अंड समान।
ये बाबा सेओ नहीं, क्यूं निपजै तन जान॥

वही; विनती को अंग; साखी 30

रज्जबजी मानते थे कि शरीर और मन के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड को खोजना चाहिए, इसके लिए सद्गुरु से मार्ग-दर्शन-प्राप्त करना चाहिए।

तन मन में मारग मिल्या, सतगुरु दिया दिखाय।
जन रज्जब रमि रह्या उस, परम पुरुष कने जाय॥

वही; मधिमार्ग-निजस्थान निर्णय; साखी-1

सप्त द्वीप नव खण्ड फिरि, हाथ पड़ै कछु नाहिं।
रज्जब रजमा पाइये, आये उर धरि माहिं॥

अन्तरि लाँघे लोक सब, अन्तरि औघट घाट।
अन्तरजामी कूं मिले, जन रज्जब उर बाट॥

आत्मा का परमात्म-सम्बन्ध होने में माया एक बड़ी प्राचीर बन कर खड़ी है उससे बच कर ही साधना की सीढ़ी पर चढ़ा जा सकता है। रज्जबजी का कथन है कि मन, कर्म और बचन इन तीनों को शुद्ध करके तथा माया को छोड़कर राम का भजन करना ही संसार में मुख्य कार्य है—

मन वच क्रम तिरसुद्ध व्है, माया तजि भजि राम।
जन रज्जब संसार में, येता ही है काम॥
र.वा. उपदेश-चिंतावणी, सा. 131

परन्तु माया बड़ी प्रबल है उसने सभी चौरासीलाख जीव-जन्तुओं को अपने चेले बना लिए हैं (वश में कर लिए हैं)। इस महाशक्ति के समान कौन बड़ा है यद्यपि यह स्वयं परमात्मा की चेली है परन्तु और सब इसके चेले बने हुए हैं—

चेरी के चेरे किये, चौरासी लख जंत।
तौ रज्जब कहि कौन है, शक्ति समान महंत॥

माया का अंग; 17

इसलिए इसके बन्धन तोड़कर, इसका राग छोड़कर निरंकार की आराधना में सुमिरण द्वारा लीन होना ही जीव का मुख्य उद्देश्य है। जल की तरंग की तरह जीवन, अस्थिर है अतः यह अवसर, हाथ से निकल गया तो पछताना पड़ेगा।

राग करहु रंकार सौ, अलफ अराधां मन।
रे रज्जब संसार में, और न ऐसा धन॥ 160॥

जल तरंग कौ जीवणौ, गाफिल कहा गंवार।
पीछे ही पछिताहुगे, रज्जब रांम संभार॥ 161॥

इस प्रकार रज्जबजी तो प्राणीमात्र के उद्धार के लिए समर्पित हैं। जाति, सम्प्रदाय, धर्म और फिरके उनको किसी दायरे में आबद्ध नहीं कर सके। समूचे राष्ट्र ही क्या, विश्व के साथ उनका बन्धुत्व-भाव जगा हुआ था। उनके लिए राम और रहीम में को भेद नहीं था। अपनी सर्वंगी में उन्होंने सभी उच्चकोटि के सन्तों के उपदेश वाक्य संकलित किए हैं जो विश्व-एकता का संदेश देते हैं।

ज्यूं आतम अरवाह इक, त्यूं ही राम रहीम।
उदित आज कुछ ही नहीं, रज्जब समुझि फहीम॥

जब वे रस बाँटने निकले हैं तो किसको पराया समझें? रस की प्यास तो सभी को है:-

कुल मर्यादा मैड सब भागी बैठा माठी नैरा।
जाति पाँति कछु समझौं नाही किसकूं करौं परेरा॥

रस की प्यास आस नहिं औरों इहि मत किया बसेरा।
ल्याव ल्याव याही लौ लागी पीवै फूल घनेरा॥

रज्जबजी की रचनाऐं और संकलन भारतीय अध्यात्म एवं भक्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों का विपुल भण्डार है। इसके अवलोकन और अध्ययन से आडम्बरविहीन निश्च्छलसाधना के रहस्यों का परिचय होता है और प्राणिमात्र के प्रति समत्व भावना का जागरण होता है जो सभी प्रकार के मतभेदों, चाहे वे साम्प्रदायिकस्तर के हों अथवा राष्ट्रीय हों अथवा अन्य मतवाद के हों, तिरोहित हो जाते हैं।

महात्मा रज्जबजी की 'वाणी' और 'सर्वंगी' के अतिरिक्त जयपुर के पोथीखाना स्थित खासमोहर संग्रह में गुटका सं. 1926 में हमको 'रजब नामो' संज्ञक एक रचना मिली जो रज्जबजी की ही रचना है। इसका लिपि काल संवत् 1786 है जो रज्जबजी के निधन से चालीस वर्ष बाद का ही है। पु. हरिनारायणजी के लेख, उनके संग्रह की सूची, डॉ. ब्रजलाल वर्मा के शोध-निबन्ध तथा 'रज्जबवाणी', श्रीकैलीवर्ट की सर्वङ्गी आदि में हमको इस शीर्षक का कोई उल्लेख या उद्धरण नहीं मिला अत: यह एक नई उपलब्धि हो सकती है। इसमें गौड़देशीय राजा गंगाराम के पुत्र गोपीचन्द को उसकी माता मैणावती द्वारा उपदेश और तदनन्तर योग प्राप्ति की कथा वर्णित है। उर्दू में नाम: शब्द, ग्रन्थ, पुस्तक या विवरण के अर्थ में आता है अत: रज्जबनामो का अर्थ हुआ रज्जब का लिखा विवरण। इसका यथावत् पाठ दिया जा रहा है-

॥ श्री गणेशाय नमः ॥ अथ अध्यातम-रजबनांमौ लिष्यते॥

॥ चौपई छन्द॥

उं नमो निरंजन देवा, अंजन रहित सो अलष अभेवा।
काल करम नही लागै कोई, ताहें सुमरें जीव सदगति होई॥ १॥

सुमर जाकों सेस महेसा, ब्रहमा विसन अरु जपै गणेसा।
सारद नारद सब सिर नावै, रिद्धसिद्धि मुकति ग्यांन पद पावै॥ २॥

करै बंदगी धरण अकासा, पांणी पवन हुकम के दासा।
चंद सूर भाग्या अनुसरै, सुर नर सीस चरण तर धरै॥ ३॥

पीर पैगंबर सिध अरु साध, निस दिन करै ब्रह्म आराध।
निज बंदा तहां धू प्रहलादू, नाम कबीर जपै जिन दादू॥ ४॥

जिन संतन कै हरि मद पेम, रज्जब कहै करों पद नेम।
आदि अंत संतन सिर नाऊं, रजबनामें का में गुन गाऊं॥ ५॥

भागवत भगतां सो जप कीजै, उभै सुमांनि सुमरि सुष लीजै।
कोटि निन्याणवै सीझे राजा, भजे भगवंत सिरे सब काजा॥ ६॥

तिन में गोपीचंदा परसिध, ताको जस बरणों हों बुधि।
अरज करों सब संतन आगैं, गोपीचंद कों बरणों त्यागैं॥ ७॥

॥ दोहा ॥

आदि अंत सब संत मिलि, देहु पेम कौ दांन।
कहौ कवण विधि ऊपज्यौ, गोपीचंद कौ ग्यान॥ ८॥

॥ चौपई॥

गौड देस में गौड बंगाला, गढ धौलागर नगर भुवाला।
गंगाराम राजा कौ नांम, गोपीचंद पुत्र तिहि ठांम॥ ९॥

पिता पाट गोपीचंद राजै, सीस छत्र नृप धजा विराजै।
सूरज तेज तपै गोपीचंद, देस देस के नवै नरिंद॥ १०॥

बड नृप सेवैं तस पाल, लाषौं क्रोडों करै पसाव।
गज वाजन् कौ कोनही पार, हीरा मांणिक मोती भरे भंडार॥ ११॥

नौबत बाजै गाजै गोम, थरकै मेर समुद अरु व्योम।
बहु गुन राग रंग सुष सागर, नौ षंड जाकी आंन उजागर॥ १२॥

सोला सै अरधंग्या नारि, बड़े गढपती की राजकुंवारि।
बारहसें कन्या तिहिं केरी, दासी अगनित वरनी बहु चेरी॥ १३॥

कनडे पाइक जोध अनंत, तीस हजार घूमै मैमंत।
गढ धौलाघर एक नरिंद, इन्द्र सरीषौ राजा गोपीचंद॥ १४॥

॥ दोहा॥

बाल दसा षोडस बरस, बहु तप तेज उजास।
आकासै जिमि रवि ऊगमै, दस दिस केर प्रकास॥ १५॥

॥ चौपई॥

इंद्र पुरी जिम इंद्र विराजै, धृंम अंकूर गोपीचंद छाजै।
एख समै एसौ भयौ आई, सनान करण बैठे नृपराई॥ १६॥

वसतर उतारै तन का नूर, अंग झलकै जाणे मानों सूर।
सुंदर सोभत कंचन गाता, रिषत चल्यौ नीर चष माता॥ १७॥

माता मैणावती हीड़ झूरी, अैसी उतम देह ह्वै है धूरी।
महल सतषणै बैठी माता, आंसू आइ परे नृप गाता॥ १८॥

बादर मेह नहीं है अकासा, निरषी माता महल निवासा।
राजा सोच्यौ मन ही विचारी, माता रुदन क्यों करतु दुबारी॥ १९॥

धिग मम राज सुष धिग मेरौ, माता तोहि दुष हौ किहि केरौ।
करि भंजन नृप उठे सिताब, लघु दीरघ पें बूझ्यौं जाब॥ २०॥

नारी चेरी बूझीइ दासी, माता दुष पायौ किहि पासी।
कर जोरे राजा ऐसें कहै, एकाग्र माता आगैं रहै॥ २१॥

लघु दीरघ बीनती ऐसें करै, राज राजा सिर ऊपर धरे।
महल गए निज गोपीचंद, माता कै मम भयौ अनंद॥ २२॥

सिंघासन पर विछोंना कीना, राजा ठाढे अनमने दीना।
माता कहौ दुष का निरना, नैंनां नीर आयौ किहि करना॥ २३॥
ताहि न कबहुं देषौं नैनां, जिन माता कों कीयौ अचैना।

॥ माता वाच॥

मोहि दुष कौंन देहि पुत्र तुं समस्थ, माता नटै नृप मानै न कथ॥ २४ ॥

भोजन नीर नहि भषों हों माता, ज्यौं है त्यौं कहौ सत्य बाता।
कौंन भांति मन में दुष पायौ, नैनां नीर माता तुहारै आयौ॥ २५॥

सुनि सुत साच बोली वाचा, जल बुद बुदा सहू तन काचा।
कंचन बरन तरन पन एही, हो ही सो सुत जरि बरि षेही॥ २६॥

सुंदर सोभित अति छबि गाता, बिन सत देषि बिसूरी माता।
जब सुत देह षेह ह्वै जाई, तब काके राज पाट बंधव भाई॥ २७॥

हस्ती घोड़ा महल न माला, सब जीव आए पहुंचे काला।
दास षवास सुंदर सुलताना, संग न को सुत चलै न प्राना॥ २८॥

गांव गढ़ सुपने ज्यों जाई, जब या देह मिलै धर माही।
माता ज्ञान कह्यौ समुझाई, राजा सोचि रह्यौ मन मांही॥ २९॥

॥ राजा उवाच॥

पुनि राजा बोले सुनि माता, करि है विनसै रचे जे विधाता।
क्यों हू देह रहै कहै महाराजा, दाव उपाव जाहि तन साजा॥ ३०॥

ज्यों तुम कहौ करों में सोई, जिहि विध यो तन अथिर न होई।
दांन पुंन तुम कहौ सो कीजै, सोना रूपा कपरा दीजै॥ ३१॥

हाथी घोड़ा रतन भंडार, पर जौ औ तन रहै करार।
तन सम माता तोलों मोती, रहै जौ देह षेह या होती॥ ३२॥

तीरथ वरत जाप जौ कहीइं, माता कहहु जिहिं भांति न मरीइं।
गोपीचंद गिणावै माया, षरचौ पुत्र तो हूं अस्थिर काया॥ ३३॥

॥ दोहा॥

दान पुन्य तीरथ व्रत (वरत), कटै न काल करम (म्म)।
वचन कहै मैणावती, धरि सुत जोग धरम (म्म)॥ ३४॥

राज तजे बा पाट तजे बा तजे बा हस्ती घोड़ा।
सत्य भाषै माता मैणावती रे पूता कलि मैं जीवन थोड़ा॥ ३५॥

॥ राजा उवाच॥

सोलासें रांणी बारासैं कन्या बंगाल देस बहु बड़ भोगी।
बारह बरस मोकों राज करणदै पीछै होऊंगा जोगी॥ ३६॥

॥ माता उवाच॥

आज करता रे कालि करंता पूताकाया झरै ज्यौ कलाल की भाठी।
ऐसी काया तेरी पिता की होती जलि बलि भई मसाण की माटी॥ ३७॥

मरहिंगे मर जाहिंगे मसाण होइगी छार।
कछु परमतंत चीन्हौ गोपीचंद राजा ज्यौं उतरौ संसार भौ पार॥ ३८॥

॥ राजा उवाच॥

सुष राजं सुष पाटं सुष देसं सुष त्रिया सुष मंदिरं।
सुष गज बाज सुष एन छूटै माता असथिरं॥ ३९॥

॥ माता उवाच॥

राज (न) होसी रे पूता पाट न होसी, न रहसी जल बिंब काया।
सत्य भाषंत मा मैणावती, भ्रम न भूलौ रे माया॥ ४०॥

राजा कै घरै रांणी होती, हम घरै होती माई।
सात षणै चौबारै रहती, गोंपीचंद कहै ओ ग्यांन कहां थी ल्याई॥ ४१॥

गुरु हमारै गोरख बोलीइ, चरपट है गुर भाई।
एक सबद गुरु गोरष दीया, तब में पायो ग्यांन मैणावती माई॥ ४२॥

॥ राजा उवाच॥

कोण सु हमकों भात (षु) लावै, कौंण पषालै पाई।
कहां सो मेरे मेडी मंदिर, कहा मेरे मैणावती आई॥ ४३॥

॥ माता उवाच॥

अलष तुमकों भात षुलावै, गंग पषालै पाई।
रुष वृष तेरे मेडो मंदिर, घर घर मैणावती माई॥ ४४॥

॥ राजा उवाच ॥

माता में जोग न जाणों जुगति न जाणों, न भेट्या सतगुर राया।
बाला राजा राज बईठा, किस बिध राषों काया॥ ४५ ॥

॥ माता ॥

जोग जुगति कीरे पूता षबर बतासी, करले सतगुरु राया।
रहै न अपर छन कांई न कांई न समझै, तुम ग्रेहज धरा दायां॥ ४६ ॥

माता कहै सिध प्रकास, गोपीचंद न समझैं तास।
दुरबल देही विगुणति रहै, विन बूझै सिध ज्ञान न कहै॥ ४७ ॥

मोंन मुनीसुर सुमिरण भए, आइ बैठे राजा उठ गए।
बिन उपदेश ज्ञान न पावै, तृषा बिना जल काहु पिलावै॥ ४८ ॥

बालक राजा समझै नांही, मोटी निधि आई घर मांही।
जाणै नहीं तो त्रिफल जाई, पारस है पर पारष नांही॥ ४९ ॥

रहै नियारा घट ही मांही, एहि विधि साध जुदे जग मांही।
ज्यों मणि श्रप रहै इक वाही, ... ॥ ५० ॥

जलचर कवल एक सर वासा, सो जलचर सो अभी अभ्यासा।
ऐसें जनम न है मन मांही, चरम द्रिष्टी समझै नांही॥ ५१ ॥

जाणै कोइक समझै कोई, जाणै साध परछा होई।
पीर पाइगा रहै जलंधी पाई, कोरे कण ही बीणि चुणि षाई॥ ५२ ॥

मैणावती पाक पहुंचावै, अमृत भोजन सिध ही षावै।
हाजर होइ ताहि लै दीजै, आतमज्ञान भेद नहीं कीजै॥ ५३ ॥

चरवादार लोभ के लागै, तपसीनै दुष दीयौ अभागै।
दुष्टनि दुष्ट मतौ उपाओ, दीरघ षतक ताहिले डार्‍यौ॥ ५४॥

लीद राष फूस लीयौ पूर, सिध सरीर सों है दूर।
जीवत मृतक अटल धियांन, सुष सागर में झूलै प्रांन॥ ५५ ॥

कष्ट कलेस नहु व्यापै पीर, मार्‍यौ मरै न सिध सरीर।
धरनि अगनि जल पवन अकास, पांचौं तत सिध के दास॥ ५६ ॥

बंदे कों पीड़ा नहि करै, आज्ञा हुकम मांहि संचरे।
काल मीच जन सों सब भागै, षडग धारा विष त्रास न लागै॥ ५७॥

॥ दोहा॥

अविनासी घरि झूलै प्रांन, देही रहै धरनि असतान।
षडगधार विष ना मैर, कोई औगुण व्यापै नांहि॥ ५८॥

राम रहै त्यों जन रहै, काल झाल जल मांहि।
काल सझा द्यै जगत कौ, साधू चढै न हाथ॥ ५९॥

ताकौं अगनि न दहि सकै, चंद बडहुं कै साथ।
सिद्ध जलंध्री अैसें रहै, जगत अगना भी भेद नहि लहै॥ ६०॥

बिद्र सहर रह दषण देस, कनई पाव तहां सिष प्रवेस।
ताकै संग चवदासें चेला, अरध गुपत अरध प्रगट पैला॥ ६१॥

बिद्र सहर कीनौ परमोधा राजा प्रजा सिषायौ बोध।
जोजन दस नग्र को विसतार, तामें और न ज्ञान विचार॥ ६२॥

लघु दीरघ सिष करि राषे, कन्हीपाव गुरु जिन आषे।
सिद्ध सिंघासन बैठो आई, राजा रहै षडो इक पाई।
सिगरे होइ रहे आधीनता, सहर बिदुर सब ही बसि कीन्हा॥ ६३॥

फेरी सारै नग्र दुहाई, और अतीत न आवै भाई।
चिहूं दरवाजे गाढा काई, चाकर हुकुम ताहि समुझाई॥ ६४॥

कन्ही सिध परिछा करै, टांके नाद कोट कांगुरे।
जो इह नाद सबद बाजावै, सोई अतीत नग्र में आवै॥ ६५॥

चहुं दरवाजे बांधे नाद, कनई पाव कीन्हा षट दरसन सूं वाद।
केतेक दिन यूं भये बितीत, बैठि रहे चिहूं दिसा अतीत॥ ६६॥

कोई अतीत न पावै भिष्या, बिद्र सहरि मडी सिध परष्या।
घर घर सिध न सर सर हंस, तिरि आय गिर गिर अंस॥ ६७॥

॥ दोहा॥

ठांउ ठांउ चंदन बन नहीं, सूरन के दल नांहि।
सकल समद मोती नहीं, त्यों साधो नहीं जग मांहि॥ ६८॥

॥ चौपई ॥

बहुत दिवस ऐसी विध गए, गोरष मता सहज ही गए।
सुंदर सहर बाग अर वारी, सुफल वृछ जल अति भारी॥ ६९ ॥

अजब बाग में बैठे आई, भिष्या कूं शिष्य दीयौ पठाई।
सिष सहर दरवाजै गयौ, ऊठ्यौ पौरिया आडौ भयौं॥ ७० ॥

नाद पौरिइ दीयौ बताई, आगै पंग तूं देह बजाई।
हाथ न पहुंचै नाद अजीत, सोचि विचारि फिरि चल्यौ अतीत॥ ७१ ॥

जाइ अतीत कह्यौ सब भेव, पाषंड इह माड्यौ गुर देव।
कर ले पत्र चले सिध राव, देषै या नग्री को भाव॥ ७२ ॥

गोरषनाथ पहुंचे तब पौरि, छड़ी दार आडौ भयौ दौरि।
हम अतीत अपूरब प्रांण, काहे न देहु नग्र में जांण॥ ७३ ॥

सोई अतीत नग्र में आवै, विन कर पहुंचै नाद बजावै।
कछु यक विलंब पंथवट कीनौ, गोरष हुकम नाद को दीनौ॥ ७४ ॥

नाद हुकम सात सुर दीना, आसन आए नाथ धू वीना।
वागै चार्‌यौं नाद अजारा, थरहर सहर डर्‌यौ सब सारा॥ ७५ ॥

गोरषनाथ कै दत्तत्रेय, धूंधरीमल के ईसुर एय।
राजा परजा चले विचारि, कनहीपाव कों ले दीदार॥ ७६ ॥

कनही पाव कीयौ आदेस, गोरष तर के वचन प्रवेस।
घाली पुनि पुरौजन घात, अैसे गुर सिष भिस्त न जात॥ ७७ ॥

जो तुम अैसे हो सिधराय, तौ गुर गाडूयौ काढौ जाइ।
गुरु हमारै भंग न होई, परं गुरु तुम्हारै कीनी जोई॥ ७८ ॥

गुरु घरबारी चेला अवधूत, भला विगूता लंडी का पूत।
चमक भई दुहुं चित न मिले, गोरषनाथ गुरु की दिशा चले॥ ७९ ॥

सींघल दीप भवै या साथ, बालक रूप कीयौं सिध नाथ।
सिंघल दीप मछंदर भूप, तहां गोरष गए भवै या रूप॥ ८० ॥

महा प्रवीन नाचै अरु गावै, राग माहिं गुरू समुझावै।
चेत मछंदर गोरष आया, मुषें न बोलै मादल वाया॥ ८१॥

गुरु कहौ कहा यह कीना, सरबस चोर बाघनी लीना।
गावत कहत ग्यांन की गाथा, मछेन्द्र पैचांन्यौ गोरषनाथा॥ ८२॥

गुरु कै जाइ चरन सिर नायौ, बिविध भांत सतगुरु समझायौ।
रस कस बह गया रह गई छोई, मछंद्र कहै अब जोग न होई॥ ८३॥

बाकस बहि गया रहि गया सारं, गोरष कहै अजहूं जोग अपारं।
मीननाथ सुत मारे जिवायौ, यों मछेन्द्र पें राज छोड़ायौ।
गुर ले चाल्यो गोरखनाथ, षोई वस्त चढी पुनि हाथ॥ ८४॥

सींघल दीप की पदमनी, सुंदरी तहां षेलवा चाल्या।
मन मछेंन्द्र पड्या माया में, तब गोरष ज्ञांन निकाल्या॥ ८५॥

॥ दोहा॥

धन गोरष सिद्ध नुं. मित, गुर काढे करि डाव।
कनई पाव गयौ धौला गिर, जहां जलंधरीपाव॥ ८६॥

कनहीपाव जाय दियौ डेरौ, गढ धौलागिर चिहों दिस घेरौ।
मैणावती माइ सुधि पाई, बैठि सुषपाल दरसन (कूं) आई॥ ८७॥

विविध प्रकार करी बहु भेट लै धरी, कानही पाव कबूल न करी।
हमें तुमें माई है जो तुम्हे हेट, गुर दरसन करि लेहू भेंट॥ ८८॥

माथौ अरज करि माता नें कीयौ, गोपीचंद ले पाव लगीयौ।
कनही पाव जाइ पूर्‌यौ नाद, धरमहि दीयौ जलंधरी साद॥ ८९॥

सिष चौदासै नाद बजाबै, केई प्रगट केई गुपत सुनावै।
आनंद भयौ प्रतिज्ञा पूरी, षोदै धर गुर होइ हजूरी॥ ९०॥

षोदी धरनि चरने जाइ लागा, बैठे गुर तहां सुंदर बागा।
फूल सुगंध भंवर गुंजारा, फल जल सकल अकल अहारा॥ ९१॥

करी अरज बाहिर पधरावन, पावै दरसन सकल है पावन।
रुके वहल सुषासन साजे, करे जतन गुर आंनि बिराजै॥ ९२॥

जै जै कार सकल जग कहै, बारह वरस धरनि गर्भ रहे।
जैसें कनक त लागै काई, दीप न देह काठ नग षाही॥ १३॥

दसन देषत सब भयौ अनंद, सींचीं माता गोपीचंद।
किहि विधि चरन सरन गहि लीजै, कनही पाव कहै सो कीजै॥ १४॥

सपत धात का पूतला सात, सुंदर अधिक सवारे गात।
कनही पाव वीनती गुदरावै, राजा कहै पूतला सिर नावै॥ १५॥

मात पूतले सातों बार, कहर निजर सूं कीने छार।
बार आठमी गोपीचंद आये, कनहीपाव पर गुरु रिसाये॥ १६॥

मेरे षाली कीए सराय, परै कांनही जलंध्री के पाव।
गुरु सों कपट जगत सों साच, तेरों पंथ निरफल गुरु की वाच॥ १७॥

॥ दोहा॥

गुरु बड़ों की बात कों, लोप्यां भलौ न होय।
कनही पाव के पाव भेट तें, गोपीचंद अजरामर होइ॥ १८॥

गोपीचंद त्यागे राज पाट गढ देस, सबही तजिकै चल्यौ नरेस।
हैवर गैवर रतन भंडार, गोपीचंद भयौ संसार कै पार॥ ९९॥

स्वारथ मीत मिलै सब कोई, अक्रम क्रम जीव संग होई।
एकौ सगा है सिरजनहारा, राजा लीयौ ग्यांन सब सारा॥ १००॥
ग्यांन पकडि गोपीचंद लीयौ जोग, नर नारी लोये सब लोग।

॥ दोहा॥

जेते झूझण कूं कहै, ते हूं सबै न सूर।
रजब कहै बिरला रहै, जब बाजे रण तूर॥ १०१॥

॥ राग रांमकली॥

बाहुड़ौ बावड़ौ गोपीचंद राजा, बाहुरि धौलागर आवौ जी।
इछा में भोजन मन चीत राजा, भाव भगति सूं पावौजी।
अगर चंदन की मंढी बंधावौं, सोने की नाद अरु सूबा जी।
गगन मंडल में मंढी हमारी, चंद सूर दोनु बाजी।

सहज सीलना पत्र हमारै, अनहद सीगी नाद जी।
कूर कपूर तुमे जीमता हो राजा, ऊपर पांन की बीड़ा जी।
कूर कपूर हमारै सास उसासा, कुरंटक अमल प्याला जी।
सोड़ तलाई तुमें पोढ़ता हो राजा, साथ रडै किस सोसो जी।
सोड़ि तलाई हमारै सतगुरवाणी, धो में सेज्यां करस्यां जी।
कौण तुमारै चरण पषालै, कोंण करै तत्र बात जी।
कोंण तुमारै सेज पाथरसी, कोंण परुससी भात जी।
गंगा राणी हमारै चरण पषालै, मनसा करैं तत बात जी।
कथा हमारै सेज पाथरसी, अलष परससी भात जी॥ १०२॥

सिध सकल पषाणै गोपीचंद सिध, राजा गोपीचंद पाया अषै रिध।
छोड़ै जंजाल काल तैं, छूटे, ज्ञान समाधि अमृत रस घूंटै॥ १०३॥
अजर अमर कीयौ गोपीचंद, गुरु प्रताप तें अमर नरिंद।

जां लगें मेर सूरज प्रकास, तां लगें गोपीचंद प्रकास।
रजबनें कह्यौ गोपीचंद ग्यांन, रजब नाम एह कीयौ प्रमांन॥ १०४॥

इति श्री रजब नामौ संपूर्ण:; संवत १७८६ वर्षे माह सुदी १५ । श्री।

❑❑

सन्त-साहित्य में मानव-मूल्य

— डॉ. धर्मपाल मैनी

मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने का श्रेय उसमें अन्तर्हित मूल्यों को ही है। वस्तुत: प्रत्येक मानव इन अन्तर्हित मूल्यों के आधार पर ही, जीवन व्यतीत करता है। जहाँ वैयक्तिक जीवन में कष्ट सहकर भी, वह इन मूल्यों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, वहाँ सामाजिक क्षेत्र में भी लोक-कल्याण से अनुप्राणित होकर वह त्याग करता हुआ कष्ट, सहता है। इतना ही नहीं, धर्म, जाति राष्ट्र एवं मानवता पर विपत्ति आने पर तो वह प्राणों का बलिदान देकर भी इनकी रक्षा करने में ही, जीवन की सार्थकता अनुभव करता है। मध्ययुगीन सन्त उसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

किसी देश, काल और परिस्थिति में जन-सामान्य की उदात्त मान्यताऐं ही मानव-मूल्य होते हैं? शाश्वत-मूल्य देश, काल और परिस्थितियों की सीमा को लाँघकर सदा एक से ही बने रहते हैं। प्रत्येक युग का समाज अपनी मनोवृत्ति, चेतना एवं आवश्यकता के अनुसार उनकी व्याख्यायें बदलता रहता है, सम्भवत: इसीसे सम-सामयिक-मूल्यों का जन्म होता है। इस प्रकार न केवल व्यक्ति, अपितु समाज और मानवता के संचालक एवं पथ-प्रदर्शक, ये मानव-मूल्य ही होते हैं। मानवता के विकास का इतिहास इसका साक्षी है।

मानव-मूल्य जहाँ उदात्त आचरण के माध्यम से सुसँस्कृत व्यक्ति का सृजन करते हैं, वहाँ समाज के हित के लिए त्याग करने वाले को, उत्कृष्ट सामाजिक भी घोषित करते हैं और जब कभी वह मानव-मात्र के उन्नयन के लिए सतत् अथक प्रयत्नशील बना रहता है, तो उसे महामानव की उपाधि से विभूषित भी करते हैं। इसप्रकार वैयक्तिक, सामाजिक और मानवीयक्षेत्र में सदा से मानव-मूल्यों का महत्त्व बना हुआ है। वैयक्तिक प्रकृति के अनुरूप, मानव का क्षेत्र कोई भी हो, उसे महत् की ओर अग्रसर होने के लिए इन मूल्यों को ही आधार-भूमि बनाना पड़ता है. और सन्त भी इसके अपवाद नहीं हैं। T

पैतृकी में प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक-समृद्धि, सन्तों के जीवन का, सबसे बड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान है और आन्तरिक गुणों के विकास के माध्यम से प्रखरव्यक्तित्व इस नैतिकसमृद्धि की ही देन है। समाज के तथा-कथित निम्न-वर्ग में उद्भूत घीया, नामदेव, चमार-रविदास, जुलाहा-कबीर, खेतिहर-धन्ना, नाई-सैन और कसाई-सधना आदि सन्तों को शिष्टसमाज ने ठुकराने का दुस्साहस अवश्य एकत्रित किया, लेकिन, कौन जानता था कि यह दुस्साहस ही उन्हें वह, अदम्य शक्ति प्रदान करेगा, जिससे न केवल उनका आत्म-विश्वास द्विगुणित हो जायेगा, अपितु वे दृढ़तापूर्वक आडम्बर-पूर्ण इस समाज को ठुकराकर नएसमाज के सृजन में ही प्रवृत्त हो जाऐंगें। यह सन्तों के जीवन के विकास की मूल्यपरक आधार-भूमि हैं।

नए समाज के निर्माण में, सन्तों ने जिस मूल्य को सबसे अधिक महत्त्पूर्ण समझा, वह था-मानव-मानव की समता; मानव ने किसी भी जाति में जन्म लिया हो, किसी भी धर्म या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, किसी भी प्रदेश का रहने वाला हो, आजीविका को अर्जित करने के लिए, कुछ भी कर्म, क्यों न करता हो? इन सभी दृष्टियों से वैविध्य के रहते हुए भी, वह मानवीयदृष्टि से समता का अधिकारी है। (पृष्ठ 858 रवि. 2)इतना ही नहीं, आर्थिक समृद्धि, प्रतिष्ठित, पद एवं शिष्ट, कुल में जन्म आदि किसी भी आधार को, उन्होंने मानव-मानव में भेद-भाव का आधार, नहीं स्वीकार किया। इस सामाजिक मूल्य की स्थापना के लिए उन्होंने अपने को ही केन्द्र बिन्दु बनाया। सरलता, सहजता एवं स्पष्टता से रविदास ने बारम्बार अपनी चमार, जाति का उद्घोष करने में ही अपने को गौरवान्वित अनुभव किया। इतना ही नहीं, नामदेव का छींपापन, कबीर का जुलाहा तत्त्व तथा सधना का कसाई-कर्म जीवन-भर उन्हें महिमा-मण्डित करते रहे, ताकि अन्य तथा-कथित निम्न-जाति के लोग भी, अनायास ही हीन-ग्रन्थियों से मुक्त होकर समता के धरातल पर सामान्यजन-समाज का अविभाज्य अंग बन सकें तथा अपने को शिष्ट समझने वाला जन-मानस भी इस तथ्य से अवगत हो जावे और इस चेतना को अपनाने में प्रयत्नशील भी हो।

इसीप्रकार उन्होंने अपने 'कर्म' को भी महत्त्वपूर्ण स्वीकारा और मानव-मानव की समता में उन्होंने कोई भेदक-तत्त्व नहीं बताया। इसलिए न केवल उसका स्पष्टतया कथन ही करते रहे, अपितु जीवन-भर वही कर्म करने में संलग्न रहे। इससे स्पष्ट है, जिन मूल्यों के प्रति उनमें आस्था थी, उन्हें अपनाने में उन्हें कोई आडम्बर नहीं करना पड़ा, अपितु अनायास ही वे उनके जीवन का अंग बने रहे। (486/3)

गृहस्थ- जीवन का महत्त्व सन्तों द्वारा प्रतिपादित अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य हैं। उन्होंने, न केवल उस युग में प्रचलित अकर्मण्य साधु और सन्यासियों का विरोध किया, अपितु समाज में नारी को उचित स्थान की अधिकारिणी बताते हुए, गृहस्थ-जीवन की प्रतिष्ठा कर समाज की विशृंखलित वृत्तियों को बहुतायत से सीमित करने का प्रयत्न किया। स्वत: गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए उसके उच्च-आदर्शों का दिशा-निर्देश भी किया।

सन्तों द्वारा प्रतिपादित आर्थिक मूल्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं- वैयक्तिक सात्त्विक क्रम द्वारा आजीविका, अर्जित करना। यद्यपि रैदास ने कहा है कि उन्हें जूता भी अच्छी तरह गाँठना नहीं आता-'चरमठा गांठित न जनई।' (659/7) पर यह उनकी विनम्रता का ही द्योतक है, वस्तुत: वे अपने कार्य को बड़ी कुशलता से करते रहे। उस युग के पौंगा साधुओं को उन्होंने दूसरों के अर्जन पर निर्भर रहने की वृत्ति से सावधान किया और स्वत: कर्मण्य-जीवन बिताने का संदेश दिया। सात्त्विक-क्रम का अर्थ है अपनी प्रवृत्ति, रुचि, सामर्थ्य एवं योग्यता के अनुरूप उचित-श्रम और उचित ही फल-प्राप्ति। इतना ही नहीं, दूसरा महत्त्वपूर्ण आर्थिक-मूल्य हैं, अपनी अर्जित-राशि में ही निर्वाह करना। इस प्रकार अपनी अर्जन-क्षमता और आवश्यकताओं में संतुलन बैठाना-सन्तोष-धन और अनावश्यक-आवश्यकताओं के सामंजस्य से जीवन-यापन करना। इससे स्पष्ट है, जहाँ सीधे-सादे व्यक्ति न तो अनुचित साधनों से धन-अर्जित करने की चेतना देते हैं न ही अनुचित मार्गों में अपव्यय करने की। इसीलिए आर्थिक-समृद्धि को कभी भी शिष्टता की कसौटी न मानकर, मानव-समाज की समता का सन्देश-वाहक बने रहें। न उन्होंने कभी स्वत: अपार धन-राशि के संग्रह की बात सोची और न ही सामाजिकों को कभी इसकी सहमति दी, अपितु अपरिग्रह के प्रति जागरूक किया, अर्थ-संग्रह अन्यान्य विषमताओं व विपदाओं के कारण हैं, अत: इनसे बचना ही श्रेयस्कर है।

सन्तों के धार्मिक-मूल्यों में 'सहजभाव-भक्ति' को अनायास ही श्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकारा जा सकता है। जहाँ उन्होंने आडम्बर और आवरण-पूर्ण तथा-कथित धार्मिक अनुष्ठानों को अपनाने से इन्कार कर दिया, वहाँ उन्होंने आन्तरिक भाव-परायण भक्ति को विशिष्ट धार्मिक मूल्य के रूप में अंगीकार किया। उनका स्पष्टमत है जिस व्यक्ति के पास आचरण-गत-गरिमा नहीं है, अर्थात् जो सात्त्विक गुणों से मण्डित सदाचारी नहीं है वह नैतिक नहीं हो सकता और जो नैतिक नहीं, वह धार्मिक नहीं हो सकता और जो धार्मिक नहीं, वह आध्यात्मिक नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सन्तों के धार्मिक-मूल्यों की आधार-भूमि है। उस अव्यक्तशक्ति में अनन्तविश्वास-वह विश्वास

जो उसमें श्रद्धा, निष्ठा और आस्था जगा सके, जिससे मानव को अपनी लघुता और उसकी महत्ता का बोध हो। यह बोध उसके 'अहं' को विगलित करे और वह उस अव्यक्त शक्ति के लिये पूर्ण आत्म-समर्पण कर सके। यह आत्म-समर्पण हो-सतत् और अनवरत, तभी इसकी अनन्यता बनी रह सकती है। उनके धार्मिक-मूल्य व्यक्ति को सभी साम्प्रदायिक बन्धनों से मुक्त करते हैं और किसी बन्धन में आबद्ध नहीं करते। वस्तुतः उनका धर्म ही वह मानव-धर्म है, जो एक ओर व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करता है और दूसरी ओर उस अव्यक्त शक्ति से उसका रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है। उसके लिए माला, जप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि किसी भी औपचारिकता की आवश्यकता नहीं-मात्र सहज भाव आवश्यकरूप से अपेक्षित है।

मुझे लगता है सन्तों द्वारा निर्धारित मूल्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है-वैयक्तिक मूल्य; उनके व्यक्तित्त्व में विनयता और मधुरता का अद्‌भुत मणि-कांचन संयोग था। सम्भवतः इसीलिए दुर्वृत्तियों के विरोध में उनमें न उग्रता आई और न ही कटुता। सन्त कबीर में यह दोनों तत्त्व बहुतायत से देखने को मिलते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह वैशिष्ट्य न केवल उनके जीवन्तआचरण में मिलता है, अपितु उनकी समग्र वाणी भी इसका ही परिचय देती है। 'कथनी ओर करनी' में ऐसा उनका अन्य महत्त्वपूर्ण मूल्य है (1167/1)। सन्तों की वाणी और संदेश की यही सबसे बड़ी विशेषता है, कि जो उन्होंने अनुभव नहीं किया उसे जीवन में आचरित नहीं किया। इसीलिए उन्होंने कभी उपदेश नहीं दिया, मात्र सन्देश दिया है- अपने आचरण-परक जीवन के माध्यम से, यही कारण है कि उनकी वाणी और सन्देश, अमर हैं- उनके जीवन की तरह।

कर्मानुकूल फल में विश्वासी होने के कारण (1293/3) उन्होंने कर्मण्य-जीवन व्यतीत करने को महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक मूल्य के रूप में जीवन-भर अपनाए रखा। उनके जीवन में सेवा और साधना का भी इसीलिए महत्त्व बना रहा। वस्तुतः सत्य और सन्तोष को आधार बनाकर उन्होंने न केवल परिवार, अपितु समाज के लिए भी सब प्रकार का त्याग करने में कोई कसर न उठा रखी। 'पर दुःख कातरता' (दूसरे के दुःख से दुःखी) सम्भवतः उनके सारे वैयक्तिक मूल्यों का यही स्रोत रहा है। लोक-कल्याण की चेतना से अभिभूत होने के कारण उन्होंने, अपने में वैयक्तिक स्वार्थ-परायण किसी भावको ही नहीं आने दिया, यही उनके व्यक्तित्व की महानता है। उनके सभी वैयक्तिक मूल्यों की चरमपरिणति होती है निवृत्ति-परक-प्रवृत्ति में। वे सामान्य गृहस्थ के रूप में अर्थ और काम का उपयुक्त उपभोग करने वाले प्रवृत्ति-पारायण थे, लेकिन औचित्य

और संयम ने उन्हें प्रवृत्तिमार्गी होने से बचाए रखा, इसका कारण यह था कि उनकी मूल-प्रकृति निवृत्ति परक थी, इसीलिए उनका लौकिक-प्रेम भी अलौकिक की ओर उन्मुख रहा, संग्रह की वृत्ति उनकी बनी ही नहीं, भौतिक-समृद्धि की आकांक्षा जगी नहीं, यश की कामना से अभिभूत हुए नहीं, परिवार के विकास में लौ लगाई नहीं, लक्ष्मी से प्रेम किया नहीं, कुल मिलाकर सांसारिकता के मोह में फँसे नहीं, लौकिकबन्धनों में उलझे नहीं इसका कारण था- उनकी निवृत्ति, परायण प्रकृति। इसीमें जीवन की सार्थकता और सफलता अनुभव की। यही उनके सुख, शान्ति, समृद्धि और आनन्द की आधार-भूमि थी और यही थी उनके समग्र मानव्-मूल्यों की स्रोतस्विनी। मूलतः मूल्यमात्र समझने के तत्त्व नहीं है, वे तो अपनाए जाते हैं। तभी व्यक्ति के माध्यम से समाज में रुपायित होते हैं और तभी समाज का उन्नयन होता है- यही है हमारे महामानव- सन्तों का शाश्वत-संदेश।

❑❑

अलवर क्षेत्र के संत कवि

— डॉ. रामकृष्ण पोहिया

अलवर में स्वतंत्र स्टेट सन् 1775 ई. से महाराजा प्रतापसिंह ने कायम की थी। स्टेट-समय से पूर्व और बाद में जिन संतों की जानकारी उपलब्ध हो सकी है वे निम्न हैं:-

1. **लालदास:-** नाभादास कृत भक्तमाल में लालदास जी को दूल्हा तथा अन्य संत भक्तों को बाराती माना है। इनका जन्म अलवर के पास 6 कि.मी. उत्तर में धौलीदूब गाँव में मेव घराने में हुआ था। इनके पिता का नाम चांदमल था। धौलीदूब लालदास जी की ननिहाल थी। इनका जन्म सं. 1597 वि. में होने का उल्लेख मिलता है। इनकी समाधि का समय सं. 1705 वि. (108 वर्ष की आयु) माना जाता है। मेव होते हुये भी इनके सँस्कार हिन्दुओं के थे। समाधि शेरपुर में है। धौलीदूब में भी भजन, साधुसंतों की सेवा की है। इनको भगवान् का ही स्वरूप माना जाता है। इन्होंने बहुत से दीन-दुखियों का उद्धार किया है। इनके विचार "वाणी" रचना में विद्यमान है। इनकी रचना "गीता" है, जिसमें इनका और इनके शिष्य हरिदास का सम्वाद है। इनकी रचनाऐं प्रकाशित हैं।

संत लालदासजी का परिचय उनके शिष्य डूंगर साधु ने "लालदास परचई" तथा "बुके" में तो दिया ही है अपितु अलवर के महाराजा मंगलसिंह के शासनकाल में एक अंग्रेज अधिकारी मेजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट ने "अलवर गजट" में लालदास जी का परिचय अंग्रेजी भाषा में दिया है। उन्होंने लालदास जी का जन्म सं. 1597 वि. (सन् 1540 ई.) माना है। लालदास जी के जन्म के बारे में निम्न दोहा प्रचलित है।

संवत पन्द्रह से सतानवे, लाल लियो औतार।
हिन्दू तुरक बिच बैठकर, होत भक्त परकास॥

2. **हरिदास:-** ये संत लालदास जी के शिष्य थे। ये आगरा के धनवान महानन्द नामक

कायस्थ थे। इनके शरीर में कोढ हो गया था। ये संत लालदासजी की महिमा सुनकर पत्नी के सुझाव पर उनकी शरण में गये और अपनी समस्या के बारे में प्रार्थना की। तब संत लालदास ने इनको अपना सारा धन दान देने का सुझाव दिया। संत की आज्ञानुसार इन्होंने अपना सारा धन लुटा दिया। तब इनको लालदास जी ने परमात्मा के वास्तविक स्वरूप (ज्योति -स्वरूप) के दर्शन कराये और इनका नाम हरिदास रखा। उदाहरणार्थ:-

और भयें दरसण कौ आयौ, सरबस सुणिकर दरसन पायौ।
अलख लख्यो येक हरगुण गायों, हरीदास तब नाम धरायौ॥ ३५८॥

हरीदास तब अरज गुदारी, तुम हौ सत्गुरु परम अधारी।
निस बासर तेरो गुन गाऊँ, मिहर करों तो में तर पाऊँ॥ ३५९॥

हरिदासजी की रचनाऐं गुप्त-गीता, लालदास-हरिदास-संवाद, आत्मध्यान-जोग, भजन आदि हैं।

3. **डूंगर साधुः**- ये भी संत लालदासजी के शिष्य थे। इनकी रचना-"लालदास जी की परचई या भक्त" मिलती है जो प्रकाशित भी है। लालदासजी के परिचय के लियें ये रचना महत्त्वपूर्ण हैं।

4. **शोभन साधुः**- ये संत भी संत लालदास जी के शिष्य थे। इनकी रचना "लालदास जी के रेखते" हैं।

5. **भीषण साधुः**- ये संत भी लालदासजी के शिष्य थे। इनकी रचना का नाम "चंदनी" है।

6. **अलहदासः**- ये संत भी लालदासजी के शिष्य थे। इनको अलवर के महाराजा बख्तावरसिंह ने इनसे चमत्कृत होकर कुछ जमीन का पट्टा कर दिया था। इनकी समाधि भी अलवर में लालदासजी के साथ में बनी हुई है। इनकी रचना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

7. **करमाबाईः**- यही वही करमाबाई है जिसकी खिचड़ी का भोग जगदीश में अब भी लगता है। इनकी समाधि अरावली पर्वत की तलहटी में गढ़ी-मामोड़ पर है। यह स्थान अलवर के अन्तर्गत आता है। इनकी साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनके कवयित्री होने की प्रसिद्धि अवश्य है। भक्तमाल में भी इनका उल्लेख आया है। इनकी मृत्यु सन् 1667 ई. में हुई थी।

8. संत चरणदासः- (सं. 1760-1839 वि.) इनका जन्म अलवर के पास डहरा गाँव में हुआ था। इनका बचपन का नाम रंजीत था तथा पिता का नाम मुरली था। इनके गुरु शुकदेव जी थे जिन्होंने रणजीत को उपदेश देकर चरणदास नाम रखा। बाद में ये दिल्ली के परीक्षतपुरा में चले गये। इनकी जाति धूसर थी। उदाहरणार्थः-

डहरे में मेरौ गांव, नाम रनजीत बखानौ।
मुरली कौ सुत जान, जात धूसर पहचानौ॥
रमत मिले मुनि शुकदेव, नाम चरनदास धरायौ।

चरणदास जी निगुर्णोपासक संत और कृष्ण भक्त दोनों ही रूपों में प्रसिद्ध हैं।

इनकी रचनाएँ भक्तिसागर (सं. 1781 वि.) ब्रज-चरित्र, संदेह-सागर, पंचोपनिषद भाषा, ज्ञान-स्वरोदय, नासकेत पुराण-भाषा आदि हैं।

राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की अलवर शाखा में 19वीं विक्रमी की चरणदास जी की ''भक्तिसागर'' की पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसमें-ब्रजचरित्र, अमरलोक-अखण्ड-धाम, अष्टांग योग, ज्ञान स्वरोदय पंचोपनिषद्, गुटकासार, ब्रह्मज्ञान-सागर, सबद, कवित्र, छप्पय आदि रचनाऐं संकलित हैं। इसमें कुल छंद सं. लगभग 2300 है।

9. सहजोबाईः- ये संत चरणदास की शिष्या तथा हरिप्रसाद की पुत्री थी। इनका अधिक परिचय तो उपलब्ध नहीं है परन्तु रचनाकाल से जन्म-मृत्यु का अनुमान लगाया जा सकता है। जन्म सं. 1760 या 70 वि. के लगभग हुआ होगा और मृत्यु सं. 1850 वि. के लगभग हुई होगी। सहजोबाई ने भी गुरु को भगवान् से बड़ा माना है।

इनकी रचनाऐं- शब्द (सं. 1800 वि.) सहजप्रकाश (सं. 1800 वि.) सातवार निर्णय (सं. 1800 वि.) एवं सोलहतिथि निर्णय (सं. 1800 वि.) राज.प्रा.वि. प्रति. की अलवर शाखा में उपलब्ध हैं। इनकी कुछ रचनाऐं प्रकाशित हैं। एक रचना ''ब्रह्म-ज्ञान सागर'' भी प्रकाशित है, जिसका सहजोबाई ने सम्पादम किया था।

10. दयाबाईः- ये भी संत चरणदास जी की शिष्या थी। इनकी रचना ''दयाबोध'' उपलब्ध है। दूसरी रचना ''विनयमालिका'' भी संभावित है जो राज़.प्रा.वि.प्रति. अलवर में उपलब्ध है।

11. अखैरामः- ये भी चरणदास जी के शिष्य थे। ये अच्छे संत हुए हैं। इनकी रचनाऐं-वाणी अखैसार (सं. 1808 वि.), क्षेत्र लीला (सं. 1812 वि.), ज्ञान-समूह ग्रंथ, विचार-

चरित्र (सं. 1810 वि.), शिव-स्वरोदय-भाषा आदि उपलब्ध हैं।

आगरा-विश्वविद्यालय से इन पर शोध-कार्य भी हो चुका है।

12. **जुक्तानन्द गोस्वामी:-** ये भी संत चरणदासजी के शिष्य थे। चरणदासजी के शिष्यों में जुक्तानन्द जी सबसे अधिक पढ़े लिखे थे।

इनकी रचनाऐं- वेदान्त, इतिहाससार समुच्चय (महाभारत भाषा), (सं. 1832 वि.), भक्ति-प्रबोध (सं. 1824 वि.), गुरु-चेला-गोष्ठी, सप्तश्लोकी गीता, भाषा, बारहमासा, चौमासा आदि रा.प्रा.वि.प्रति. अलवर में उपलब्ध हैं।

13. **मिश्र जीवन:-** ये संत अखैराम जी के शिष्य थे। इन्होंने 1939 वि. में "अखैराम की वाणी" का संकलन किया था। इनकी अन्य रचना की जानकारी नहीं हो सकी है।

14. **अहमद:-** ये निर्गुणोपासक संत थे। इनका परिचय उपलब्ध नहीं हो सका। इनकी रचना का नमूना दृष्टव्य है:-

काहे भरमता डोलै रे योगी, तू काहे भरमता डोलै।
देह धोय माजे क्या पावे, मन को क्यों ना धोलै॥

ज्ञान की हाथ तराजू तेरे, फिर क्यों कमती तोलै।
अहमद होय कहा पछिताये, अब क्यों कांकर रोलै॥

15. **दास:-** ये निर्गुणोपासक संत थे। इनकी रचना का नाम "गोपीचन्द को बैराग" है। उदाहरणार्थ:-

करैं बंदगी धरणि अकास, पीरपंच बर सिधि अरु साध।
नाम कबीर जप रैदास, 'दास' कह्यों बैराग बोध॥

16. **समानबाई:-** ये अलवर जिले की मुण्डावर तहसील के सिराली गाँव की थी। इनके पिता का नाम रामनाथ कविया था, जो तिजारा के राजा बलवंतसिंह के दरबारी थे। ये संतों की श्रेणी में थीं। अधिक परिचय और रचना की जानकारी तो उपलब्ध नहीं हो सकी।

17. **दीपदास:-** रामगढ़ में स्वामी दीपदास जी प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं। गढ़ी सरदार राव बहादुरसिंह, ठाकुर मंगलसिंह जी.सी.आई.ई. की भक्तिवश ये अलवर ही रहे थे,

तभी से इनका भगवानदास जी से परिचय था। 1969 वि. में स्वामी जी ने 39 वर्ष की अवस्था में चिर समाधि ली। ये बड़े योगाभ्यासी और सिद्धपुरुष थे। आरम्भ में रामसनेही साधु से उपदेश लिया था। इनके द्वारा रचित ''अद्वैत-बोध'' नामक ग्रंथ सन् 1936ई में साधु-सेवी राजा कर्णसिंह जी ने गढ़ी से प्रकाशित कराया है।

18. **मलूकदासः**- ये गरीबदासी पंथ के साधु थे। 1894 वि. में विचरते हुये अलवर आये और दीवानों की पुरानी छत्री में साधु हरिदास जी के पास ठहरे थे। बाद में अलवर की जलवायु देखकर स्थाई रूप से कुटी बनाकर इस स्थान पर रहने लगे। इनकी विद्वता, शील-स्वभाव और साधुता की ख्याति से लोग इनके भक्त हो गये। ये बड़े जितेन्द्रिय, पुरुषार्थी और स्वावलम्बी थे। ये जयपुर, दिल्ली तक पैदल ही चले जाते थे। इनको ग्रंथ लिखने का बड़ा अभ्यास था। दिनभर में गीता के 18 अध्याय लिखकर समाप्त कर देते थे। 1894 वि. से 1915 वि. तक इनके लिखे ग्रंथ हैं।

महाराजा विनयसिंह को शहर में महल बनवाते समय शिल्प-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथ की आवश्यकता पड़ी थी, वह ग्रंथ पाकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए थे। इस स्थान की समस्त भूमि उस समय के राज्य से मिली हुई है। ग्रंथ-लिखकर उसकी आय से अपना और अतिथियों का भोजन सत्कार करते थे। इनके स्वावलम्बन, भजन-भाव और वृत्ति वृत्ति को देखकर लोगों में इनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बंभोरा ग्राम निवासी ब्राह्मण, वैश्य और जाटों में भी इनकी मान्यता थी। 1936 वि. में 90 वर्ष की अवस्था में इनकी देहान्त हुआ। इसआधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म 1846 वि. में हुआ होगा।

19. **बाबा जय जय राम जी** :- ये सिद्धि-प्राप्त महात्मा थे। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो बाबा जय जय राम जी से अपरिचित होंगे। इनकी रचना ''वाणी'' छप गई है।

20. **हंसा स्वरूपजीः**- ये अलवर के महाराजा जयसिंह के गुरु थे। सँस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने गीता-टीका, दार्शनिक सिद्धान्त, देशप्रेम, इश्क, बृहत्संहिता सटीक, बृहत्सहानुभूति आदि रचनाऐं लिखी हैं जो प्रकाशित हैं। इनका एक सुन्दर बड़ा चित्र अलवर के अजायबघर में लगा हुआ है। इनके सनातन-धर्म के भाषण से महाराजा जयसिंह बहुत प्रभावित होकर इनके शिष्य हो गये। हंसा स्वरूप जी का आश्रम हंसाश्रम के नाम से अलवर में था। महाराजा सभी कार्य इनके आदेश से करते थे। इनकी समाधि सन् 1930 ई. में हुई ऐसा अनुमान है।

21. **रणजीतसिंह बेनामी:**- ये सन् 1849 ई. में अलवर आये थे। इनकी रचना "आत्मबोध" का उल्लेख मिलता है।

22. **सीतलदास:**- इनका परिचय तो उपलब्ध नहीं है परन्तु रा.प्रा.वि.प्रति. अलवर में इनकी रचना "निगमसार" उपलब्ध है। परन्तु इनके बारे में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहाँ जा सकता, कि ये अलवर राज्य के संत थे या बाहर के?

अलवर में महाराजा जयसिंह (1892-1937 ई.) के समय सीतलदास जी एक भक्त थे। वे महाराज के यहाँ नौकर थे तथा भगवान् के अच्छे भक्त थे। वहां से आकर बाद में इन्होंने रैणागिर आश्रम भी बनवाया था तथा अच्छे प्रसिद्ध संत हो गये।

'निगमसार' के लेखक सीतलदासजी एवं यह सीतलदास जी एक ही हैं या अलग-अलग? यह निश्चित रूप से नहीं कहाँ जा सकता।

23. **शम्भू प्रसाद जमीदा:**- ये हंसा स्वरूपजी के शिष्य थे। इनकी रचना का नाम "प्रेम गुब्बारा" है जो सन् 1920 ई. में प्रकाशित हो चुकी है।

24. **महन्त पुरुषोत्तम दास:**- ये अलवर जिले के राजगढ़ के निवासी थे। इनकी रचना का नाम 'पुष्पोपहार' है सन् 1928 ई. में मुद्रित हो चुकी है।

25. **शिवानन्द:**- रा.प्रा.वि.प्रति. अलवर में महात्मा शिवानन्दजी की पाण्डुलिपि "भक्ति उपदेशिनी" (सं. 1871 वि.) उपलब्ध है। इन्होंने जगदीश एवं शंकर जी की आरती भी लिखी हैं। परन्तु ये अलवर राज्य के निवासी थे या बाहर के। इस बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वैसे ये प्रसिद्ध संत हुये हैं।

इनके अतिरिक्त और भी संत हुये हैं, परन्तु उनकी किसी रचना का उल्लेख नहीं मिलता। यह भी संभव है कि उन्होंने कुछ लिखा ही नहीं हो। उदाहरणार्थ:- बेनामी सम्प्रदाय के कक्कड़ साहब, बेनामीजी महाराज, गरीबदास, सीतलदास, चूहड़सिद्ध, नाथ सम्प्रदाय के हीरानाथजी, शिवनाथजी, गंगानाथजी,. संध्यानाथजी, गोपालनाथ, शम्भूनाथ तथा श्री रघुनाथजी, मुक्तानन्दजी, भगवानदासजी, रामास्वामी, प्रहलाददासजी, शिवरामदास, लक्ष्मणदासजी, मथुरानाथजी, राधिकादास, महन्त मदनदास, महन्त गोविन्ददास, सालिगरामजी, रामदयालजी, बालमुकन्द, महन्त पुरुषोत्तमदासजी, भीखाजी आदि।

संदर्भः-

1. अलवर राज्य का इतिहास पं. पिनाकीलाल जोशी।
2. विनयपत्रिका का अलवर अंक - सं. डॉ. जयसिंह नीरज।
3. शोध-पत्रिका (अक्टूबर-दिसम्बर, 87) - डॉ. देव कोठारी
4. विश्वम्भरा (जुलाई-सितम्बर, 90) - डॉ. दिवाकर शर्मा
5. मरुभारती (अप्रैल, 1990) - डॉ. बसंतलाल शर्मा
6. सम्बन्धित पाण्डुलिपियाँ एवं शिलालेख।
7. सम्बन्धित आश्रम-स्थल।

वरिष्ठ शोध सहायक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
बासन दरवाजा, भरतपुर-321001

❑❑

हाड़ौती में हस्तलिखित रामकाव्य

— ख्यालीराम मीणा

भगवान् श्रीराम विश्व समुदाय में शाँति के देवता हैं। एक और श्रीराम जहाँ शत्रु हन्ता हैं, तो दूसरी और राम एक आदर्श प्रजावत्सल शासक भी हैं। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित के उत्तरकांड में लिखा है 'दैहिक, दैविक भौतिक तापा, रामराज्य काहू नहीं व्यापा।' श्रीराम में एक कुशल सेनानायक के गुण भी विद्यमान थें तभी उन्होंने वानरसेना द्वारा लंकाधिपति रावण पर विजय प्राप्त की।

कति दुर्गाणी दुर्गाया लंकाया ब्रूहि तानि मे।
ज्ञातुमिच्छामितंत्सर्वं दर्शनादिव वानरा॥

तुलसी के रामकाव्य और महर्षि वाल्मीकि एवं सन्त-साहित्य में राम के गुणों का अपार समृद्धशाली भण्डार है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, कोटा में प्राचीन अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में रामकथा का वर्णन किया गया है। इसी राम-कथा को लेकर कालीदास ने 'रघुवंश' तथा भवभूति ने 'उत्तररामचरितनाटक' की रचना की।

कालान्तर में हाड़ौती अंचल और राजपूताना में रामकाव्य को लेकर अनेक चित्रमालायें और भित्ति चित्रण हुआ है। प्राचीन सिक्कों व तावीजों में श्रीराम का चित्रण हुआ है। राम दरबार में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न व नीचे हनुमानजी दर्शाये गये हैं पृष्ठभाग पर लक्ष्मण राम धनुधारी वेश में हैं। इस तरह का एक सिक्का मेरे पास भी संगृहीत है। रामसम्प्रदाय भारत में फला-फूला है।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, कोटा में राम-काव्य से संबंधित अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं। इन पाण्डुलिपियों का अध्ययन एवं मनन कर राम-अर्चना द्वारा भौतिक दु:खों से छुटकारा और मानसिक-शाति प्राप्त की जा सकती है। इस शोध संस्थान के संग्रह में एक सचित्र खरड़ा, जिसकी लम्बाई आठ फुट है, अरजी सतगुरु की जिसका नाम है। इस महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि में रामसनेही सन्तों ने अपनी भक्ति के माध्यम से अपने आराध्य भगवान् राम की आराधना की है। तो दूसरी ओर इस संस्थान के

क्र. 8301 पर अंकित एक सबसे छोटा गुटका संतदासजी की वाणी है। यदि माप के आधार पर खोजा जाये, तो हाड़ौती अंचल में शायद यह सबसे छोटी पाण्डुलिपि होगी जो कि एक माचिस की डिब्बी में रखी जा सकती है। इस पाण्डुलिपि में दो सौ पत्र हैं। तथा प्रत्येक पत्र में तीन लाइन ओर बारह अक्षर हैं। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामकवच स्त्रोत, रामचन्द्राष्टक, रामतत्वप्रकाश, रामदुर्गस्त्रोत, रामपटल स्त्रोत, रामसहस्त्रनाम, रामस्तवराज रामोपासन संध्याविधि इत्यादि रामार्चना से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ यहा विद्यमान हैं। रामनवमी व्रत कथा से संबंधित पंजीयन क्र. 2861 से 2863 तक क्रमशः स्कन्दपुराणान्तर्गत, पद्मपुराणान्तर्गत तथा अगस्त-संहितायाम् हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों में श्रीराम-व्रत-कथा का महत्त्व एवं फल दर्शाया गया है। एक अन्य ग्रन्थ रामनामप्रताप है जिनका पंजीयन क्रमांक 3131 है। इसका कर्ता रामचरण स्वामी है। यह हिन्दी भाषा में है तथा पत्र 60 हैं। पंजीयन क्र. 5043 से 5050 तक वाल्मीकि रामायण संगृहीत है। जिनमें क्रमशः सुन्दरकांड-युद्धकांड का वर्णन है।

इन महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के अध्ययन एवं मनन से साँसारिक दुखों से मुक्ति पायी जा सकती है भक्ति और शक्ति के प्रतीक श्रीराम जीवन्त उदाहरण है जहां प्रेम है वहाँ भय नहीं है। परन्तु दुराचारी और राक्षसी प्रवृति को नष्ट करने के लिये धनुर्धारी श्रीराम सदा ही समाज की सेवा के लिये तैयार हैं।

पंजीयन क्र. 5170 से श्रीरामपद्धति एक अन्य महत्त्वपूर्ण रामकाव्य है, जिसमें सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन दर्शाया गया है। यह ग्रन्थ पं. चन्द्रकांत सारोला कोटा के निजी संग्रह से प्राप्त हुआ।

उक्त रामसाहित्य के अतिरिक्त राजकीय संग्रहालय कोटा में अनेको हस्तलिखित ग्रन्थों में रामरचना से संबंधित साहित्य संगृहीत है। राम और रामराज्य का एक मात्र उद्देश्य यह था- जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है कि :-

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

रा.प्रा.वि.प्र., शाखा कोटा

पुष्टिकर समाज के संत

— श्रीमती अनन्जा थानवी

सन्त तो स्वयं साहित्य ही होते हैं। सन्त गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है, ''राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है'' यही बात राष्ट्रकवि गुप्तजी ने कही; और कोई भी व्यक्ति सन्त के जीवन को समझ पाने का कतिपय प्रयास भी करेगा तो उसे साहित्य का दर्शन होगा ही क्योंकि सन्त समाज के दीपक हैं और साहित्य, समाज का दर्पण होता है। सन्तों ने ही समाज को मार्ग दिखलाया है, अतः उनके कथन चाहे वे मौखिक-परम्परा में उपदेश हों अथवा पद्यबद्ध रचनायें वे सभी साहित्य हैं। आवश्यकता है प्रत्येक सन्त के व्यक्तित्त्व को पहचानने की यदि वे पहचानने में आ जावें तो उनके कृतित्त्व स्वतः ही सामने आ जायेंगे।

जोधपुर के पुष्टिकर समाज में भी अनेक सन्त हुए हैं। उनका ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुत ही लम्बा है और पुराने समय से चला आ रहा है। इस समाज के सबसे पहले सन्त का समय संवत् 1740 यानि आज से 300 वर्ष पूर्व का है और यह सन्त-परम्परा अब तक चल रही है। इन सन्तों में से अनेक गायत्री-उपासक थे, कई शक्ति-उपासक रहे, कई, वैष्णव-भक्त रहे तो अनेक ने शिवोपासना की। परन्तु इन सन्तों ने अपने आदर्शजीवन से जोधपुर-नगरवासियों को बहुत प्रभावित किया। इन लोगों ने जीवन को जब निकट से देखने का प्रयास किया तब 'सन्त' शब्द की महिमा भी समझ में आने लगी- नरसीमेहता के शब्दों में - उण सन्तों रौ हूं मैं दास जिका नै मन मार लिया'' ये वे ही लोग है जिन्होंने मन पर विजय पाई और आत्मा के प्रकाश से लोगों का मार्गदर्शन किया।

यों तो इस समाज के सन्त अनेक हैं। यहाँ उन सन्तों का ही वर्णन किया जाना यथेष्ट होगा जो आज जीवित नहीं हैं जिनकी स्मृति आज भी जीवन्त है।

(1) श्री कण्ठजी सन्त :- (चत्ताणी व्यास श्रीकृष्णजी) आप शक्ति के उपासक थे। स्वप्न में देवी ने दर्शन दिया और माँ की आज्ञानुसार आपने चाँदपोल दरवाजे के बाहर बाँयी बाजू में देवी का मन्दिर बनवाया और स्वयं पूजा करते रहे। आज भी

यह पूजा इनके वंशज ही करते हैं। आपका जन्म वि.सं. 1740 को जोधपुर में हुआ। आपका लिखा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(2) सन्त सुखानन्द :- (सुखलाल चूरा) आपका 1800 वि.सं. को जन्म हुआ था। आपने सन्यास-धारण कर लिया। सन्यासी के रूप में आपने पुष्कर में निवास किया और बाद में हिमालय चले गये। आपकी बनवाई सुखानन्द की बगीची सिवाणची-द्वार के अन्दर सम्प्रति भीमजी के मोहल्ले के पुष्करणा समाज के नियंत्रण में है। इनका बनाया कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है।

(3) सन्त शिवराजजी महाराज :- (श्री शिवराज बनावत पुरोहित) आपका जन्म वि.सं. 1868 में जोधपुर में हुआ। आप ज्योतिष, आयुर्वेद एवं कर्मकाण्ड के अच्छे ज्ञाता थे। बाल्यावस्था में ही आपकी रुचि भजन की ओर थी। आपकी धर्मपत्नी के निधन पर इन पर साँसारिक माया का बोझ डालने का प्रयास परिजनों ने किया तब पैदल चलकर मासिक पंचवटी जाकर दत्तात्रेयजी के मन्दिर में रहे। 12 वर्ष का लम्बा गायत्री-पुरश्चरण किया। वि.सं. 1912 में अन्न-त्याग कर दिया। 107 वर्ष की आयु पाई। आपने निस्वार्थ और निःशुल्क मानव-सेवा ही की।

(4) महात्मा श्री वृत्तिनारायण :- (नथमल चण्डवाणी जोशी) आप ज्योतिर्विद् चण्डूजी के वंश में उनके भाई दामोदरजी की वंश-परम्परा में श्री खींवराज जी के पुत्र थे। आपका जन्म वि.सं. 1870 में जोधपुर में हुआ। आप शक्ति के उपासक थे। अधिकांश समय ध्यान-समाधि में ही बीता। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् आप जोधपुर की पश्चिम दिशा की पहाड़ी पर, अपना आश्रम बनाकर रहने लगे जो 'वृत्तिनारायण की नाडी' के नाम से जाना जाता है। आपने 12 वर्ष तक अखण्ड-मौन रखा और कटिमध्य-जल में खड़े रहकर 'यक्षिणी मंत्र' की साधना कर सिद्धि प्राप्त की। आप को वाक्सिद्धि हो गई थी। आपके दर्शन को महाराजा तखतसिंह एवं महाराजा जसवन्तसिंह-II भी आते थे। आपके आश्रम में 'जोगमाया' के घी और तेल की अखण्ड-ज्योति जलती थी।

(5) सन्त भोमानन्दजी :- जन्म सं. 1890 में जोधपुर के बिस्सा खाँप में हुआ। आप जोधपुर रसाले में अहलकार थे, परन्तु अपनी माता के निधन के पश्चात् आपने यह नौकरी छोड़ दी, घर का सामान बेचकर ब्राह्मण भोज करवा दिया और मौन-धारण कर ध्यानावस्था में ही रहने लगे। आप वृत्तिनारायण आश्रम के पास नरसिंहगढ़ स्थान पर रहने लगे। ये दिगम्बरी हो गये, केवल कौपीन ही धारण करते थे। बाद में आप

पाली-मारवाड़ चले गये, जहाँ आपने समाधि ली। आपकी समाधि पाली मे बड़े तालाब के पास कल्ला फतहजी की जमीन 'कला बाग' में है।

(6) श्री बलदेव ऋषि :- आप सेवाणी व्यास थे। आपका जन्म सं. 1890 में हुआ। आपकी माता ने निर्धनता के कारण आपको स्वामी वृत्तिनारायण को सौंप दिया। आपने ब्रह्मचर्य-व्रत पालन किया और अपने हाथों से वृत्तिनारायण आश्रम की पहाड़ी में कुआँ खोदा। अपने गुरु की आज्ञा से आप मण्डोवर के ऊपर पंचकुण्ड स्थान पर तपस्या करने लग गयें और भगवान् मण्डलेश्वर महादेव के भक्त-ब्राह्मणों की सेवा करते रहे। आप गायत्री-उपासक थे। पंचकुण्ड स्थान पर पाँच कुण्ड - विष्णु पादुका, गंगा सागर, सिद्धेश्वरी, ब्रह्मकमण्डली और जटाशंकरी खोदकर बनाये, जिनमें अब भी बारहों मास पानी रहता है। वहां आपने कई वृक्ष लगाये, जिनमें वटवृक्ष आज भी उनके पर्यावरण के प्रेम को उजागर कर रहा है।

(7) श्री काशी चैतन्य ब्रह्मचारी:- (श्रीलादूरामजी) आप नागौर निवासी गिरधरोत व्यास थे। आपका जन्म वि.सं. 1920 में हुआ। यज्ञोपवीत के पश्चात् आप काशी गये, वहाँ से हिमालय प्रवास किया। 16 वर्ष तक आप नासिक में रहे। आप काशी में चेतन अखाड़े में गुरु चैतन्य के सानिध्य में रह कर वेदान्त अध्ययनरत रहे। जोधपुर में सिवाणचीद्वार बाहर सोमनाथ मन्दिर के पास निवास करने लगे और मधुकरी भिक्षा से ही जीवन चलाया। आपने गायत्री-पुरश्चरण एवं पाशुपत व्रत दिया। आप भस्मी बिछाकर ही सोते थे और अंग पर भस्मी ही धारण करते थे। आपने गायत्री-जाप का ही उपदेश किया था।

(8) अग्निहोत्री शिवराजजी महाराज:- (शिवराज हर्ष) आपका जन्म 1905 सं. में हुआ। वेदाध्ययन एवं कर्मकाण्ड में आप विद्वान् थे। सं. 1940 में आपने श्रौतस्मार्त कार्यों का अध्ययन किया और सँस्कृत-साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। आपने मालवा, सिन्ध, बम्बई, जैसलमेर, पोकरण, फलौदी व कच्छ का भ्रमण किया। अग्निहोत्री नियमों का पालन करके बालकों को शिक्षा देने लगे। आपका निवास ''ऋषि-निकेतन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। आप स्त्री-शिक्षा के पक्षधर थे। अपनी पुत्री व दोहित्र को अग्निहोत्र की दीक्षा दी थी। आपका आश्रम गंगेलाव तालाब पर स्थित हैं।

(9) श्यामदासजी महाराज :- (श्यामदासजी नाथावत व्यास) आपका जन्म सं. 1920 में हुआ था। आप पुलिस में थानेदार थे। आपको टीड्डी मारने का काम सौंपा गया, परन्तु जीवदया के वंशीभूत यह कार्य नहीं कर सके और सीवाणा के राम-भक्त

श्री सालिगरामजी महाराज के दर्शन को चले गये। वहाँ पुष्करणों की बगेची में रामनाम-जप करने लगे। इस जाप से आपका मन सँसार से हट गया और नौकरी छोड़कर हरिद्वार चले गये। वहाँ एक सन्यासी से दीक्षा-ग्रहण कर 'अचलानन्द' बन गये। जब वापस ज़ोधपुर आये तब फतहगढ़ी में रामायण का पाठ किया, तत्पश्चात् गोरधन ताल़ाब और एकलिंग महादेव के बीच पहाड़ी में छोटा आश्रम बनाकर वहीं रहने लगे। वही आश्रम 'श्यामदासजी का आश्रम' के नाम से पहचाना जाता है।

(10) वनजी महाराज :- (शिवनारायण काशीदासोत पुरोहित उर्फ 'वना') आपका जन्म सं. 1922 में जोधपुर में हुआ। 'वना' के नाम के कारण ही वनजी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपने 7 वर्ष की आयु में ही गणित व लेख-विद्या सीखली फिर बाद में व्याकरण, न्याय, योग और मीमांसा तथा संगीत और स्वरोदय का ज्ञान प्राप्त किया। आपकी वृत्ति भजन में ही रही। आप राग-ताल आदि से शिवोपासना करते थे, फिर कृष्णभक्ति की ओर आपका ध्यान मुड़ गया। सं. 1962 में गोरधन तालाब के पास आश्रम बनाकर वहीं रहने लगे और वेदान्त की शिक्षा देते रहे। आपके अप्रकाशित ग्रन्थ 'षट्दर्शन', 'स्वरोदय', 'कल्पवृक्ष', आदि हैं और प्रकाशित ग्रन्थ 'संगीत-पंचरत्न' है। आप गीता के उपदेशक भी थे।

(11) ज्ञानानन्दजी महाराज :- (फतहराज बनावत पुरोहित) आपका जन्म सं. 1931 में हुआ। आपने हिन्दी, महाजनी और गणित का अध्ययन करके, परगना-सोजत (तहसील खारची) के गाँव आऊवा, खोड़, बाँता तथा गूंदोज एवं खैरवा में ''ज्ञानान्दी पाठशाला'' चलाई। आपने वैद्यगीरी भी सीखी और निःशुल्कसी निस्वार्थ रोगियों की सेवा करने लगे। आऊवे में व्यास चन्द्रभानजी कथावाचक के उपदेशों से आपका मन बदल गया और सोजतनगर के स्वामी नित्यानन्दजी फूलनारायण आश्रम-निवासी से दीक्षा लेकर 'ज्ञानानन्द' बन गये। आपके भजनों का संग्रह 'ज्ञानानन्द' प्रकाशित हुआ था। आप सोजत में फूलनारायण आश्रम में ही रहे। इस प्रकार शिक्षा और भजन-चर्चा में तल्लीन रहकर आपने लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

(12) शिवदत्तजी महाराज :- (शिवदत्त पूता) आपका जन्म जोधपुर में वि.सं. 1936 को हुआ। आपके द्वारा प्रकाशित 'ज्ञानयज्ञ' ग्रन्थ में आपने लिखा है ''श्री बलदेव ऋषि ने मुहंता नृसिंहदत्त को उसके घर आने का वचन दिया था परन्तु वहाँ नहीं जा सके और निधन हो गया। तब मण्डलनाथ की कृपा से आपने 'शिवदत्त' के रूप में जन्म लिया।'' यज्ञोपवीत धारण कर विवाहोपरान्त अपने भाई जोगीदास के साथ आप कानपुर चले गये। वहाँ से सं. 1956 में पण्डित सम्राट महा-महोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री

की शिष्यता ग्रहण कर काशी में निवास करते हुए व्याकरण, वेद, वेदान्त आदि का अध्ययन किया। आपने जोधपुर लौटकर बालकृष्णजी के मन्दिर के सामने 'धर्मोद्धारिणी सभा' की स्थापना की। ईडर-प्रवास के समय अहमदाबाद में आपने वानप्रस्थ-आश्रम की दीक्षा ग्रहण की और जोधपुर में जबरनाथ, एकलिंगजी, बीजोलाई, खाड़िया, अरणाजी, पंचकुण्ड, मण्डलनाथ का भ्रमण करते रहे परन्तु मुख्य आश्रम फतहगढ़ी जयन्तीदुर्ग और सोमनाथ का मन्दिर ही रहा। आप होली के अवसर पर उपदेशात्मक गीत बनाकर अपने शिष्यों द्वारा प्रचार करवाते थे। आपकी पुस्तक 'गुरुवाक् सुधा' कई संस्करणों में प्रकाशित हो चुकी है। वि.सं. 1972 में आपने 'मुमुक्षु-मण्डली' की स्थापना की। 'ज्ञानयज्ञ' आपका ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वित योगाभ्यास का ग्रन्थ है जो प्रकाशित है। जयन्ती दुर्ग पर आपने 'महारुद्रयाग' किया तथा शिवदत्त स्मारक (दत्त मन्दिर) बनाया। आप वेदान्त-प्रचारक, शिव एवं शक्ति के उपासक थे- मण्डलनाथ की स्तुति का गेयपद जोधपुर में पुष्करणा नवयुवक-मण्डल द्वारा खूब ही प्रचार में लाया गया। आपकी गालियां औरतें विवाह के अवसर पर गाया करती हैं।

(13) तुलसीदासजी महाराज:- आप वृत्तिनारायण महाराज के द्वितीय पुत्र थे। आपका जन्म सं. 1936 में हुआ। अपने पिता की गादी पर सं. 1950 में बैठे। आप ब्राह्मण-भोजन करवाने के पश्चात् ही भोजन करते थे। देवीपूजा बराबर चलती रही- इनका एक भजन प्रसिद्ध है- "तुलसी मगन भये रामगुण गाय के। टेर कोई एक ओढ़े शाल दुशाला दुपट्टा रंगाय के आप तो ओढ़े काली काम्बल आसन जमाय के (अन्त में)

भज्जो तो भजन गाये सतचित मन लायके।
वृत्तिसुत कृपा भई है पुण्य परबला पायके॥

(14) लाडजी महाराज :- (जुगराज बोहरा) आपका जन्म जोधपुर के शंकराणी बोहरा परिवार में वि.सं. 1940 में हुआ। बालकपन में प्यार से आपको 'लाड' कहते थे जिससे आप लाडजी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। आप बम्बई - घाटकोपर पर एक भाटिया परिवार में बल्लभ संप्रदाय की पूजा करते थे। अपनी पत्नी के निधन के बाद आप वहाँ से जोधपुर लौट आये परन्तु बीच में नासिक में भजन-कीर्तन के लिये चले गये। जोधपुर में एकलिंग महादेव के मन्दिर में रहने लगे। फिर वनजी महाराज के आश्रम में वनजी महाराज की सेवा करने लगे। आप पंचकेशी रखते थे। वनजी महाराज के निधन के बाद आप बम्बई चले गये और वहां से काशी चले गये। काशी में आपने दण्डी स्वामी की दीक्षा ली और आप 'लक्ष्मणाश्रम' के नाम से पुकारे जाने

लगे। आपने नागौर में धर्मशाला में निवास किया। अन्त में जोधपुर में भूतनाथ के मन्दिर में समाधि ली। आपका साहित्य कोई उपलब्ध नहीं है।

(15) वेदान्त भूषण बदरीदासजी महाराज :- (बदरीदास पुरोहित) आप वनजी महाराज के भाई कालूरामजी के पुत्र थे। आपका जन्म सं. 1944 में हुआ था। आपने धर्मशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, स्मृति, गीता आदि का अध्ययन किया और समाज की आज्ञा पाकर 'पुष्करणा ब्राह्मण' मासिक पत्र का जोधपुर में प्रकाशन किया। 'राजपूताना पुष्टिकर कांफ्रेंस' जोधपुर के समय सं. 1978 में 'षोडश-सँस्कार' नामक पुस्तक लिखकर प्रचारित की। सुमेर पुष्टिकर स्कूल-भवन में सरस्वती मन्दिर के पास 'वेद-भवन' नामक कमरा बनवाकर धार्मिक शिक्षा प्रारम्भ की। अ.भा.सनातन धर्म प्रचारिणी सभा ने आपको 'वेदान्तभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया। आपके प्रकाशित ग्रन्थों में 'योगवाशिष्ठ रामायण (दोहा-चौपाई एवं 'आन्हिक-कर्मप्रयोग है।)

(16) जगन्नाथजी महाराजः- आपके पूर्वज मल्हार फलौदी से जोधपुर आये थे। आपका जन्म सं. 1947 में हुआ। आप हिन्दी, अंग्रेजी और सँस्कृत के विद्वान् थे। रुद्राष्टाध्यायी एवं यजुर्वेद-संहिता अग्निहोत्री शिवराज महाराज से सीखी थी। आपने रेल्वे वर्कशॉप में क्लर्क की नौकरी करते थे परन्तु दोपहर के 12 बजे नियमित संध्या करते थे। जलती बन्नाटी को फिराने में सिद्धहस्त थे। जब फतहगढ़ी आपका आना जाना शुरु हुआ तब वहाँ आपने आसन व प्राणायाम सीखा और पैरों में काठ के खड़ाऊँ धारण कर लिये। सं. 1973 में आप हरिद्वार गये और वहाँ वस्त्र त्याग दिये। सं. 1980 में आप सात्विक हो गये। आपने शिवदत्तजी महाराज के गीतों को गा-गाकर प्रचार किया। संवत् 1992 में आप अणन्तरामजी महाराज की जोगमाया मन्दिर की गद्दी पर बैठे। साधना और तप के कारण आपको 'ऋषिराज' कहा जाने लगा।

(17) अचलनाथजी महाराज :- (अचलनाथ शंकराणी बोहरा) आपका जन्म वि.सं. 1947 में जोधपुर में हुआ। आप हिन्दी, अंग्रेजी, सँस्कृत और उर्दू के पण्डित थे। रेल्वे में नौकरी करते खाटू स्टेशन पर एक फकीर ने आपको कहा कि "खुदा मिल सकता है और इस वाक्मंत्र से आपका मन बदल गया। आप नौकरी छोड़कर शिवदत्तजी महाराज के आश्रम में चले गये। जयन्ती-दुर्ग में सिद्धपुर के अग्निहोत्री की दीक्षा ली। सोमनाथ मन्दिर में कुण्ड बनाकर हवन करते और मुमुक्षु मण्डली का संचालन किया और सनातन धर्म का प्रचार किया। आपका स्मारक सोमनाथ मन्दिर गढ़ी के पास बनाया गया।

(18) श्री गणेशजी महाराजः- आप सेवक पुरोहित परिवार में वि.सं. 1947 में जन्मे। सँस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी पढ़कर आपने रेल्वे में नौकरी कर ली- परन्तु

सेवा-निवृत्ति ने आपको दुनिया से अलग कर दिया और सं. 1985 में महात्मा अंजनेश्वरजी (बाईजी महाराज) से दीक्षा ले ली और तपस्वी-जीवन बिताना चालू कर दिया। सिवाणची द्वार के बाहर श्मशान के पास पहाड़ी पर तपस्या करने लगे और 13 वर्ष तक घोर तप किया। आपने योगाभ्यास किया और भजनों में योगमुद्राओं का वर्णन किया परन्तु सबमें अंजनेश्वरजी का ही गुणगान किया। आपकी पत्नी ने आपके आश्रम 'कुटिया' में सत्संग व भजन संकीर्तन का क्रम चलाये रखा। आपके आश्रम में दुर्गापूजा होती है व रुद्राष्टाध्यायी का पाठ होता रहता है। आपके दादा जमनजी और पिताजी श्री गौतमजी ने भी, सन्तों का ही जीवन व्यतीत करते हुए अपना जीवन सफल किया और गणेशजी महाराज जैसा सन्त जोधपुर को दिया।

(19) दण्डीस्वामी वामनानन्द सरस्वती :- (प्रभुलालजी हर्ष) आप लोढ़ों की गली में वि.सं. 1948 में जन्मे। आपका घर वृत्तिनारायण, बलदेव ऋषि, दण्डीस्वामी ज्ञानानन्दजी के पास था। अतः आप पर भजनों का प्रभाव पड़ने लगा। आपने प्रसिद्ध ज्योतिषी आईदासजी से दुर्गा-सप्तशती का पाठ सीखा। रेलवे में नौकरी करते जब आप ध्यान में मग्न थे, तब अँग्रेज अफसर ने आपको स्टेशन पर बुलाया पर आपने साधना नहीं छोड़ी- तब नौकरी ही छोड़ी और पंजाब में एक शहर में नवरात्रि पर दुर्गापाठ किया। होम की भेंट के लिये अपने पास कुछ न होने से अपनी जीभ का अग्रभाग काटकर यज्ञाग्नि में भेंट कर दिया। अग्निहोत्री शिवराजजी हर्ष की भस्मी लेकर जब आप हरिद्वार गये तो वहाँ से काशी चले गये और वहीं श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य के शिष्य बनकर सन्यास ले लिया- तब आपका नाम 'वामनानन्द सरस्वती' हो गया। आप नरसिंहगढ़ आश्रम में आकर रहने लगे यहाँ मधुकरी से भोजन पाते। इस प्रकार दण्डी-स्वामी के रूप में शिवोपासना का उपदेश लोगों को दिया।

(20) श्री कलजी महाराज :- (मुकुन्ददत्त कल्ला) आपका जन्म वि.सं. 1949 को कल्ला परिवार में हुआ। कहते हैं कि महाराज सरदार सिंह जी का शवयात्रा देखने से आपको वैराग्य उमड़ आया- आप तुलसीदासजी महाराज की सेवा में थे परन्तु वैराग्य के कारण पंचकुण्ड चले गये। फिर देवरा महादेवजी में रहे। यहाँ गायत्री-पुरश्चरण किये। अन्त में चांदपोलबाहर सिघाड़ियों की बारी के पास आश्रम बना कर तपस्या करने लगे। पहले नीम के पेड़ के नीचे ही निवास करते थे। आप नवरात्रि के पश्चात् होम करते थे। आपने भोजन त्याग दिया था और अकेले ही आश्रम में रहते, किसी से बातें नहीं करते थे। ये सच्चे सन्त थे।

इस प्रकार जोधपुर पुष्टिकर समाज के सन्तों की विवरणिका बहुत लम्बी है- अग्निहोत्री विष्णुदत्तजी सेवगजी महाराज और श्री हरिहरजी महाराज (दिल्ली) भी इसी समाज की देन हैं- सम्प्रति रामऋषि पुरुषोत्तमजी महाराज आज भी भारत में सन्त साधना के लिये प्रसिद्ध हैं। इन सन्तों के व्यक्तित्व से ही जोधपुर में आध्यात्मिक चेतना आज भी विद्यमान है- संत-साहित्य तो सन्तों के श्रेष्ठ व्यक्तित्त्व का दर्पण है।

❑❑

बागड़ में सन्त-परम्परा, निष्कलंक-सम्प्रदाय और उसके उत्तराधिकारी गादिपति-आचार्य

— डॉ. एल.डी. जोशी

भारतीय सन्त-परम्परा में मूलतः कोई भेद नहीं है। बेशक सम्प्रदाय-विशेष की रीति-नीति में अन्तर दिखलाई देता है। ईश्वर की उपासना करते हुए सन्त-भक्तों के उद्‌गार, साहित्य की अमर-निधि बने हैं। सगुण भक्ति हो या निर्गुण भक्ति, बाह्याचरण की भक्ति एवं अंतर्दर्शन की भक्ति का आधार अभेद है। कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, मावजी, गवरीबाई सबका लक्ष्य एक है और सभी ने अलख देखने का प्रयत्न किया है। भक्तिभाव के पद, गीत, भजन, वाणी का रटन संगीतमय ताल-लय की धुन पर अभिव्यक्त किया है। दार्शनिक पृष्ठभूमि सब में है, वेदान्त का अद्वैतभाव, भागवत का अवतारवाद, गीता का कर्मवाद।

सभी में किसी न किसी अंश में रहा ही है। सगुणमार्गी भी अन्त में निर्गुणी दिखाई देते हैं। मीराँ और गवरीबाई की सगुण भक्ति ज्ञानयोग से अन्तर्मुखी बनकर ब्रह्मलीन बनी हैं। पुष्टिमार्ग और अष्टछाप के कवि भक्त होने से, काव्य रचना करते हुए अपने ईष्ट की उपासना करते हुए बाह्य से अंतर की ओर अग्रसर हुए हैं। क्योंकि लक्ष्य एक ही है। आत्मा का साक्षात्कार परब्रह्म की प्राप्ति का प्रयत्न। क्रिया प्रक्रिया बाह्य पक्ष है, सिद्धि अनुभूति अन्तर पक्ष है। चैतन्य महाप्रभु भी उसके उदाहरण रूप हैं। प्रेम-लक्षणा माधुर्यभाव की भक्ति विकसित रूप में वेदान्त-दर्शन की अनुभूति रूप दिखती है। संत-कबीर, संत-तुलसी, नरसिंह मेहता सभी निर्गुण-ब्रह्म को पाने को प्रयत्नशील रहे हैं। क्रिया, बाह्यचार की या अन्तर, चिन्तन की रही हो।

डूंगरपुर, बांसवाड़ा का बागड़ क्षेत्र आजादी के बाद राजस्थान का अंग बना है, परन्तु इसका सामाजिक आर्थिक और साँस्कृतिक संबंध गुजरात के अधिक निकट रहा है। अतः संत परम्परा भी गुजरात के अनुरूप रही है। वेद, उपनिषद् भागवत, गीता से उद्‌भूत ज्ञान और भक्तिवाणी भारतीय संत-परम्परा की ही अविच्छिन्न कड़ी है जो संत-भक्त-कवियों की भावधारा में पुष्ट होती हुई गुजरात के नरसिंह युग से बागड़

में संत मावजी, संत दुर्लभरामजी, भक्त संत कवयित्री गवरीबाई आदि में उभर कर प्रकट हुई है।

बागड़ हजार वर्षों से अधिक पुराना प्रदेश है। नामोल्लेख और इतिहास इतना ही पुराना है। सूर्य, शक्ति और शिव की उपासना बहुत प्राचीनकाल से होती रही है और ऐसे स्थान वसुंदरमाता, विजवामाता, आशापुरी, त्रिपुरासुन्दरी, शीतलामाता आदि आज भी प्रसिद्ध हैं, परन्तु 15वीं सदी से संतों व भक्तों का सूत्र उपलब्ध होता है। भक्त वेंणाजी वि.सं. 1591 का ताम्रपत्र (नादिया-जिला डूंगरपुर) के समय से रात्रि में रामरास और प्रातः से दोपहर तक उसी का कृष्णरास में मंचन होता रहा है। 16वीं और 17वीं सदी में जैन संत साधु और उनकी रचनाएं हुई हैं। 18वीं 19वीं शती को तो बागड़ में संत-परम्परा का भक्तिकाल कह सकते हैं।

सन्त मावजी (वि.सं. 1771-1801), सन्त दुर्लभराम जी (वि.सं.-1753-1793), और संत गवरीवाई (वि.सं. 1815-1865) की भक्ति की वाणी में सगुण एवं निर्गुण-भाव धारा की उत्तम अभिव्यक्ति हुई है। मावजी के चार चौपड़े आज भी उपलब्ध हैं। मावजी दुर्लभरामजी की रचनाएं मौजूद हैं और गवरी कीर्तनमाला प्रकाशित है। भाषा का रूप भी द्रष्टव्य है। स्थानीय लोकभाषा में गुजराती, मेवाड़ी, ब्रज और हिन्दी का मिश्रण मिलता है। ये संत, भक्त कृष्ण के उपासक हैं। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश या किसी अन्य देवी-देवता का कही विरोध नहीं है। राम और श्याम को एक ही मूलतत्त्व का विभिन्न रूप माना हैं।

इस बीसवीं शती में भील-भगत गोविन्द गुरु, हुए हैं, उनके भजन और वाणी लोक में व्यापक हैं। क्रान्ति द्रष्टा गोविन्द गुरु, भक्त संत के अलावा राजनीतिक और सामाजिक जागरण के भी नायक रहे हैं। ये वर्तमान युग के इतिहास पुरुष हैं। उनकी वाणी की पुस्तिका भी प्रकाशित है।

बागड़ में केशवाश्रमजी, भैरवानन्दजी, अबोभगत परमहंसजी, ज्वालागिरीजी, सूरमलदासजी, बालकनाथजी, सूर्यदासजी, भुवनेश्वरजी, मोहनानंदजी, रघुनन्दनदासजी, संत द्वारिकादास, उदासी महाराज, नाथजी महाराज, दास मुकनदास ज़ेता, देवा पंडित, चन्द्रसखी आदि प्रसिद्ध संत भक्त हुए हैं, जिन्होंने उपदेश एवं वाणी दी हैं।

आज भी बागड़ में लोकभजन और संतवाणी डायरों में सुनी जाती है, जो वेद उपनिषद से चली आने वाली भारतीय-सन्त-परम्परा का ही अविच्छिन्न स्रोत है।

सन्त मावजी महाराज की वाणी चार बड़े ग्रंथों में देखने जैसी है:- हरिमंदिर में :- (1) प्रेमसागर- डूंगरपुर जिले के पूंजपुर गाँव में है, (2) मेघसागर- डूंगरपुर जिले के साबला गाँव में है, (3) रतनसागर- बाँसवाड़ा में सूथारवाड़ा हरिमंदिर में हैं, (4) श्यामसागर- उदयपुर मेवाड़ के शेषपुर के हरिमन्दिर में हैं।

पांचवा ग्रंथ 'अनन्तसागर' कहा जाता है जिसे बाजीराव पेशवा ले गया ऐसा माना जाता है। इन ग्रंथों में भविष्यवाणी, गोपीकृष्ण-संवाद श्री कृष्णकी महारासलीला आदि हैं। बागड़ में पिछड़ापन अधिक था, प्रजा शोषित, उत्पीड़ित और अंधकारपूर्ण जीवन में थी। संत मावजी ने योग-साधना की, ज्ञानार्जन हुआ और उपदेश वाणी उच्चारी। यही नहीं अस्पृश्य वर्ण की जाति को 'साद' भक्त बनाकर उनकों रासलीला करने का अधिकार दिया जो पिछले 300 वर्षों से बेणेश्वर टापू (सोम - माही - जाखम नदियों के संगम स्थल) पर प्रतिवर्ष माघ शुक्ला पूर्णमासी की रात में होता आ रहा है। रतनसागर ग्रंथ छप चुका है। मावजी और दुर्लभरामजी पर गुजरात विश्वविद्यालय से शोध-कार्य पूर्ण हो चुके हैं।

मावजी महाराज ने निष्कलंक सम्प्रदाय की स्थापना बागड़ में विक्रम की मध्य अठारहवीं शती में की। मानव-मात्र को भक्ति का अधिकार है। प्रेम-लक्षणा-माधुर्य भाव की सेवा-पूजा- अर्चना-स्मरण- भजन-कीर्तन प्रधान निष्कलंक भगवान् की भक्ति प्रदान की। घोड़े पर सवार शंखचक्र-गदा धारण किये हुए विष्णुरूप इष्ट देव की उपासना की जाती है। गादीपति गुरु शिष्यों के कान फूंकते हैं और कंठी बांधकर इस सम्प्रदाय का शिष्य स्वीकार करते हैं। मावजी ने निष्कलंक (पवित्र) जीवन जीने का सन्देश दिया है, यही भक्ति मुक्ति का मार्ग है। भजनकीर्तन, आरती और रासलीला मुख्य हैं। 'साद' लोग सफेद साफा बांधते है। मावबाणी में वेदान्त के अद्वैत दर्शन, भागवत के अवतारवाद एवं गीता के कर्मयोग के सिद्धान्त का समन्वय करके मावजी ने अपने निष्कलंक सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनकी उपासना शुरु की है। वर्गभेद एवं वर्णभेद से रहित यह शुद्ध आनंदमय सरल जीवन जीने का उपदेश देने वाला भक्ति मार्ग है। विष्णुमूर्ति घोड़े पर सवार इनकी इष्ट देव की पूज्य है। उनके आचार्य गादीपति उत्तराधिकारी इस तरह है।

1. मावजी संप्रदायस्थापक संत भक्तयोगी
2. उदियानंदजी (मावजी के पुत्र अल्प मृत्यु)
3. जनपुरुष (उदियानंदजी की पत्नी) (पुरुषवेश में गद्दी पर बैठती थी।
4. शिवानंदजी लीलवासा से गोद

5. पूर्णानंदजी - रोहिड़ा से गोद
6. कलानंदजी - पालोदा से गोद
7. परमानंदजी - नागदला से गोद
8. देवानंदजी - सरोदा से गोद।

9. अच्युतानंदजी (वर्तमान) सरोदा से गोद ये सभी उत्तराधिकारी औदीच्य जाति में से लिये गये हैं। मावजी और उदियानंद जी गृहस्थ थे। नि:पुत्र होने से शिवानंदजी से गोद-परंपरा शुरू हुई।

वागड़ में जितने भी संत हुए हैं, प्राय: सभी का कोई न कोई स्थान रहा है और उनके अनुयायी शिष्य भक्तगण आरती गाते हैं, भजन - पद - वाणी का पाठ होता है और अपनी लोकभाषा में संत, साहित्य की झलक प्रस्तुत होती है। जो हिन्दी भक्ति-साहित्य की निधि एवं भारतीय संत-परम्परा एवं राजस्थानी संत-परम्परा का अंग रूप है।

इन संतों-भक्तों की वाणी का, काव्य का, कला-पक्ष और भावपक्ष का अध्ययन, अनुशीलन हो यह तो अभी भी अपेक्षित है।

❑❑